प्राचीन भारत
Ancient India

Group – B

प्रश्न पत्र - VII

Paper – VII

एम.ए. इतिहास (उत्तरार्द्ध)

M.A. History (Final)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय

रोहतक-124 001

Copyright © 2004, Maharshi Dayanand University, ROHTAK
All Rights Reserved. No part of this publication may be reproduced or stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means; electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the written permission of the copyright holder.

Maharshi Dayanand University
ROHTAK – 124 001

विषय सूची

UNIT -I

अध्याय 1: प्राचीन भारतीय इतिहास के स्रोत 5

अध्याय 2: पुरापाषाण काल 14

अध्याय 3: नवपाषाण कालीन संस्कतियाँ 22

अध्याय 4: हड़प्पा सभ्यता 32

UNIT - II

अध्याय 1: वैदिक सभ्यता 45

अध्याय 2: जनपद एवं महाजनपद 62

अध्याय 3: युनानी आक्रमण 88

अध्याय 4: नन्द वंश (344-322 ई० पू०) 97

UNIT - III

अध्याय 1: शुंग वंश (187-5 ई० पूर्व से 75-3 ई० पूर्व) 118

अध्याय 2: कण्व वंश (75-30 ई० पूर्व) 122

अध्याय 3: हिन्द–युनानी शासक 123

अध्याय 4: शक 127

अध्याय 5: पहलव (पार्थियन या हिन्द पार्थियन) 131

अध्याय 6: सातवाहन राजवंश 133

अध्याय 7: कुषाण वंश तथा उनका प्रशासन 144

अध्याय 8: गणराज्य 151

M.A. History (Final)
Group – B
Paper – VII
Ancient India

M. Marks : 100
Time : 3 Hrs.

Note : 10 questions shall be set in the paper spread over the entire syllabus more or less proportionately, out of which the candidates shall be required to attempt five questions, selecting at least one question from each unit. All question shall carry equal marks.

Unit – I

1. Reconstructing Ancient Indian History:
   Source and Historiographical trends.
2. Stone age hunters and gatherers:
   a) Paleaolithic
   b) Mesolithic cultures
3. Early faming Communities:
   a) Postoralism and incipient farming.
   b) Neolithic and Chalcolithic Village Cultures
4. Harappan Civilization :
   a) Origin and Expansion
   b) Town Planning and Drainage System
   c) Political System
   d) Decline

Unit – II

1. Vedic Civilization:
   a) Beginning and Development
   b) Main Features
   c) Political Organisation and Institutions.
2. Janapadas and Mahajanapadas :
   a) Territorial state's-Monarchical and Republican
   b) Age of Reason and Revolt; Jainism; Budhism; Ajivikism
3. Greek Invasion:
   a) Political condition of India on the eve of invasion of Alexander.
   b) Alexendere invasion and its effects.
4. Towards Empire :
   a) Nandas-Establishment and Expansion.
   b) Mauryan Empire-Formation; Administration; Nature of State; Ashoka's Dhamma; Downfall.

Unit – III

Post Mauryan Development:

1. Sungas
2. Kanvas
3. Indo-Creeks
4. Saka
5. Pahlavas
6. Satvahanas and Western Kshatrapas
7. Kushanas and their adminstration.
8. The Republics
   a) Yaudheyas; b) Kunindas; c) Audambaras

इकाई-I

अध्याय-1

प्राचीन भारतीय इतिहास के स्त्रोत

यह बड़े खेद की बात है कि प्राचीन भारत के इतिहास लेखन के लिए किसी थूसीडाइडस या टैसीटिचस जैसे भारतीय इतिहासकार ने कोई लिखित इतिहास नहीं छोड़ा। ऐसा प्रतीत होता है कि भारत में इतिहास लेखन की कोई परम्परा ही नहीं रही। पुराणों में तो जो घटनाएं घट चुकी हैं उसे भी भविष्यकाल में लिखा है कि इस काल में यह घटना होगी। वस्तुतः इन में इतिहास का बोध एक मजाक सा बन कर रह गया है। यह नहीं है कि इन में हमें कोई ऐतिहासिक चीज प्राप्त नहीं होती। इनके एक भाग में राजवंशावली भी दी गई है। वैसे तो इतिहास की पंचम वेद तक कहा गया है तथा पुराणों में भी इतिहास एक प्रमुख भाग माना गया है परन्तु कल्हण की राजत्रंगिणी से पूर्व भारत में कोई भी ऐसा इतिहासिक ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता जिसके इतिहास को मानने में किसी अन्य साक्ष्य की आवश्यकता न हो।

प्राचीन भारतीय इतिहास को जानने के अनेक साक्ष्य हैं जिनमें पुरातात्त्विक साक्ष्य (Archaeological sources) प्राचीन साहित्य तथा विदेशियों के विवरण इत्यादि प्रमुख हैं।

पुरातात्त्विक साक्ष्य

प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन में पुरातात्त्विक साक्ष्यों का बहुत अधिक महत्त्व है क्योंकि यहां पर कोई ऐतिहासिक ग्रन्थ प्राचीन भारतीय इतिहास के संदर्भ में उपलब्ध ही नहीं है। दूसरे कुछ काल तो ऐसे भी जिस समय लेखन कला का प्रारम्भ ही नहीं हुआ था जैसे पाषाण काल से लेकर चतुर्थ सदी ईसा पूर्व या कुछ ऐसे भी काल है जिन के बारे में अन्य सभी साक्ष्य मौन हैं। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी घटनाएं भी हैं जिनके साहित्यिक प्रमाण तो हैं जो पुरातात्त्विक साक्ष्यों की पुष्ठि बिना कोरी कल्पनाएं ही रह जाती हैं। परन्तु इन साक्ष्यों की सहायता से हमें प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन में काफी सहायता मिलती है। पुरातात्त्विक साक्ष्यों में हम उत्खननों (excavations), स्मारकों (monuments), अभिलेखों (Inscriptions), सिक्के (coins) इत्यादि को रख सकते हैं।

(अ) **उत्खनन एवं सर्वेक्षण :-** पुरातात्त्विक उत्खननों एवं सर्वेक्षणों की सहायता से हमें प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन में काफी मदद मिलती है। पाषाण काल के इतिहास का ज्ञान तो हमें इन्ही साक्ष्यों से होता है। इतना ही नहीं इन्हीं की सहायता से हमें प्राचीन भारतीय सभ्यता के काल की विभिन्न पहलुओं का पता चलता है। मिश्र तथा सुमेर में तो वंशानुगत इतिहास ईसा से कई हजार वर्ष पूर्व से लिखित रुप में मिलना शुरू हो जाता है परन्तु भारत में ऐसा नहीं है। सिन्धु सभ्यता का ज्ञान, उसकी नगर योजना, भवन, स्मारकों, समाजिक आर्थिक जीवन इत्यादि का ज्ञान हमें उत्खननों द्वारा ही होता है। इसके अतिरिक्त आर्यों की संस्कृति जो चित्रित धूसर मदभांड संस्कृति मानी गई है का ज्ञान भी हमें उत्खननों से होता है यद्यपि इसके साहित्यिक साक्ष्य तो उपलब्ध है जो कि काफी बाद में लिपिबद्ध किए जाने के कारण अधिक कारगर नहीं लगते। कुषाण काल में भी कई ऐसे काल हैं जिनके बारे में हमें अधिक ज्ञान उत्खननों से ही हुआ है। कनिष्क पहले हुआ या कुजुल तथा विम कैडफिसस पहले हुआ इसका पता हमें तक्षशिला के उत्खननों से हुआ जहां पर कैडफिससों कें सिक्के निचली परतों में मिले जबकि उपरी परतों में कनिष्क इत्यादि कुषाण राजाओं के सिक्के प्राप्त हुए।

(ब) **अभिलेख :-** प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन में अभिलेखों का बहुत अधिक महत्त्व है जो कि पत्थर, या धातु पर उत्कीर्ण करवाई गई थी। इन पर अधिक विश्वास इस लिए भी अधिक किया जा सकता है कि इनमें किसी प्रकार से छेड़छाड़ नहीं की जा सकती क्योंकि प्रत्येक काल में शब्दों की बनावट अलग प्रकार की थी जो इनके तिथिक्रम में भी सहायक सिद्ध होती है। इसी लिए सबसे विश्वसनीय साक्ष्यों के रुप में इन्हे बिना किसी हिचकिचाहट के प्रयोग में लाया जा सकता है। ब्राह्मी, खरोष्ठी, युनानी अभिलेख प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन में काफी सहायक है। ब्राह्मी तो बाएं से दाएं लिखी जाती थी जबकि खरोष्ठी दाएं से बाएं लिखी जाती थी जिसका प्रयोग अधिकतर उत्तरपश्चिमी भारत में ही सीमित था प्राचीन भातीय इतिहास के राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, प्रशासनिक पहलुओं पर इन अभिलेखों से प्रकाश पड़ता है।

भारत में सबसे प्राचीन अभिलेख अशोक के हैं जो शिलालेख, स्तम्भलेखा, गुहालेख इत्यादि के रुप में उत्कीर्ण हैं। ये लेख अशोक ने स्वयं लिखवाए तथा इनसे हमें तत्कालीन इतिहास का ज्ञान होता है। खरोष्ठी, ब्राह्मी तथा अरेमिक इत्यादि में लिखे

ये लेख अशोक की राजाज्ञाओं घोषणाओं के रुप में हैं। इनसे हमें उसकी धार्मिक नीति, समाज कल्याण के कार्यों, प्रशासनिक कार्यों इत्यादि का विस्तार से पता चलता है। इसके अतिरिक्त कलिंग के युद्ध का विवरण का विस्तार इन्हीं से मिलता है। पूरे साम्राज्य में पाए जाने वाले इन अभिलेखों की प्राप्ति स्थलों से उसके साम्राज्य विस्तार का विस्तार से पता चलता है। कई अभिलेखों में तो दूसरे देशों से सम्बन्धों का भी विवरण मिलता है जो प्राचीन भारतीय इतिहास के तिथिक्रम में भी सहायक सिद्ध होता है। इसी तरह ऐतिहासिक दष्टि से खारवेल का हाथीगुम्फा अभिलेख बहुत महत्त्वपूर्ण है जो खाखेल के काल का इतिहास जानने का एक मात्र साक्ष्य है।

अशोक के बाद के काल के भी बहुत से ऐसे अभिलेख हैं जो ऐतिहासिक दष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं जिनमें हम दक्षिणी अफगानिस्तान से प्राप्त रबताक अभिलेख को रख सकते हैं। इस अभिलेख की सहायता से हमें कुषाणों का प्रारम्भिक इतिहास पता चलता है तथा साथ ही पता चलता है कि सम्राट कनिष्क, कुषाण सम्राट विम कैडफिसस का पुत्र तथा उत्तराधिकारी था इससे पूर्व विद्यवान कैडफिसस ग्रुप के राजाओं को कनिष्क ग्रुप के राजाओं से अलग मानते थे। समुद्रगुप्त का इलाहाबाद अभिलेख समुद्रगुप्त के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण श्रोत (source) है जिससे हमें उसके व्यक्तित्व, विजयों, नीतियों इत्यादि का विस्त्रित वर्णन है। इसके अतिरिक्त चन्द्रगुप्त द्वितीय महरौली स्तम्ब अभिलेख, स्कन्दगुप्त का भीतरी अभिलेख भी महत्त्वपूर्ण हैं। जो कि इस काल के इतिहास के बहुत से अछुते पहलुआं पर प्रकाश डालते हैं। पुष्पभूति (Puspabhuti) वंश का इतिहास जानने के लिए हर्ष का बांसखेडा अभिलेख महत्त्वपूर्ण है। मिहिरभोज की ग्वालियर प्रशस्ति से प्रतिहार राजंवश के इतिहास का ज्ञान होता है। बंगाल के सेनवंश के राजा विक्रमसेन की प्रशस्तियों से भी बहुत से ऐतिहासिक तथ्यों की जानकारी मिलती है। चालुक्यों के इतिहास तथा हर्ष पर उनकी विजय का ज्ञान हमें पुलकेशिन द्वितीय की अैईहोल (Aihole) प्रशक्ति से होती है। इसके अतिरिक्त बहुत सी ताम्रप्रशस्तियों से हमें भूमि दान इत्यादि का पता चलता है। ये सरकारी आााएं दान दी गई भूमि का माप, सीमा, दान की शर्तों तथा बाद के राजाओं द्वारा इन्हें जारी रखने (या चांद तारों के रहने तक) इत्यादि का ज्ञान देती हैं। इन्ही से हमें उस काल में सामन्तवाद के उदय होने का बोध होता है।

सारकारी अभिलेखों, जिन्हे राजाओं के कवियों तथा लेखकों ने उन्हीं की आज्ञा से उत्कीर्ण करवाया, सामान्वत राजाओं की उपलब्धियों एवं व्यक्तित्व इत्यादि का अधिक वर्णन करते हैं। उनकी असफलताओं का नहीं। जैसे हर्ष के किसी अभिलेख में उसकी पुलकशिन द्वितीय द्वारा करारी हार का वर्णन नहीं है। दूसरी ओर बहुत से गैर सरकारी अभिलेख भी हैं जो देवी देवताओं की मूर्तियों, स्मारकों इत्यादि पर लिखवाए गए हैं। इनसे हमें सामाजिक धार्मिक तथा राजनैतिक दशा का पता चलता है इसके अतिरिक्त हमें उस काल की मूर्ति कला धर्म के विकास वास्तुकला इत्यादि का भी ज्ञान होता है। इसी प्रकार इनकी भाषा तथा शैली से भारतीय साहित्य भाषा पर तो प्रकाश पड़ता ही है साथ ही इतिहास का भी ज्ञान होता है।

भारतीय अभिलेखों कें अतिरिक्त कुछ विदेशी लेख भी प्रचीन भारतीय इतिहास लेखन में सहायक है। इनमें बहुत से तो आर्यों के इतिहास पर प्रकाश डालते है। एशिया माइनर के बोगाज कोई अभिलेख (Bogaz-Koi inscription) से पता चलता है कि 1400 ई. पूर्व के आसपास आर्य लोग इस क्षेत्र में रहते थे तथा इससे हमें वैदिक वेदों का भी पता चलता है। इरान में भी कुछ ऐसे अभिलेख मिले हैं जिनसे प्राचीन काल में इरान तथा भारत के पारस्परिक सम्बन्धों पर प्रकाश डालते हैं। डेरियस (522-486ई. पूर्व) के नक्ष–ए–रूस्तम अभिलेख (515ई. पू.) से हमें हिन्दु या उत्तरी पंजाब के उसके राज्य में होने का प्रमाण मिलता है। इसके अतिरिक्त मिश्र में एल–अमरना में बहुत सी मिट्टी की मुहरे प्राप्त हुई हैं जिनमें बेबिलोनिया के शासकों के नाम हैं। इनमें से कुछ भारतीयों जैसे नाम लगते हैं। इससे हमें इन्हें आर्यों से जोड़ सकते हैं तथा उनके भारत में आने से पूर्व के स्थानों का ज्ञान इनसे होता है। कुछ लेख सुदूर पूर्व में भी मिले हैं जो भारत के इन देशों से राजनैतिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्धों के द्योतक हैं।

(स) सिक्के :- प्राचीन भारतीय इतिहास के स्त्रोत के रुप में सिक्कों का अपना विशेष महत्त्व है। इनसे न केवल हमें राजनैतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, समाजिक, प्रशासनिक, धार्मिक इत्यादि जानकारी मिलती हैं अपितु कुछ काल तो ऐसे भी हैं जिनके बारे में जानने के साक्ष्य केवल सिक्के ही हैं। वैसे तो यह माना जाता है कि सिक्कों से केवल पूर्व विदित तथ्यों की प्रमाणिकता ही मिलती है परन्तु प्राचीन भारतीय इतिहास में ऐसा नहीं है। क्योंकि प्राचीन भारतीय इतिहास के कई काल ऐसे हैं जिन्हे पहले अन्धकारमयी युग (dark period) कहा जाता था परन्तु अब सिक्कों इत्यादि की सहायता से हमें उन कालों के इतिहास का भी ज्ञान होता है। भारत के, विशेषकर उत्तरपश्चिमी भारत के, अनेक भागों पर द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व से हिन्द युनानी शासकों का राज्य रहा है। अन्य साक्ष्यों से हमें केवल 3-4 राजाओं का ही नाम मिलता है परन्तु सिक्कों के मिलने से हमें 40 के लगभग राजाओं, रानियों, राजकुमारों इत्यादि के होने का पता चलता है जिन्होने एक के बाद एक या एक ही समय में

अलग–2 क्षेत्रों पर राज्य किया। ये सभी राजा दो प्रमुख राजवंशों युथीडीमस तथा युक्रेटाइडस से सम्बन्धित थे। सिक्कों पर पाए गए नामों चिन्हों (monograms) की सहायता से इन दोनों वंशों के राजाओं के अलग–2 कर कालक्रम के आधार पर रखा जा सकता है।

हिन्द युनानी शासकों के बाद आए शक (Sakas) शासकों में ऐजिज (Azes-I) तथा द्वितीय, ऐजीलिसस (Azilises) के राज्य काल तथा उनके राज्य विस्तार का हमें इनके सिक्कों से ही ज्ञान होता है। इसी तरह पहलव राजा गोण्डोफरनस के उत्तराधिकारियों के बारे में जानने का केवल साधन मुद्राएं ही है। प्रारम्भिक कुषाणों में कुजुल कैडफिसस, सोटरमैगस तथा कुछ हद तक विम कैडफिसस के शासन का पता हमें उनके द्वारा चलाए गए सिक्कों से लगता है। बाद के कुषाण राजाओं के बारे में तथा किदार कुषाण इत्यादि राजवंशों का इतिहास सिक्कों के आधार पर ही बनाया गया है।

गुप्त काल के बारे में तो हमें बहुत से साहित्यिक एवं अन्य साक्ष्य मिलते हैं परन्तु इस राजवंश के भी कई ऐसे शासक हैं जिनका पता हमें केवल उनके सिक्कों द्वारा ही लगता है जैसे समुद्रगुप्त से पूर्व उसके बड़े भाई (?) ने कुछ वर्षों तक राज्य किया जिसका नाम किसी गुप्त अभिलेख में नहीं है तथा न ही कोई अन्य साक्ष्य उस पर प्रकाश डालता है। काच नामक राजा के राज्य का पता हमें उसके चक्रध्वज प्रकार के सिक्कों से लगता है जिस पर काच नाम लिखा है। इसी प्रकार राम गुप्त की ऐतिहासिकता के प्रमाण भी हमें उसके चलाए सिक्कों से ही मिलते हैं। यदि यह सिक्के न होते हो देवी चन्द्रगुप्त में वर्णित गुप्त राजा रामगुपत, उसका शकों से हारना, चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा शक नरेश का वध इत्यादि महज कोरी कल्पनाए ही रह जाती।

राजवंशों के अतिरिक्त भारत में बहुत से गणराज्य भी थे जिनमें यौधेय, कुणिन्द, औदुम्बर, शिबी, मालवा, काढ, क्षुद्रक, अग्र इत्यादि भी थे। इनमें से अधिकतर गणों का ज्ञान हमें उनके सिक्कों से ही होता है तथा इन्हीं से हमें उनके साम्राज्य क्षेत्र इत्यादि का भी पता चलता है उनकी शासन पद्दति का ज्ञान धार्मिक आस्थाएं इत्यादि पर भी सिक्कों पर बने (चिन्हों तथा तस्वीरों से पता चलता है।

(द) **स्मारक :-** सिक्कों तथा अभिलेखों के अतिरिक्त और भी अन्य पुरातन चीजें है जिससे उस काल की सामाजिक आर्थिक धार्मिक एवं सांस्कृतिक स्थिति का पता चलता है। इनमें हम पुराने भवनों, भवनाशेषों, मूर्तियों, मदभांडों इत्यादि को रख सकते हैं। इन से हमें कला तथा वास्तुकला का इतिहास जानने में सहायता मिलती है चाहे राजनैतिक दष्टि से इनका महत्त्व अधिक नहीं हो परन्तु अन्य बहुत से पहलुओं पर इन से प्रकाश पड़ता है। प्राचीन भारत के इतिहास से सम्बन्धित स्मारकों को हम दो भागों में बांट सकते हैं पहला देसी तथा अन्य देशों के स्मारक।

हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ों के उत्खननों से बहुत से बड़े–बड़े भवनों एवं स्मारकों के अवशेष मिले जैसे श्नानागार, अन्नागार, सभागार इत्यादि इनसे हमें उस काल की धार्मिक आर्थिक समाजिक एवं प्रशासनिक स्थिति का पता चलता है। धौलावीरा (गुजरात) से सिन्धु सभ्यता कालीन पालिशदार स्तम्भों के मिलने से हमें उस काल के भवनों के निर्माण सम्बन्धि प्रमाण तो मिलते ही हैं साथ ही यह अवधारणा का भी खण्डन हो जाता है कि भारत में ऐसी कला अशोक के काल मे परशिया से सम्पर्क से आई। इसी तरह सिन्धु सभ्यता के स्थलों से प्राप्त कला की वस्तुएं इस बात को भी नकारती हैं कि भारतीय कला युनानी कला से निम्नस्तर की है। इसके अतिरिक्त सारनाथ से प्राप्त गंटाकार स्तम्भ मस्तक सर्वोच्च नक्काशाी का प्रमाण है जिसकी समता का प्रचीन विश्व में कोई दूसरा प्रमाण नहीं है ऐसा सर जॉन मार्शल का विचार है। झांसी के देवगढ़ के पत्थर के मन्दिर कानपुर के भीतर गांव के इंटों के मन्दिर, कोर्णाक का सूर्य मन्दिर, खजुराहों के मन्दिर वास्तुकला के अद्भुत नमूने हैं। इसके अतिरिक्त अजंता, एलोरा की गुफाओं की चित्रकला भारत की एक समद्ध कला के प्रमाण हैं। इन सभी से न केवल कला, वास्तुकला का ही ज्ञान होता है अपितु उस काल के समाज के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालते हैं। जिनमें कुछ के बारे में साहित्य या अन्य साक्ष्यों से कोई जानकारी नहीं मिलती जैसे भीमबेटका की गुफाओं में मिली चित्रकारी पाषाण कालीन मानव के जीवन के विभिन्न पहलुओं की जानकारी मिलती है। दिल्ली में महरौली का स्तम्भ गुप्त काल में उन्नत धातुकला का प्रमाण है। इसके अतिरिक्त हजारों की संख्यां में भारत में अन्य प्राचीन स्मारक इत्यादि भी उपलब्ध हैं।

(च) **विदेशी स्मारक :-** भारत के अतिरिक्त विदेशों में भी बहुत से स्मारक पाए जाते हैं जो भारत से सम्बन्धित हैं जावा और कम्बोज में प्राप्त स्मारक देवालय इत्यादि ने केवल भारत के इन देशों से राजनैतिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्धों के द्योतक हैं बल्कि इनसे भारतीय कला पर विशेष प्रकाश पड़ता है। मलाया तथा बाली द्वीप मे भी देवालय, प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं जिनसे वहां भारतीय संस्कृति के प्रसार का पता चलता है।

प्राचीन स्मारकों से तिथिक्रम का ज्ञान भी हो जाता है क्योंकि एक विशेषकाल में एक अलग प्रकार की कला प्रवतियां पाई जाती हैं क्योंकि एक युग में इमारतों की बनावट मिलती है जिससे उसी प्रकार की कला, वास्तुकला इत्यादि की तिथि निर्धारण में सहायता मिलती है। उदाहरण के तौर पर खोखराकोट (रोहतक) में एक प्राचीन मन्दिर के अवशेष मिले जो कानपुर के भीतरगांव के गुप्त मन्दिर जैसी नक्काई वाली इंटों जैसी इंटों से बना था। इससे हमे यहां से प्राप्त उस मन्दिर का काल गुप्त

काल आंक सकते हैं। इसी आधार पर यदि लाल पत्थर में सफेद कणों वाले किसी स्तम्भ या मूर्ति को देखते हैं तो हमें अनायास ही मथुरा कला का आभास हो जाता है।

साहित्यिक साधन

प्राचीन भारत में किसी ऐतिहासिक ग्रन्थ की रचना के अभाव में हमें साहित्यिक साक्ष्यों का भी सहारा लेना पड़ता है। जैसा कि माना जाता है कि साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब है तथा समाज में जो भी कुछ होता है या घटित होता है वह साहित्य में अवश्य आ जाता है। प्राचीन भारत में ऐतिहास का बोद्ध तो था इसी लिए वैदिक साहित्य में बहुत से ऋषियों, अध्यापकों इत्यादि की क्रमबद्ध सूचियां दी गई हैं। इसके अतिरिक्त वैदिक तथा उत्तरवैदिक साहित्य, पुराणों इत्यादि में राजाओं की वंशावलियां भी दी गई हैं यद्यपि इनमें राजाओं की स्तुति अधिक मिलती है। ह्यूनत्सांग ने अपने भारत प्रवास के दौरान पाया कि भारत के विभिन्न भागों में अपने–2 राजकीय रिकार्ड रखे जाते थे जिसमें सभी अच्छी तथा बुरी घटनाओं का वर्णन किया जाता था। इसके बाद भी यह प्रथा सदियों तक चलती रही। इससे हमें पता चलता है कि भारतीय इतिहास को जानने के साक्ष्य तो बहुत अधिक है परन्तु वे ऐतिहासिक ग्रन्थ इत्यादि न होकर अधिकतर धार्मिक ग्रन्थ हैं तथा कुछ गैर धार्मिक ग्रन्थ भी हैं जिनमें व्याकारण, ज्यातिष इत्यादि के ग्रन्थ सम्मिलित हैं। इसके अतिरिक्त राजाओं के दरबारों में भाट, चारण तथा अन्य अधिकारी भी घटनाओं का रिकार्ड रखते थे। प्राचीन धार्मिक ग्रन्थ, वेद, वेदांग, ब्राह्मण ग्रन्थ, उपनिषद, पुराण इत्यादि में महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध है जिनका विशलेषण एवं समीक्षा कर इतिहास का निर्माण किया जा सकता है।

धार्मिक साहित्य

प्राचीन भारतीय साहित्य में अधिकतर धार्मिक ग्रन्थों को ही लिया जा सकता है यद्यपि अधिकतर ये धर्म से सम्बन्धित थे परन्तु इनमें जहां तहां इतिहासिक घटनाओं का वर्णन भी है। पर कोई भी ग्रन्थ ऐसा नहीं है जिसके आधार पर क्रमबद्ध इतिहास का पूर्ण ज्ञान हो सके। ब्राह्मण, बौद्ध, जैन तथा अन्य सम्प्रदायों ने अपने–2 ग्रन्थों में पथक एवं स्वतन्त्र रुप से लिखा। कई बार तो इनमें एक ही समय की घटनाओं को अलग–2 रुप से लिखा जो कि उनके धार्मिक दष्टिकोण के कारण है।

वैदिक साहित्य :- भारत के प्राचीनत्तम ग्रन्थों में वैदिक साहित्य ही है तथा इनमें ऋग्वेद सबसे प्राचीन है। इसके अतिरिक्त इतिहास ही दष्टि से अथर्ववेद का महत्त्व, सामवेद तथा यजुर्वेद से अधिक है। ऋग्वेद से हमें आर्यों के प्रसार, उनके आपसी संघषों, दूसरे अनार्यों से संघर्षो के साथ उस काल के भूगोल, राजनैतिक स्थिति, सामाजिक जीवन, आर्थिक तथा धार्मिक जीवन का तो प्रकाश पड़ता ही है साथ ही राज्य की संरचना उसके स्वरुप, प्रशासन इत्यादि सम्बन्धी भी ज्ञान प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त अथर्ववेद में आर्यों की सांस्कृतिक प्रगति के विविध रुपों का इतिहास प्रस्तुत किया गया है। वेदों के बाद ब्राह्मण ग्रन्थों को रखा जा सकता है। यद्यपि ये वैदिक मंत्रों के प्रयोग, यज्ञों इत्यादि से अधिक सम्बन्धित है परन्तु स्थान स्थान पर हमें सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन का संदर्भ भी मिल जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में ऐतरेय, शतपथ, गोपथ, तांडय, पंचविंश इत्यादि का नाम प्रमुख है जो कि विशेष रुप से इतिहास के लिए उपयोगी है। ब्राह्मणों के अन्तिम भाग आरण्यकों में यद्यपि दाशर्निक प्रश्नों पर विचार किया गया है परन्तु बहदआरण्यक इत्यादि से तो हमें इतिहास पर काफी संदर्भ मिलते हैं। वैदिक साहित्य के अन्तिम चरण में हम उपनिषदों को रख सकते हैं। इनमें ईश, केन, कंठ, तैत्तरीप, छान्दोग्य इत्यादि प्रमुख ग्रन्थ हैं जो कि इस काल के समाज के ज्ञान के साधन हैं।

सूत्र साहित्य

वैदिक साहित्य के बाद सूत्र साहित्य को रखा जाता है जो तीन प्रकार के हैं। (1) कल्प सूत्र (2) गह्य सूत्र तथा धर्म सूत्र। कल्प सूत्र में तो यज्ञ विधान आदि वर्णन है, गह्यसूत्र में गहस्थ से सम्बन्धित संस्कारों, कर्मकाण्डों इत्यादि का वर्णन है। इन दोनों से हमें सामाजिक एवं धार्मिक जीवन का पता चलता है। धर्मसूत्रों में तो राजनीतिक वैधानिक एवं सामाजिक व्यवस्था दी गई है तथा इतिहास की दष्टि से ये अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इसके बाद वेदागों को रखा जाता है जिमें शिक्षा, कल्प, निरूक्त, छन्द एवं ज्योतिष छः भाग हैं। इन वेदांगों में भी जहां तहां ऐतिहासिक संदर्भ मिल जाते हैं।

महाकाव्य

महाकाव्यों में रामायण एवं महाभारत आते हैं। इनकी तिथियों के बारे में विद्यवानों में यद्यपि मतभेद है तथापि इनका ऐतिहासिक महत्त्व बहुत अधिक है। रामायण का काल महाभारत से पहले का है तथा महाभारत का युद्ध विभिन्न विद्यवान 1500-1000 ई. पूर्व रखते हैं। पुरातात्त्विक साक्ष्यों के आधार पर महाभारत को चित्रित धूसर मदभांड संस्कृति के साथ जोड़ा जाता है तथा राज्यवंशावलियों तथा राजाओं की गणना तथा उनके सामान्य राज्यकाल को जोड़ने से भी कम से कम 1000 ई. पूर्व का काल इस महायुद्ध का आंका जा सकता है जहां रामायण की कहानी में कोशलों तथा विदेहों का वर्णन है जो कि आधुनिक अवध तथा बिहार

क्षेत्र के राज्य थे। दूसरी तरफ महाभारत में कौरवों तथा पांडवों के बीच युद्ध में देश के कोने–2 से राजा आए थे। इन में से अधिकतर ऐतिहासिक राज्य राजा तथा गणराज्य इत्यादि थे। इन दोनों महाकाव्यों से उस काल की राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक जीवन पर प्रकाश पड़ता है।

पुराण

महाकाव्यों कें बाद पुराणों का काल है जो कि किसी निश्चित काल में नहीं लिखे गए। इन्हें ऐतिहासिक दष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इनमें प्रमुख 18 पुराण हैं जो अलग–2 समय की जानकारी हमें प्रदान करते हैं जैसे विष्णु पुराण से मौर्य राजवंश तथा मत्स्य पुराण से दक्षिण के आन्ध्र राजवंश की ऐतिहासिक सामग्री मिलती है। एफ. ई. पारजीटर ने पुराणों में गई राजवंशावलियों के आधार पर न केवल कालक्रम के अनुसार अलग–2 राजवंशों का वर्णन किया है बल्कि उनकी राजनैतिक इतिहास भी लिखा।

बौद्ध साहित्य

बौद्ध साहित्य में ऐतिहासिक सामग्री काफी अधिक है। ई. सा से छटी शताब्दी पूर्व के बाद के काल के लिए इनका महत्त्व बहुत अधिक है। बौद्ध साहित्य में जातक, पिटक तथा निकाय इत्यादि हैं जातकों की कहानियों में जहां बुद्ध के पूर्व जन्म की घटनाओं का वर्णन है वहीं इनसे राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक इतिहास के बारे में भी महत्त्वपूर्ण सामग्री मिलती है। बौद्ध साहित्य में त्रिपिटक का विशेष महत्व है इनमें विनय पिटक, सुत्त पिटक तथा अभिधम्म पिटक हैं। सुत्तपिटक में बुद्ध के धार्मिक सिद्धान्तों का वर्णन है इस पिटक के पांच निकाय हैं दीघ निकाय, मज्झिम निकाय, संयुक्त निकाय, अंगुत्तर निकाय तथा खुद्दक निकाय। दूसरे पिटक अविधम्म में वेदान्तिक सिद्धान्तों का वर्णन है तथा विनय पिटक में संघ की संरचना, अनुशासन, दिनचर्या इत्यादि का वर्णन है। प्राचीन गणराज्यों के सिद्धान्त पर आधारित संघ के संविधान से हमें उस काल के गणराज्यों की राज्य व्यवस्था का विस्तार से पता चलता है।

इसके अतिरिक्त अन्य पाली ग्रन्थों में मिलिन्द पन्हों महत्त्व पूर्ण है जो हिन्द युनानी राजा मिनान्डर के नागसेन से प्रश्नों पर आधारित है। उसके काल की महत्त्वपूर्ण जानकारी हमें इस ग्रन्थ से मिलती है। इसके अतिरिक्त दीपवंश तथा महावंश से हमें दक्षिण भारत तथा लंका के इतिहास का वर्णन है तथा लंका से भारत के सम्बन्धों पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश ये ग्रन्थ डालते हैं। यद्यपि इन धार्मिक ग्रन्थों में कपाल–कल्पित और अतिरंजित सामग्री काफी है परन्तु इन से प्राचीन भारतीय इतिहास पर प्रर्याप्त प्रकाश पड़ता है। ई. पूर्व छटी शताब्दी के गणराज्यों, मगध के उत्त्कर्ष, मौर्य काल की जानकारी के लिए बौद्ध ग्रन्थ एक महत्त्वपूर्ण साक्ष्य है इनके अतिरिक्त कुछ टीकाओं जैसे सुमंगल, विलासिनी, सामान्त प्रसादिका, महावंश टीका आदि से भी काफी मात्रा में ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त होती है। पाली के अतिरिक्त बाद के काल में संस्कृत में भी बौद्ध ग्रन्थों की संरचना हुई। इनमें से कुछ ग्रन्थ हीनयान सम्प्रदाय के हैं जबकि अधिकतर महायान सम्प्रदाय से सम्बन्धित हैं। इन ग्रन्थों में महावस्तु, ललितविस्तार, बुद्ध चरित, सौन्दरान्दकाव्य, दिव्यावदान, आर्यमंजुश्री कल्प इत्यादि उल्लेख नीप है।

जैन साहित्य

ब्राह्मण तथा बौद्ध साहित्य के अतिरिक्त जैन साहित्य से भी हमें प्रर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त होती है। कुछ ऐसे ऐतिहासिक तथ्य भी हैं जिनके बारे में ब्राह्मण तथा बौद्ध साक्ष्यों में या तो कोई वर्णन नहीं है यदि है तो बहुत कम है। वहां जैन साक्ष्य काफी सहायता करते हैं जैन आगमों में महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक जानकारी मिलती हैं। कल्पसूत्र, आचारांग सूत्र तथा भद्रबाहु चरित नामक ग्रन्थों से 5 वीं सदी ई. पूर्व से छटी शताब्दियों तक का महत्त्वपूर्ण वर्णन मिलता है। जैन आगम जिमें जैनियों ने अपनी संगीतियों में विभिन्न विचारों एवं परम्पराओं को संग्रहित किया है तथा इन में महत्त्वपूर्ण है बारहअंगों का। इन सब में से ऐतिहासिक सामग्री भी नीहित है। आचारांगसूत्र के दोनों रूकन्धों में जैन भिक्षुओं के आचार–नियमें का वर्णन है जबकि महावीर के जीवन पर प्रकाश डालने वाला संगवतीसुत्र भी महत्त्वपूर्ण है। भगवती सूत्र से भी हमें महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है।

धर्मनिर्पेक्ष साहित्य

धार्मिक साहित्य के अतिरिक्त प्राचीन भारतीय इतिहास की संरचना के लिए गैर धार्मिक साहित्य भी महत्त्वपूर्ण है। इनमें ऐतिहासिक ग्रन्थ, व्याकरण ग्रन्थ, ड्रामें, काव्य हैं, राजाओं की जीवनियां (Biographies) इत्यादि है। पांचवी शताब्दी ई. पूर्व की पाणिनी की अष्टाध्यायी से हमें बहुत से गणराज्यों का वर्णन मिलता है जिनमें यौधेय, कुणिन्द, औदुम्बर, राजन्य, मालव इत्यादि प्रमुख हैं। कौटिल्य का अर्थशास्त्र मौर्य काल के विविध पहलुओं पर प्रकाश डालता है। पतजलि का महाभाष्य द्वितीय सदी ईसा पूर्व का ग्रन्थ है जो जहां तहां ऐतिहासिक संदर्भ भी देता है। शुंग काल के प्रारम्भिक काल की जानकारी में इसका विशेष महत्त्व है।। गुप्त काल के कुछ पहलुओं पर प्रकाश डालने वाला वात्सायन का कामसूत्र भी एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। ऐतिहासिक ग्रन्थों में सबसे महत्त्वपूर्ण कल्हण

की राजत्रन्गिनी है जो बारहवीं सदी के मध्य लिखी गई तथा काश्मीर के इतिहास के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है तथा भारत का पहला ऐतिहासिक ग्रन्थ है जो अरब तथा चीनी इतिहास लेखन परम्परा से प्रभावित है। शुक्रनीतिसार से भी प्राचीन भारत के ऐतिहासिक तत्त्वों की जानकारी मिलती है।

इनके अतिरिक्त बहुत से लेखकों ने अपने राजाओं का जीवन वतान्त लिखा है जिनसे उनके काल के इतिहास पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है यद्यपि अपने स्वामी की प्रशंसा उन्होंने इनमें की है। इन में बाण भट्ट का हर्ष चरित महत्त्वपूर्ण है जो पुष्पभूति राजाओं का इतिहास हर्ष के काल तक वर्णन करता है। वाकपति तथा बिल्हण ने यशोवर्मन तथा चालुक्य वंश के विक्रमादित्य का वर्णन गौडवाहों तथा विक्रमांकदेव चरित में किया है। बंगाल के राजपाल के इतिहास को जानने के लिए राम चरित महत्त्वपूर्ण है। संध्याकार नन्दी का यह ग्रन्थ रामचरित पाल वंश के इतिहास का वर्णन करता है। सेन वंश के इतिहास को आनन्द भट्ट का बल्लाल चरित, पथ्वीराज के काल का वर्णन चन्दबरदाई का पथ्वीराजरासो तथा जयानक का पथ्वीराज विजय, परमार वंश के लिए पदमगुप्त का नवसाहसाक चरित इत्यादि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं।

इसके अतिरिक्त कुछ राजाओं के जीवन चरित भी महत्त्वपूर्ण हैं जिनमें जयसिंह का कुमारपाल चरित, हेमचन्द्र का दव्याश्रयकाव्य, नयचन्द्र का हम्मीरा काव्य, पदमगुप्त का नवसाहशांक चरित, बिल्लाल का भोजप्रबन्ध भी महत्त्वपूर्ण हैं। गुजरात क्षेत्र के इतिहास के बारे में भी हमें बहुत से ग्रन्थ मिलते हैं। इनमें सोमेश्वर कृत रासमाला तथा कीर्ति कौमुदी, अरिसिंह कृत सुकृत–संकीर्तन, मेरूतुंग (Merutunga) का प्रबन्ध–चिन्तामणि, राजशेखर का प्रबन्धकोश, जयसिंह का हम्मीरा मद मर्दन तथा वस्तुपाल तेजःपाल प्रशस्ति, उदयप्रभा की सूर्कनीति–कल्लोलिनी, बालचन्द्र की वसन्त विलास इत्यादि से महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक जानकारी प्राप्त होती है। सिन्ध के इतिहास पर प्रकाश डालने वाला तेहरवीं सदी में लिखा गया चचनामा से अरबों द्वारा सिन्ध की विजय तथा इससे पूर्व के इतिहास को दर्शाता है।

इनके अतिरिक्त बहुत से साहित्यक में भी ऐतिहासिक सामग्री छिपी पड़ी है। कालीदास के अभिज्ञान शाकुन्तलम्, मेघदूत इत्यादि नाटकों भास के नाटकों हर्ष के नाटकों प्रियदर्शिका, नागानन्द तथा रत्नावली इत्यादि भी हमें महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक जानकारी देते है। माल्विकाअग्निमित्रम से शुंग राजा अगिमित्र के इतिहास की जानकारी मिलती है। देवीचन्द्रगुप्तम से रामगुप्त तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय के काल तथा शकों से उनके संघर्ष का वर्णन है इसके अतिरिक्त साहित्य में अन्य बहुत से नाटक, काव्य इत्यादि हैं जो महत्त्वपूर्ण हैं।

विदेशी यात्रियों का विवरण

भारतीय साहित्य के अतिरिक्त बहुत से विदेशी यात्रियों का वर्णन भी भारतीय इतिहास को जानने का महत्त्वपूर्ण साक्ष्य है। इन विदेशियों ने भारत में अपने भ्रमण के दौरान जो देखा उनका वर्णन किया तथा अपने ढ़ंग से यहां की राजनीति, धर्म, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक स्थिति इत्यादि का वर्णन भी किया। इन विदशी लेखकों में इरान के भारत आक्रमण के समय स्काइलैक्स नामक सेनापति का विवरण बहुत रोचक है जिसका वर्णन हमें युनानी दार्शनिक अरस्तु के लेखों से पता चलता है। परन्तु विदेशी यात्रियों की रचनाओं में युनानी तथा चीनी साक्ष्या प्रमुख हैं।

1. **युनानी तथा रोमन लेखक :-** सर्वप्रथम हेरोडोटस ने 5 वीं सदी ई. पूर्व इरानी लेखकों के वर्णनों के आधार पर भारत पर इरानी आक्रमण का वर्णन किया है। इसी तरह टेशियस ने भी भारत से लौट कर गए लोगों के वतान्त के आधार पर एक वर्णन संग्रह किया है चाहे हम उसे इतिहास की दष्टि से अधिक महत्त्व न दें, परन्तु सिकन्दर के आक्रमण के समय से युनानी लेखकों का वर्णन काफी महत्त्वपूर्ण है। सिकन्दर के आक्रमण तथा उसकी विजयों की जानकारी हमें उसके सैनिक अधिकारियों तथा इतिहासकारों से मिलती है इनमें निआर्क, अरिस्टोबुलस उल्लेखनीय हैं। मौर्य काल में सैल्युकस के राजदूत मैगस्थनीज ने अपनी पुस्तक इण्डिका में महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री दी है। पाटलीपुत्र के प्रबन्ध का वर्णन तो उसने बहुत ही सुन्दर ढंग से किया है। इसके अतिरिक्त चन्द्रगुप्त मौर्य काल की पूरी जानकारी इसमें संग्रहित है। मैगस्थनीज के बाद प्लुटार्क, एरियन, प्लिनी, कर्टियस, टाल्मी इत्यादि के विवरण ऐतिहासिक दष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। एक अज्ञात युनानी लेखक द्वारा लिखी पेरीपल्स आफ दी युरेथरीयन सी (Periplus of the Erythrean Sea) में प्रथम शताब्दी में भारतीय बन्दरगाह व्यापार व्यापारिक मार्गों तथा व्यापारिक सामग्री का वर्णन है।

2. **चीनी लेखक :-** चीन से आए बौद्ध तीर्थ यात्रियों ने भी अपने विवरणों में भारत के इतिहास पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला है। चीन का सर्वप्रथम इतिहासकार मासीन था जिसने प्रथम शताब्दी ई. पूर्व में अपने ग्रन्थ में भारत का वर्णन किया है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन काल में आए चीनी यात्री फाह्यान (Fa-hien) न यहां 15 वर्ष रह कर अपनी यात्रा पुस्तक में तत्कालीन भारत के राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक इतिहास पर प्रकाश डाला है। 518 ई. में आए चीनी यात्री शुभयंग का विवरण भी हमें उपलब्ध है परन्तु सातवीं सदी में आए (हर्ष काल) चीनी यात्री ह्यूनत्सांग (Hieun Tsang) का तो बहुत ही उपयोगी है। यह 13 वर्ष रहा तथा यहां के सभी पहलुओं पर उसने अपने ग्रन्थ में लिखा उसके मित्र हाली ने ह्यूनत्सांग की जीवनी लिखी जिसमें

भी उसकी भारत यात्रा तथा यहां के इतिहास पर काफी प्रकाश पड़ता है। इत्सिंग नामक चीनी यात्री सातवीं सदी में आया तथा नालन्दा तथा विक्रमशिला विश्वविद्यालयों में रह अध्ययन किया। उसने भी तत्कालीन भारत के बारे में अपने विवरण में लिखा।

3. **तिब्बत के लेखक :-** तिब्बत के भी कुछ लेखकों ने भी भारत के बारे में वर्णन किया है इनमें लामा तारानाथ का नाम सर्वोपरि है उनके ग्रन्थों कंग्युर तथा तंग्युर में भारत का विवरण है।

4. **अरब लेखक :-** पूर्व मध्य काल में भारत पर अरबों के आक्रमण प्रारम्भ हो गए तथा सर्वप्रथम सिन्ध पर उनका अधिकार हुआ। तब से भारत में अरबों की रूची बदी 1030 ई. में एक महान इतिहासकार अलबरूनी ने अपनी पुस्तक 'तहकीके हिन्द' में तत्कालीन भारत का वर्णन किया इसके अतिरिक्त सुलेमान, अलमसूदी, हसन निजामी, फरिश्ता तथा निजामुद्दीन की रचनाओं में भारतीय इतिहास के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश पड़ता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन भारत के इतिहास को जानने की बहुत सी सामग्री तो हमारे पास उपलब्ध है परन्तु कमी केवल साहित्य से प्राप्त ऐतिहासिक सामग्री के कालक्रम निर्धारण की है। जो इन विस्त्रित अध्ययन शोध तथा अन्य साक्ष्यों से प्रमाणित की जा सकती है।

जैसा कि हमने ऊपर लिखे पष्ठों में देखा है कि भारत में ऐतिहासिक साक्ष्यों की कमी नहीं है परन्तु कमी है तो केवल पूर्णतया ऐतिहासिक ग्रन्थ की। प्राचीन भारतीय लेखकों ने मानवीय क्रियाकलापों के सभी पहलुओं पर लिखा है परन्तु यदि हम आज के परिपेक्ष में इतिहास को देखें तो प्राचीन भारत में सही ढ़ंग से इतिहास लिखा ही नहीं गया। इसका कारण यह था कि प्राचीन भारत के लेखक दैनिक क्रिया कलापों से ऊपर उठ कर लिखते थे। उन्हें राजाओं की लड़ाईयों, लूट पाट, वंशों का प्रारम्भ, बदलाव, सत्ता परिवर्तन, राजवंशों के उतार चढ़ाव में अधिक रूचि नहीं थी। उनके अनुसार मानव जीवन का अन्तिम कार्य या सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य आत्मा को जीवन मरण के बन्धनों से मुक्त करवा निर्वाण प्राप्ति की ओर ले जाना है। समाज के बाकी लोगों के अपने कृषि कार्यो, दैनिक दिनचर्या से समय ही नहीं था कि वे देखें कि आसपास क्या हो रहा है। इसके अतिरिक्त भारत का बाहर के विश्व से सम्पकै नहीं के बराबर ही रहा। समाज के उच्च वर्ग या ब्राह्मण वर्ग के लोग जो पठन–पाठन तथा लेखन इत्यादि करते थे, विदेश यात्रा धर्म के विरूद्ध मानते थे। इसी कारण उन्हें यह पता नहीं चला कि बाहर के विश्व में क्या हो रहा है तथा इस तरह वे कूप मण्डूक होकर रह गए। इस क्रम में केवल भारत ही नहीं रोमनों का भी यही हाल था जिन्हें इतिहास लेखन परम्परा का तब ज्ञान हुआ जब उन्होंने युनान पर विजय प्राप्त की। इसी तरह इरानी इतिहास लेखन परम्परा के सम्पर्क में आने से अरब इतिहास लेखन परम्परा का प्रारम्भ हुआ। परन्तु ऐसा सम्बन्ध भारतीय लेखकों को न मिल सका तथा इसी कारण यहां पर सही ढ़ंग से इतिहास लेखन परम्परा (Historigraphy) का प्रचलन तथा विकास नहीं हो सका।

भारत में सर्वप्रथम सही ढ़ंग से ऐतिहासिक ग्रन्थ काश्मीर के कल्हण (Kalhana) ने लिखा जिसका ग्रन्थ राजत्रन्गिणी (Rajtrangini) है जिसे उन्होंने अरब तथा चीनी ऐतिहासिक परम्पराओं के आधार पर लिखा वैसे तो स्वयं कल्हण उपने आप को एक कवि मानते हैं न कि इतिहासकार तथा उन्होंने अपने ग्रन्थों को एक बहुत सुन्दर शैली के लगभग 8000 संस्कृत श्लोकों में लिखा परन्तु कल्हण को कवि होते भी इतिहास की समझ थी उन्होंने इतिहास लेखन के उपयुक्त साक्ष्यों को चुना तथा उनका सही मुल्यांकन किया। इसके साथ–2 उन्होंने पहले के राजाओं की जारी की हुई बहुत सी प्रशक्तियों, अभिलेखों इत्यादि का प्रयोग भी किया। परन्तु अन्य कवियों की तरह वे भी जहां तहां नसीहते देने से नहीं चूके। उन्होंने स्वयं लिखा है कि उनका इतिहास लेखन राजा का ज्ञान बढ़ाना है तथा नैतिक पाठ पढाना है, दूसरे उनका काश्मीर के प्रति देश प्रेम भी उनकी कृति में झलकता है। इसी कारण उन्होंने लिखा है कि काश्मीर के शासकों ने समस्त भारत को जीता। ललितादित्य मुक्तापीढ को उन्होंने विजये करते हुए समुद्र प्रपन्त पहुँचा दिया। उनके अनुसार अशोक तथा कनिष्क ने काश्मीर से ही राज्य किया। इसके अतिरिक्त उनका कहना था कि एक सशक्त केन्द्रियकृत शासन राजनैतिक स्थिरता के लिए आवश्यक है तथा नौकर शाही प्रगति के रास्ते में बाधा है। इस तरह यह ग्रन्थ एक राजनैतिक प्रापेगण्ड सा प्रतीत होता है जो न केवल राजा के मार्गदर्शन के लिए लिखा गया था अपितु उसकी शक्तियां बढाने का भी पाठ पढाता है। परन्तु इतना कुछ होते हुए भी कल्हण प्राचीन भारत का एक महानत्तम इतिहासकार था। इसके ग्रन्थ के अतिरिक्त अन्य कई ग्रन्थ, राजाओं के चरित, धार्मिक तथा गैर धार्मिक ग्रन्थ भी इतिहास लेखन के साक्ष्य के रूप में जाने जा सकते हैं।

सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी जैसे कुछ विद्वानों का मत है कि प्राचीन भारत में बहुत सा ऐतिहासिक साहित्य था जो समय तथा विदेशी आक्रमणों के कारण नष्ट हो गया। परन्तु यह मत ठीक नहीं प्रतीत होता क्योंकि यदि कोई ऐसा ग्रन्थ रहा होता तो उसके संदर्भ कहीं न कहीं किसी अन्य ग्रन्थ में आवश्यक ही मिलते। यहां यह बता देना सही होगा कि कौटिल्य का अर्थशास्त्र पूर्ण रूप से खो चुका था परन्तु जहां तहां मिले उसके संदर्भो से उसे पुनः पूरा किया जा सका है। आ. सी. मजुमदार का मत है कि प्राचीन भारत में इतिहास की काफी मात्रा में ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध है परन्तु उसे देखने के लिए एक पारखी नजर की जरूरत है। यह ठीक है कि प्राचीन

भारत में हेरोडोटस या थूसीडाइडस (Herodotus & Thucydides) इत्यादि की तरह तो इतिहास नहीं लिखा गया परन्तु भारतीय इतिहासकारों का अपना एक ढंग था। जैसे वे घटित हुई घटनाओं को आने वाली घटनाओं की भविष्यवाणी के रूप में या घटित हुई घटना को भविष्य के फार्मूले से लिखते थे। कभी–2 तो इन ऐतिहासिक घटनाओं में मिथ्या (Mythology) को भी जोड़ देते थे। इसी कारण पश्चिमी विद्यवान उन साक्ष्यों को नकार सा ही देते हैं। परन्तु इन अतिश्योक्तियों को निकाल कर विशुद्ध इतिहास का लेखन अवश्य किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त भारतीय लेखक आदर्श (Ideal) को यथार्थ (real) से अधिक महत्व देते थे। यही कारण है कि भारतीय कला, वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, कविता, नाटक इत्यादि सभी दैविक धारणा (divine conception) के प्रति अधिकतर रूचिकर थे इस लोक की सत्य की ओर नहीं। इन्हीं कारणों से हम यह नहीं कह सकते कि प्राचीन भारत में ऐतिहासिक लेखन था या नहीं। बहुत से राजाओं, राजवंशों की सूचियां तथा उनका राज्यकाल का वर्णन इत्यादि पुराणों में सुरक्षित है। राजाओं ने अपने अभिलेख, आज्ञा पत्र, ताम्रप्रशस्तियां इत्यादि भी लिखवा अपने कार्यों का उल्लेख करवाया है। इसके अतिरिक्त इनमें राजनैतिक स्थिति अन्तराज्यीय सम्बन्धों, प्रशासनिक कार्यों, धार्मिक कार्यों इत्यादि का व्याख्यान भी किया है। राजाओं ने अपना वंश का इतिहास इत्यादि लिखवाने के लिए भी लेखक रखे थे। इस तरह हम यह नहीं कह सकते कि प्राचीन भारत में लोगों की तथा राजाओं की इतिहास में रूचि नहीं थी।

इस्लाम के भारत में आने के पश्चात् भारत के इतिहास लेखन में मूलभूत परिवर्तन हो गए क्योंकि भारत में मुस्लमानों के आने से पहले उनका युनानी तथा रोमन लोगों से सम्पर्क हो चुका था तथा इस तरह उन्हें इतिहास लेखन परम्परा का ज्ञान भली भांति हो चुका था। यही कारण है कि इस काल के इतिहासकारों ने, जिन्होंने ये घटनाएं एवं देखी थी या स्वयं उन युद्धों इत्यादि अन्य घटनाओं में भाग लिया था, का लेखन भली भांति किया। तेहरवीं से पंद्रहवीं सदी के बीच इन लेखकों ने पारसी इतिहास लेखन परम्परा को भी अपना लिया।

परन्तु युरोपियनों के भारत में आने के पश्चात् यहां की इतिहास लेखन परम्पराओं में काफी परिर्वन हुए। अपने देश से दूर उन्होंने यहां अपना प्रशासन चलाने के लिए हर कार्य को लिखित रूप से करना, अपनी कम्पनी के अधिकारियों को विदेश में सूचित करना, अपनी सरकारों से सम्बन्ध रखने के लिए बहुत सा लिखित कार्य करना पड़ा इस कारण बहुत सी ऐतिहासिक सामग्री हमें प्राप्त होने लगी। इसी के साथ उन्होंने भारत पर अपनी पकड़ मजबूत करने के लिए यहां के लोगों को बर्बर, असभ्य इत्यादि सिद्ध करना प्रारम्भ कर दिया जिन्हें केवल उन्होंने ही आकर सभ्य बनाया। इस तरह भारतीय इतिहास लेखन में साम्राज्यवादी परम्परा (Imperialistic Historiography) का प्रारम्भ हुआ। इनमें सर्वोपरी थे जेम्ज मिल (James Mill) जिन्होंने अपनी पुस्तक हिस्ट्री आफ ब्रिटिश इण्डिया 1806 में लिखी। वे न तो कभी स्वयं भारत आए थे और न ही उन्होंने कोई भारतीय ऐतिहासिक ग्रन्थ पढा था बस सुनी सुनाई बातों के आधार पर लिख दिया। उनकी शैली भारतीय धर्मों, परम्पराओं, संस्कृति पर प्रहार करना था। उन्होंने यहां की सभ्यता को बर्बर बताया। उनकी डन्कन फोर्ब्ज महोदय ने भी आलोचना की। जेम्ज मिल के पश्चात् उनके अनुयायियों ने हिन्दुओं की सभ्यता को विपरीत दर्शाना प्रारम्भ कर दिया तथा यहां तक कहा कि यहां कभी सभ्यता थी ही नहीं। इन पाश्चात्य इतिहासकारों का भारत के प्रति दष्टिकोण साम्राज्यवादी मानसिकता का था। वे लोग भारत में विजेता के रूप में आए तथा यहां के इतिहास को साम्राज्यवादी ढंग से ही देखते थे। यहां के लोगों को बर्बर, असभ्य कहना तथा यहां की सभ्यता एवं संस्कृति को नकारना उनकी आदत सी ही थी। विलियम आर्चर जैसे ब्रिटिश लेखकों ने यह बात कही कि बर्बर, बर्बरता, वहशीपन जैसे शब्दों के प्रयोग के बिना भारतीय संस्कृति और इतिहास की चर्चा दी नहीं की जा सकती। परन्तु कुछ विद्यवानों जैसे प्रिंसेज, जोनज इत्यादि ने इससे अलग मत व्यक्त किए तथा इस तरह एक लम्बा वैचारिक मंथन प्रारम्भ हुआ।

दूसरी ओर भारतीय विद्यवानों ने जिनमें राजनारायण बोस, चन्द्रनाथ बासु, बंकिम चन्द्र चैटर्जी, ए. सी. दास, काशी प्रसाद जयसवाल, बाल गंगाधर तिलक, विनायक दामोदर सावरकर इत्यादि थे, ने हिन्दुसभ्यता को पाश्चात्य सभ्यता से अग्रसर बताया। ये राष्ट्रवादी परम्परा (Nationalist School) के विद्यवान कहे जाते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसा विद्यवान है जिन्हें तर्कशील विचारधारा (Rationalist School) के विद्यवान कहा जाता है। ये राष्ट्रवादी भावनाओं से प्रभावित न होकर तथ्यों तथा उनके सही मुल्यांकन के आधार पर इतिहास लेखन में विश्वास रखते हैं। इन में राजेन्द्र लाल मिश्र, आ. सी दत्त, राधा गोबिन्द भण्डारकर, हेमचन्द्रराय चौधुरी इत्यादि है। एक अन्य परम्परा के लोग भारत का अंग्रेजों द्वारा आर्थिक शोषण को उजागर कर रहे थे तथा भारत की आजादी के आन्दोलन को बल दे रहे थे। इन में मेजर डी. बासु, ए. सी, मजुमदार, सी. बाई. चिन्तामणि तथा सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी इत्यादि थे।

इसके अतिरिक्त एक अन्य इतिहास लेखन परम्परा को मार्क्सवादी स्कूल का नाम दिया गया है। वे सभी ऐतिहासिक घटनाओं को सामाजिक, आर्थिक एवं साम्यवादी ढंग से देखते हैं। इन में हीरेन मुखर्जी, रजनीपामदत्त, डी. डी. कौशाम्बी, नरूल हसन, रोमिला थापर, डी. एन झा इत्यादि विद्यवान हैं।

आधुनिक काल में भारतीय इतिहास को मार्क्सवादी लेखकों ने भूतकाल की व्याख्या आर्थिक घटकों के आधार पर की है तथा ये

भौतिकवादी लेखक अपने दष्टिकोण से भारतीय इतिहास एवं संस्कृति की व्याख्या करते हैं। एस. ए. डांग ने अपनी पुस्तक में गीता के कर्मयोग की व्याख्या करते हुए कृष्ण को बुजूआ नेता कहा है। इसी तरह डी. डी. कौशाम्बी गीता को सामन्तवाद का मैनुअल बताया है। वे इतिहास को केवल उत्पादन सम्बन्धों और साधनों के क्रमिक विकास को तिथि क्रम में प्रस्तुत करना मानते हैं। रोमिला थापर ने अशोक के धम्म को तत्कालीन राजनीतिक एवं सामाजिक समस्यायों के लिए उसके द्वारा किया गया वैचारिक अविष्कार माना है। क्योंकि इस समय राज्य के तीन तत्त्वों के पहले से मौजूद होने के बाद इतने बड़े साम्राज्य को एकीकृत रखने के लिए वैचारिक स्तर पर एकीकरण की आवश्यकता थी। उसके सामने दो विकल्प थे या तो वह राजा के देवत्व का सहारा लेता या वह इसके लिए धर्म का सहारा लेता उसने धर्म का सहारा लिया और वह बौद्ध धर्म की ओर आकृष्ट हुआ। वह इसके लिए कलिंग युद्ध जनिक पश्चाताप को कारण नहीं मानते डी. एन. झा ने तो यहां तक कहा है कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र के प्रारूप अशोक ने जो एक लाख 50 हजार लोग बन्दी बनाए उन्हें नई बस्तियों के निर्माण के लिए लगाया गया। व्यापार के लिए राजमार्गों का भी निर्माण करवाया गया। डी. एन झा तथा कई अन्य विद्यवान गुप्त काल को भारत का स्वर्ण युग नहीं मानते। जो काफी हद तक ठीक भी प्रतीत होता है।

इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे विद्यवान भी हैं जो रांके (Ranke) की शैली में साक्ष्यों की आलोचनात्मक समीक्षा कर इतिहास लेखन में विश्वास रखते हैं। इनमें सर जयुनाथ सरकार, एस. एन. बोस, डी. एन. सरदेसाई, कृष्णास्वामी अय्यर, शफत अहमद खान इत्यादि विद्यवान हैं।

अध्याय-2

पुरापाषाण काल

पुरापाषाण काल (Paleaolithic Period)

प्रागैतिहासिक काल की संस्कृतियों के बारे में जानकारी सर्वप्रथम युग में देखने पाषाण युग में देखने को मिलती है। लुॅब्बाक ने सर्वप्रथम पाषाण युग के भिन्न–भिन्न कालों को विभाजित किया, इनके अनुसार प्रथम पुरापाषाणकाल (Palaeolithic Age) तथा तथा द्वितीय नवपाषाण (Neolithic Age) था। इन्होंने यह विभाजन पाषाण उपकरणों के प्रकार तथा तकनीकी विशेषताओं आधार पर किया। 1970 में लारटेट ने पुरापाषाण काल को तीन भागों में विभाजित किया। (1) पूर्व पुरापाषाणकाल (2) मध्यपाषाण काल (3) उत्तर पाषाण काल। इन्होंने यह विभाजन उपकरणों की विधि में परिवर्तन तथा उस काल की जलवायु में आए परिवर्तनों कि आधार पर किया। 1961 में कॉमसन तथा ब्रैडवुड ने नवपाषाण काल तक के काल को तीन भागों में बाँटा। प्रथम काल भोजन संग्रहण तथा द्वितीय मध्य पाषाण काल को उन्होंने भोजन इक्ट्ठा करने वाला तथा तीसरे नवपाषाण काल को उन्होंने भोजन उत्पादन का काल कहा है। दूसरे शब्दों में पुरापाषाण काल शिकारी अवस्था, मध्यपाषाण काल को शिकारी एवम् भोजन संग्रहित करने वाला तथा नवपाषाण काल का भोजन उत्पादित का काल कहा गया है। परन्तु प्रागैतिहासिक संस्कृतियों के कालनिर्धारण एवम् नामकरण मे लारटेट का वर्गीकरण सर्वाधिक मान्य है।

प्रागैतिहासिक मानव का इतिहास जानने का स्त्रोत मात्र उस काल के मानव द्वारा बनाए पाषाण के औजार है, जो मानव ने स्वयं अपनी आवश्यकतानुसार बनाए थे। लिखित साक्ष्यों के अभाव में मात्र यही स्त्रोत है जो काल के मानव के तकनीकी विकास को दर्शाता है। आज से करीब पाँच लाख वर्ष पूर्व मध्य प्लीस्टोसीन काल से हमें यह मिलने शुरू होते है। जिन्हें पुरापाषाण कहा जाता है। परन्तु कुछ विद्वान इनसे पूर्व भी मानव को किसी प्रकार के स्वयं बनाए या प्राकृतिक रूप से निर्मित, हथियारों का प्रयोग करते बताया है, जिन्हें इयोलिथ कहते है। 1867 में दक्षिणी ओरलियन से उपकरण प्राप्त हुए। 1877 में इस प्रकार के औजार फ्रांस से भी प्राप्त हुए, लेकिन आजकल के विद्वान इन एक तरफ फलक उतरे (One sided flaking) हथियारों को प्राकृतिक तौर से उतरे फलक मानते है, जिन्हें इस काल के मानव ने उपयोग किया होगा इसके अतिरिक्त इन उपकरणों से मानव को स्वयं औजार बनाने का संकेत भी मिला होगा।

मानव ने अपनी आवश्यकता के अनुरूप औजार बनाने की प्रक्रिया सभंवत लकड़ी तथा अन्य कार्बनयुक्त पदार्थ के औजार बनाने से शुरू की जो आज उपलब्ध नहीं है। परन्तु जब उसने पाषाण उपकरण बनाने शुरू किए तब से हमें पुरातात्विक प्रमाण उपलब्ध होने लगे। ये उपकरण मानव ने अपनी जरूरतों के अनुसार तथा उनके कार्य के अनुरूप निर्मित किए थे। जैसे मांस काटने तथा छीलने के लिए चॉपर (Chopper) तथा खुरचनी (Scrapers) का निर्माण किया पुरापाषाण काल को तीन अवस्थाओं में विभाजित किया गया है :–

निम्न पुरा पाषाण काल (Lower Paleolithic Period)

मानव द्वारा प्रचीनतम उपकरण हमें इस काल में प्राप्त होते हैं, जब मानव ने सर्वप्रथम पम्थर का स्वयं फलकीकरण कर अपनी आवश्यकतानुसार औजार बनाए। प्राचीनतम औजार वे है जिनमें पैबॅुल (Pebble) के एकतरफ फलक उतार कर चापर औजार बनाए गए। ये प्राचीन उपकरण हमें सर्वप्रथम मोरोक्को तथा मध्य अफ्रीका में ओल्डुवई गर्ज के सबसे प्रथम तह से प्राप्त होते हैं। प्रथम स्थान पर इनके साथ विल्लफ्रैन्विय (Villefranchian) प्रकार के पशुओं की हड्डियाँ भी मिलती है, जो अभिनूतनकाल (Pleistocene) से पहले काल के जानवर थे जो अभी भी बचे रह गये थे। इनमें बड़े–बड़े दातों वाले हाथी (Tusks), बड़े–बड़े नुकीले दांतों वाले चीते, लकड़बग्घा इत्यादि शामिल थे। इस काल में मानव भोजन के लिए शिकार करता था। मानव ने मध्य और अभिनूतन काल में चापर और चापिंग औजारों का निर्माण किया, इसमें चॉपर में एक तरफ से फलकीकरण करके औजार बनाए गए। इन्हीं औजारों के बाद में प्राग् हस्त कुठारों का निर्माण किया गया और कालान्तर में इन्हीं से सुन्दर हस्त कुल्हाडियां निर्मित हुई।

अभिनूतनकाल (Pleistocene) काल में पथ्वी पर कुछ ऐसे परिवर्तन हुए जिनके कारण मानव का जन्त हुआ मानव के प्राचीनतम अवशेष हमें अफ्रीका में ओल्डुवई गर्त (Olduvai Garge) तन्जानिया, कीनिया की झील रूडोल्फ (Lake Rudolf) इत्यादि में प्राप्त हुए इसके अतिरिक्त बीजिंग (चीन) में झाऊ काऊ तेन (Zhou-kaou Ten) तथा जावा में भी प्राचीनतम मानव के अवशेष प्राप्त हुए। भारत में हाल ही तक पाषाण कालीन मानव के अवशेष प्राप्त नहीं हुए थे परन्तु 1982 में मध्य प्रदेश की नर्मदा घाटी में हथनोरा (Hathnora) से तथा इसी क्षेत्र में 1997 में निम्न पुरा पाषाण कालीन मानव (Homo-eractus) के प्रमाण प्राप्त हुए हैं।

भारतीय उपमहाद्वीप में सिन्ध तथा केरल को छोड़ सभी स्थानों से निम्न पुरापाषण कालीन अवशेष प्राप्त होते हैं जो कि नदी के किनारों (Terraces) कन्दराओं (Caves), rock shelters तथा खुले स्थलों से भी प्राप्त हुए है। पत्थर के इन उपकरणों के साथ पशु तथा

वनस्पति के अवशेष (Fossil) भी कई स्थलों से प्राप्त हुए है। भारत में अलग–२ क्षेत्रों में अलग–२ उपकरण बनाने की विधियों के आधार पर इस काल के उपकरणों को दो प्रमाणों में बाँटा जा सकता है। 1. चापर चांपिग उपकरण Chopper Chopping tools, जो पाकिस्तान की सोहन घाटी में मिलने के कारण सोहन संस्कृति कहलाए तथा 2. मद्रास के समीप हस्थ कुठार (Hanrdaxe) के अधिक मिलने के कारण इसे हस्थ कुठार संस्कृति (Handaxe culture) या मद्रास संस्कृति कहर जाने लगा। डी.टैरा (De-Terra) तथा टी. टी. पैटरसन (T.T. Patterson) ने सोहन घाटी में इस काल के मानव को द्वितीय अन्तर हिम युग (Second interglacial age) या आप से साढ़े चार लाख वर्ष पहले का बताया है जबकि हसमुख धीरज संकालिया इसकी उत्पत्ति 5 लाख वर्ष पहले मानते हैं।

औजार बनाने की तकनीक :-

(i) (Block-on-anvil Technique): इस विधि द्वारा जिस पत्थर द्वारा औजार का निर्माण करना होता था उसे किसी चट्टान पर प्रहार करके उसका फलक उतारकर औजार बनाये जाते थे। इस विधि द्वारा बड़े आकार के तथा अनघड़ का ही निर्माण संभव था

(ii) (Stone Hammer Technique or Block-on-Block Technique): पूर्वपाषाण काल में मानव द्वारा औजार बनाने को सर्वाधिक प्रयोग में लाई जाने वाली विधि थी। इसमें जिस पत्थर का औजार बनाना होता था उसे एक स्थान पर रखकर दूसरे हाथ से एक अन्य पत्थर द्वारा चोट करके फलक उतार कर औजार बनाया जाता था। इस विधि द्वारा मानव bi-ficial (द्विधारी) औजार भी बना सकता था।

(iii) (Step Flacking Technique): इस तकनीक द्वारा जिस पत्थर का औजार बनाना होता था उस पर दूसरा पत्थर मारते समय जिस प्रकार का औजार बनाना था, उसे ध्यान में रखकर सर्वप्रथम मध्य भाग मे चोट कर उस पत्थर पर एक निशान बना लिया जाता था। बाद में उसी की मदद से Steps (पट्टियों) में फलक उतार कर औजार बनाए जाते थे। इस विधि द्वारा हस्त कुल्हाड़ियों का निर्माण किया जा सकता था।

(iv) (Cylinderical Hammer Technique): इस विधि द्वारा पत्थर का औजार बनाने के लिए एक सिलैंडरनुमा हथौडे का प्रयोग किया जाता था जिससे कि छोटे–छोटे फलक भी उतारे जा सकते थे। इनसे सुन्दर एशुलियन प्रकार की हस्त कुल्हाड़िया बनाई जाती थी।

औजार Tools

इस काल का मानव कोर (Core) निर्मित औजारों का प्रयोग करता था यानि जिस पत्थर का औजार बनता था उसके फलक (Flake) उतार कर फैंक दिए जाते थे तथा बीच के हिस्से की ही औजार बनता था। इस काल के बने उपकरणों में chapper/chapping tools (चॉपर/चौंपिग औजार), hand-axes (हस्त कुल्हाड़ियों), Cleavers (विदारणी), Scrappers (खुरचमियां) इत्यादि प्रमुख थे। इनसे मानव काटने, खाल साफ करने इत्यादि कार्यो के लिए तथा मिट्टी से जड़ें और कन्दमूल आदि निकालने के काम में लाता था।

विस्तार क्षेत्र

आधुनिक सर्वेक्षण एवं उत्खननों के कारण हमें निम्न पुरापाषाण काल के बहुत से स्थलों का ज्ञान हो चुका है। अब यह साफ हो गया है कि यह संस्कृति पूरे भारत में फैली हुई थी। इसका कहीं अधिक तथा कहीं कम विस्तार (ecological factors) के कारण है जैसे गंगा की घाटी में इस संस्कृति का न होना उपकरण बनाने के लिए उपयुक्त पत्थरों का न मिलना हो सकता है या शायद गंगा तथा उसकी सहायक नदियों द्वारा लाई गई मिट्टी के नीचे प्राचीन स्थल दब गए होंगे।

भारत में इस संस्कृति के प्रमाण उत्तर पश्चिमी भारत (आज के पाकिस्तान की सोहन घाटी में) में जम्मू कश्मीर लिद्दर नदी हिमाचल की ब्यास बाण गंगा घाटी, पंजाब में होशियारपुर क्षेत्र (विशेषकर अटवारपुर क्षेत्र), हरियाणा में कालका पिंजोर क्षेत्र, हिमाचल तथा हरियाणा में काला अम्ब नाहन क्षेत्र में मारकंडा नदी पर, दिल्ली तथा दक्षिण हरियाणा के अरावली क्षेत्र में अधिकतर चापर–चांपिग (Chopper-Chopping) उपकरण प्राप्त होते हैं। दक्षिण भारत तथा मध्य भारत में अधिकतर (Hand axes) हस्थ कुठार संस्कृति का विस्तार है इन में अधिकतर स्थल तमिलनाडु में अंतरिम पक्कम (Attiramppakam), मन्जनकरणई, वादमदुराई गुडियम (Gudiyam cave) इत्यादि हैं। कर्नाटक में अनगवाडी (Anagwadi), हुन्स्गी (Hunsgi), गुलबर्ग में इसामपुर (Isampur) तथा येदियापुर (Yediapur) इत्यादि महत्वपूर्ण हैं इसके अतिरिक्त कृष्णा तथा इसकी सहायक नदियों पर भी बहुत से स्थलों से इन संस्कृति के प्रमाण मिले हैं अलूर (तलकवाद Talakwad) के समीप हीरं मुलंगी (Hire Mulangi) एक महत्वपूर्ण स्थल हैं। नित्तूर (Nittur) (जिला बिल्लेरी) में उपकरणों के साथ–२ जंगली भैंसे (Bos nomadicus) के अवशेष भी प्राप्त हुए है।

आन्ध्र प्रदेश में कर्नूल (Kurnool), गिडलूर (giddalur), करेमपुडी (Karempudi) तथा नागार्जुन कोण्डा (Nagarjunna Konda) से हस्थ कुठार संस्कृति के प्रमाण मिले हैं। इसके अतिरिक्त नालगोंडा (Nalgonda) तथा गुन्तुर (Guntur) जिलों से भी इस संस्कृति के प्रमाण प्राप्त हुए हैं।

महाराष्ट्र गोदावरी–प्रवर नदी (Godavari-Pravara) की घाटी में न केवल हस्थ कुठार तथा (handaxes) अन्य उपकरण प्राप्त हुए हैं अपितु जंगली भैंसा, जंगली हाथी, गैंडा इत्यादि जानवरों के अवशेष भी प्राप्त हुए है। नेवासा तथा संगम से भी इसी तरह के प्रमाण मिले हैं। धुलिया (Dhulia), जलगाँव बुल्सर जिलों में इसी तरह के प्रमाण मिले। अहमद नगर (Ahmadnagar) जिले का चिरकी नेवासा (Chirki Nevasa), नासिक (Nashik) जिले का गंगापुर स्थल, शोलापुर जिले का पन्धारपुर (Pandharpur) काफी महत्वपूर्ण है। कोंकण तथा मुम्बई क्षेत्र में वोरली, कान्डीवली, बोरीवली (Borivli) मलाद (Malad) इत्यादि महत्वपूर्ण स्थल हैं इसके अतिरिक्त गोवा में भी इस संस्कृति के प्रमाण मिलते हैं। मध्य प्रदेश में सर्वप्रथम डी टेरा (De-Terra) तथा पैटरसन (Patterson) ने नर्मदा घाटी पर उत्तर–पश्चिमी भारत की चापर चापिंग संस्कृति तथ दक्षिण भारत की हस्थ कुठार संस्कृति के मेल की संभावना खोजने के लिए कार्य किया। यहां से न केवल उपकरण बल्कि उस काल के जानवरों तथा वक्षों के अवशेष (Fossils) भी पाए गए। यहां पर आस्ट्रेलियाई संस्कृति (Acheuilan culture) तथा सोहन संस्कृति (Sohan Culture) के इक्ट्ठे मिलने के प्रमाण मिले। इस संस्कृति के महत्वपूर्ण स्थल होशंगाबाद, नरसिंगपुर, महादेव–पिपरिया है। जहां से उपकरण स्तर स्तरविन्यास के संदर्भ में भी प्राप्त हुए हैं। इसके अतिरिक्त दुरकाडी नाले (पश्चिमी नीमार जिले) से भी महत्वपूर्ण अवशेष प्राप्त हुए। उपकरणों के अतिरिक्त इस क्षेत्र से जंगली हाथी, भैंसे, हिप्पोपोटमस, जंगली घडियाल, सूअर, इत्यादि के प्रमाण भी मिले। इसके अतिरिक्त चम्बल घाटी, बेतवा, सोनार, सोन नदियों की घाटियों में भी इस संस्कृति के प्रमाण प्राप्त हुए हैं। भोपाल के पास भीमबेटका (Bhimbetka) आदमगढ़ भी महत्वपूर्ण स्थल हैं।

राजस्थान में दक्षिण पूर्वी क्षेत्र में अधिक तर इस संस्कृति के प्रमाण मिलते हैं। लूनी, बणाभ, गम्भीरी, चम्बल की घाटियों के कई स्थलों पर कई महत्वपूर्ण स्थल है। चितौड़ जिले में तो सोहन संस्कृति तथा मद्रास संस्कृति के इक्ट्ठे मिलने के प्रमाण मिलते हैं। पूरे गुजरात में हमें निम्न पुरापाषाण काल के प्रमाण प्राप्त होते हैं, साबरमती नदी, माही, करजन (Karjan) नदियों पर बहुत से महत्वपूर्ण स्थल मिले हैं। यहां से चापर–चापिंग (Chopper chopping) तथा कुठार (handaxes) दोनों प्रकार के उपकरण मिलते हैं सौराष्ट्र क्षेत्र में रोजड़ी (Rojdi) एक महत्वपूर्ण स्थल है। कच्छ में भुज समीप भी नखराणा (Nakhrana) से इस संस्कृति के प्रमाण मिले हैं।

उत्तर प्रदेश में मिर्जापुर (Mirzapur) जिले की बेलन घाटी, रीवा जिले में लेखाइया (Lekhaiya) कौशाम्बी जिले में बरियारी (Bariyari) में इलाहबाद जिले के बतौबीर (Bataubir) स्थलों से इस संस्कृति के प्रमाण मिले हैं। यमुना नदी पर देहरादून जिले में कलगी (Kalgi), झांसी जिले में ललितपुर (Lalitpur) इत्यादि भी महत्वपूर्ण स्थल हैं।

बिहार तथा झारखंड के बहुत से स्थलों पर तथा कोटा नागपुर पठार के अनेक स्थलों से इस संस्कृति के प्रमाण प्राप्त हुए है। पश्चिमी बंगाल के बंकुश, पुर्लिया, सिंहभूम, मेवाकुई, बीरभूम बर्दबान इत्यादि जिलों से इस संस्कृति के प्रमाण मिले हैं।

उड़ीसा में कुलियाना (म्यूरभंज) स्थल से इस संस्कृति के महत्वपूर्ण प्रमाण मिले। इसके अतिरिक्त बहुमानी, महानदी, बैतर्णी, स्वर्णलोवा नदी घाटियों से धनेकनाल (Dhenkanal) म्यूरभंज, सुन्दरगढ़, क्योंझार इत्यादि से इस काल के उपकरण प्राप्त हुए है।

आसाम तथा मेघालय की गारो, खासी तथा जयन्तियां पहाड़ियों से इस संस्कृति के उपकरण जिनमें हस्थ कुठार, चापर, खुरचनी इत्यादि प्राप्त हुए हैं।

मानव

विश्व में विभिन्न स्थलों से निम्न पुरापाषाण काल के मानव के प्रमाण प्राप्त हुए है। परन्तु हाल ही तक भारत में ये प्रमाण उपलब्ध नहीं थे, 1982 में मध्य प्रदेश में नर्मदा घाटी में हथनोरा (Hathnora) नामक स्थल से होमोइरैक्टस (Homo-erectus) की खोपड़ी तथा 1997 में इसी प्रकार के मानव के कन्धे की हड्डियां (Clavicle) प्राप्त हुई। मात्र यही प्रमाण हमें इस काल के मानव के भारत को प्राप्त है।

जीवन

इस काल के मानव का निवास स्थल नदी घाटियां शिलाश्रय तथा गुफा इत्यादि थे। स्टुअर्ट पिगंट के अनुसार इस युग के मानव के जीवन का आधार शिकार करना तथा भोजन एकत्रित करना था, इनका जीवन अस्थायी और खतरों से भरा से भरा एवम् अलग–अलग थ। इस काल का मानव उपकरणों की सहायता से जंगली जानवरों का शिकार करता था। भोजन के तौर पर उनका मांस कच्चा था कई स्थानों पर पकाने के भी प्रमाण हैं। इसके अतिरिक्त कन्दमूल, जंगली फल तथा खाने वालद जड़े भी उसके भोजन में शामिल था। इस काल का मानव विलेचैम्पियन प्रकार के पशुओं के अलावा हाथी, गैंडा, घोड़ा, पानी की भैंस, बारहसिंगे, कछुए, मछली, पक्षी, मेंढ़क, कई प्रकार के मगरमच्छ इत्यादि का शिकार करता था।

तिथिक्रम

तिथिक्रम के हिसाब से निम्न पुरापाषाण काल के अवशेषों को मध्य अभिनूतन काल (Mid pleistocene period) के द्वितीय अन्तर हिम युग (Second interglacial period) में रखा जा सकता है। ड़ी. टेश तथा टी.टी. पैटरसन ने इस काल की सोहन संस्कृति को 4,35,000

वर्ष पूर्व की माना है जबकि एच. डी. संकालिया इसे 5 लाख सवा लाख वर्ष पूर्व के मध्य रखा जाता है। परन्तु हाल ही में कई स्थानों पर वैज्ञानिक तिथिक्रम से कुछ तिथियां प्राप्त हुई है जो कि निम्नलिखित हैं :–

महाराष्ट्र में बोरी से 5,37,000 वर्ष पूर्व, नेवासा से 3,50,000 वर्ष पूर्व कर्नाटक के तेग्गीहल्ली जो कि बैचबल घाटी में से 3,50,000 से 2,87,333 वर्ष पूर्व, राजस्थान में डिडवाना से 3,90,000 से 2,90,000 वर्ष पूर्व गुजरात के सौराष्ट्र क्षेत्र के उम्रेठी नामक स्थान से 1,90,000 वर्ष पूर्व, कर्नाटक में हुन्स्गी घाटी के कालदेवनहल्ली स्थल से 1,66000 वर्ष पूर्व इस प्रकार हम देखतें हैं कि यह सभी तिथियां साढ़े पांच लाख से डेढ़ लाख वर्ष के बीच की है। यदि इन में कुछ त्रुटियां भी मान लेता भी यह 5 लाख से सवा लाख के मध्य की ही है।

उद्‌गम (Origin)

इस संस्कृति का प्रारम्भ अफ्रीका में ओल्डुवई गर्त (Olduvai gorge) जो कि तन्जानिया में हुआ था। यहीं से मानव ने अलग–२ स्थलों पर जा कर इस संस्कृति का विकास किया। कुछ विद्वानों का मत है कि इस काल में अफ्रीका भारत से जुड़ा हुआ था इसलिए इस काल का मानव स्थल मार्ग से ही सीधा भारत आ गया। परन्तु महाद्वीप तो इस काल से बहुत पहले ही अलग हसे चुके थे। इसलिए यह मत संभव नही है। दूसरा मत है कि इस काल का मानव ओल्डुवई से उत्तरी अफ्रीका होता हुआ मांऊट कार्मल (Mount Carmel) के रास्ते आया यहां से एक शाखा ने पश्चिम की ओर जा युरोप में तथा दूसरी शाखा ने पूर्व की ओर जा एशिया में इस संस्कृति को फैलाया।

मध्य पुरापाषाण काल (Middle Paleolithic Period)

मध्य पुरापाषाण में नियडरस्थल मानव के अवशेष मिलने शुरू हुए और इन्होंने अपनी संस्कृति का विकास किया। पूर्व पुरापाषाणकाल के औजार कोर निर्मित थे, जिसमें फलकों का प्रयोग औजारों में नहीं किया गया था। लेकिन इस काल के मियंडर स्थल मानव ने अपने उपकरणों को फलक पर बनाना प्रांरभ किया, जो अपेक्षाकृत आकार में छोटे थे जो अच्छे बने हुए थे। इनके अलावा फलक निर्मित औजारों में हस्तकुठार, बेधक, कुल्हाडियों और विदारणी प्रमुख थे।

औजार बनाने की तकनीक

इस काल के फलक उपकरण दो तकनीकों द्वारा बनाए जाते थे। इस विधि में सर्वप्रथम पत्थर से फलक उतारी जीती थी, फिर उस फलक को दोबारा तीखा कर (retouching) आवश्यकतानुसार आकार का उपकरण बना लिया जाता था। दूसरी विधि को लवलॅवा विधि (Lavelloisian technique) का नाम दिया गया। इस विधि द्वारा निर्मित औजार सर्वप्रथम फ्रांस के तावलवा नामक स्थान से प्राप्त हुए इसलिए इसे लवलॅवा तकनीक का नाम दिया गया। इस विधि द्वारा पत्थर से जो फलक अलग किया तीखे उपकरण से जिस प्रकार का औजार बनाना होता था उसकी रूपरेखा दी जाती थी। दूसरे चरण में उसके भीतरी हिस्से को ऊपर से छील दिया जाता था इसे Tortoise Ore कहा जाता था। ततीय चरण में एक छोटा प्लेट फार्म तैयार किया जाता था। जहां तीखी रखकर उसे पर हथौड़े से आघात किया जाता था। इस प्रकार मनचाहे आकार का उपकरण बनाया जा सकता था।

पुरापाषाण का मानव (Australopithicus) का अन्त हो गया तथा इसका स्थान एक नई किस्म के मानव ने ले लिया। जिसे नियान्डर मानव (Neanderthal man) या (Homo Neanderthalis) कहा जाता है।

विस्तार

भारत में मध्य पुरापाषाण के स्तर विन्यास पर आधारित प्रमाण सर्वप्रथम नेवासा नामक स्थल से प्राप्त हुए। यद्यपि इससे पहले भी डी. टेरा तथा पैटरसन ने इन्हें नर्मदा घाटी में नरसिंहपुर (Narsinghpur) तथा होसान्गाबाद (Hoshangabad) से प्राप्त किए परन्तु इस समय इसे काली मिट्‌टी की संस्कृति (Black soil industry) सा प्राग नवपाषाणीय संस्कृति की संज्ञा दी गई। परन्तु मध्य पुरापाषाण काल के एक अलग संस्कृति के रूप में प्रमाण नेवासा से प्राप्त हुए, जो कि तिथिक्रम, स्तरविन्यास तथा उपकरण प्रकार तथा तकनीक के आधार पर मध्यपुरापाषाण संस्कृति को माने गए। तथा तभी से इसे अलग संस्कृति के रूप में लिया जाता है।

पूरे महाराष्ट्र में यह संस्कृति पनप रही थी परन्तु प्रवर नदी पर स्थित नेवासा (Nevasa) तथा गोदावरी पर स्थित बेल पन्धारी, सुरेगांव, कालेगांव नान्दूर तथा मध्यमेश्वर महत्वपूर्ण है। तापती नदी की सह नदी रंका नाला (Ranka Nala) भी एक महत्वपूर्ण स्थल है। मुम्बई क्षेत्र में बोरीवली तथा खांडीवली (Borivli and Khandivli) से भी बहुत से फलक उपकरण चर्ट (Chert), जैसपर (Jaspar) तथा बसाल्ट (Basalt) पर बने प्राप्त हुए हैं।

कर्नाटक के तटीय क्षेत्र के दो महत्वपूर्ण स्थलों तमिनहल (Taminhal) तथा अलमट्‌टी (Alamatti) से काफी मात्रा में उपकरण प्राप्त होते हैं। गुलबर्ग के शोरापुर दोआब तथा कोवल्ली (Kovalli) तथा अनगवाडी (Anagwadi) महत्वपूर्ण है। हरगुन्डगी (Haragundi) से तो जंगली हाथी तथा भैंसे के प्रमाण (fossils) भी प्राप्त हुए है।

आन्ध्र प्रदेश के कुर्नूल से मध्य पुरापाषाण काल के उपकरण प्राप्त हुए। इसके अतिरिक्त नालगोंडा तथा कृष्णा नदी पर स्थित रामतीर्थअपय तथा रयगीरवगु से भी उपकरण प्राप्त हुए हैं।

तमिलनाडु में इस संस्कृति के प्रमाण उत्तरी क्षेत्र में अत्तिरमपक्कम तथा वादमदुराई उत्खननों से इस काल का उपकरण प्राप्त हुए है। इसके अतिरिक्त गुडियम कान्दरा उत्खनन से भी स्तर विन्यास के आधार पर मध्यपाषण काल के छोटे उपकरणों के पहले के फलक उपकरण प्राप्त हुए हैं।

उड़ीसा से म्यूरभंज, क्योन्झार, सुन्दरगढ़ ढ्येनकनाल जिलों से फलक उपकरण क्वार्टज जैसपर तथा क्वार्टजाइट नामक पत्थरों पर बने प्राप्त हुए है।

पश्चिमी बंगाल में बंकुरा, बीरभूम, मिदनापुर, पूर्लिया जिलों से फलक उपकरण प्राप्त हुए हैं। इसके अतिरिक्त 24 परगना, जलपाइगुडी जिलों से तथा असम मेघालय की गारो पहाड़ियों से भी इस संस्कृति के प्रमाण मिले हैं। बिहार में पटना, गया, भागलपुर, मुंगेर जिलों तथा झारखंड़ के छोटा नागपुर पठार, पलमाऊ सिंहभूम इत्यादि से फलक उपकरण जिनमें अधिकतर पॅवाइन्टस तथा बोरर से प्राप्त हुए हैं।

उत्तर प्रदेश में टोनस घाटी तथा इलाहबाद जिले के बेलन घाटी में यह उपकरण प्राप्त हुए है। परन्तु गंगा घाटी में अभी तक इस काल के उपकरण प्राप्त नहीं हुए हैं। मध्य प्रदेश में नर्मदा घाटी में नरसिंहपुर, होशंगाबाद, महेश्वर, सिहोर (सागर जिला) गोंची जो बेतवा नदी पर स्थित है इस काल के अवशेष प्राप्त हुए हैं। इसके अतिरिक्त दामोह जिले तथ सोन घाटी से भी उपकरण प्राप्त हुए हैं। नर्मदा नदी पर महादेव पिपरिया, शिवना नदी पर मन्दसोर, बाहरगढ़ भी महत्वपूर्ण स्थल है। यही खरकी माता स्थल से उस काल के उपकरण बनाने की वर्कशाप भी खोजी गई है।

गुजरात के सौराष्ट्र की नदी भादर पर रोजडी तथा जेतपुर महत्वपूर्ण स्थल है इसके अतिरिक्त बुलसर जिले दक्षिण कच्छ के कई स्थलों से मध्य पुरापाषाण कालीन फलक उपकरण मिलते है।

राजस्थान के पश्चिमी तथा दक्षिण पूर्वी क्षेत्रों से इस काल के उपकरण मिलते है। यहां चम्बल, गम्भीरी लूनी इत्यादि नदी घाटियों में इस संस्कृति के प्रमाण मिलते है। लूनी घाटी में तो फलक उपकरणों के साथ कुछ फलक पर बने छोटे हस्थ कुठार तथा क्लीवर भी प्राप्त होते हैं। राजस्थान में अधिकतर फ्लिंट, चर्ट तथा जैस्पर पत्थरों का प्रयोग उपकरण बनाने के लिए किया गया है।

कश्मीर में पहलगाव के समीप मन्दिर टीले से तथा गणेशपुर से इस काल के उपकरण प्राप्त होते हैं। पाकिस्तान में पेशावर के समीप संघाओं कान्दरा से इस संस्कृति के प्रमाण प्राप्त हुए है। इसके अतिरिक्त सोहन संस्कृति के उपकरण भी मध्य पुरापाषाण कल के है। पंजाब में कई स्थलों दिल्ली तथा हरियाणा के अरावली पर्वत श्रृंखला में अनेक स्थलों से भी इस काल के उपकरण मिले हैं।

काल

राजस्थान, गुजरात के कई स्थलों से हाल ही में कुछ वैज्ञानिक ढंग से इस काल के तिथिक्रम के प्रमाण प्राप्त हुए है जो कि 150000 से 20,000 वर्ष पूर्व के मध्य है। राजस्थान में डिडवाना से मध्य पुरापाषाण काल की दो तिथियां 1,50,000 तथा 1,40,000 वर्ष पूर्व की है। जबकि गुजरात के सौराष्ट्र से ये तिथियां 56,800 वर्ष पूर्व आई हैं। इससे पूर्व महाराष्ट्र में प्रवर–गोदावरी घाटी से प्राप्त अर्जुन वक्ष के अवशेष की तिथि 39,000 वर्ष पूर्व अंकित हुई थी। इसके अतिरिक्त पैठन, इनामगांव तथा द्योन बांध से भी मध्य पुरापाषाणकाल की तिथि 30,000 वर्ष के आसपास ही निर्धारित रेडियो कार्बन विधि से निश्चित हुई है। इस तरह हम इस संस्कृति को सुरक्षित रूप से 1,25000 से 20,000 वर्ष पूर्व तो रख ही सकते हैं।

उद्‌भव

मध्य पुरापाषाणकाल के उद्‌भव के बारे में विद्वान एक ही मत नहीं है। एच. डी. संकालिया तथा ए.पी. खत्री का विचार है कि भारत में इस संस्कृति के उद्‌भवकर्ता अफ्रीका से आए थे। एलचिन महोदय का विचार है कि प्रारम्भ में इस संस्कृति के लोग इसी प्रकार की मध्य एशिया की संस्कृति के सम्पर्क में आए तथा बाद में इन्होंने अलग थलग रूप में सिन्ध के मरूस्थल के दक्षिण पूर्व में इस संस्कृति का उत्थान किया। परन्तु जब तक इस काल के मानव के अवशेष हमें प्राप्त नहीं होते तब तक इस बारे में अधिक कह पाना संभव नहीं है। दूसरी ओर कुछ विद्वान इसे भारत में ही उद्‌भव मानते है। के.डी. बैनर्जी ने नेवासा तथा उत्तरी कर्नाटक से प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर दर्शाने की कोशिश की है कि यह संस्कृति यहां पर पहले की हस्थ कुठार, क्लीवर संस्कृति से ही सौन्दर राजन भी इसे भारत में ही प्रारम्भ हुई संस्कृति मानते हैं।

उत्तर पुरापाषाण संस्कृति (Upper Palaeolithic Culture)

उत्तर पुरापाषाण काल संस्कृति अभिनूतन काल की अन्तिम संस्कृति है। इस काल में मानव ने अपने उपकरण क्रोड या फलक के स्थान पर ब्लेड पर बनाने प्रारम्भ कर दिए। साथ ही हड्डी का प्रयोग भी औजार बनाने के लिए होने लगा। इस काल की विशेषता ब्लेड तथा ब्यूरिन, बोरर नामक उपकरण है। इसके अतिरिक्त विलो तथा लारेल नामक पेड़ के पत्तों के आधार के प्वांइट, हड्डी के तीराग्र हारपून, तीर सीधे करने का उपकरण, डार्ट इत्यादि हैं।

भारत में यद्यपि इस संस्कृति के उपकरण यदा कदा मिलते रहे हैं जैसे कि राबर्ट ब्रूस फुटे को कर्नूल जिले के बिल्लासुरगम नामक स्थल से उत्तर पुरापाषाण कालीन उपकरण, जो कि पश्चिमी युरोप के मैगडलेनियन प्रकार के मिले। इसी प्रकार भारत के दक्षिणी पूर्वी क्षेत्र में भी यह उपकरण मिले। नेवासा से भी ब्लेड तथा ब्यूरीन प्राप्त हुए। परन्तु 1970 के दशक तक भारत में इस संस्कृति की अलग पहचान नहीं थी। परन्तु आन्ध्र प्रदेश में चित्तूर तथा कर्नूल नामक स्थलों से हमें इस संस्कृति के अलग स्वरूप के पुरातात्विक, स्तर–विस्थापिक प्रमाण मिलने शुरू हुए। हाल में तो बहुत से स्थानों से इस संस्कृति के प्रमाण प्राप्त हुए।

विस्तार

आन्ध्र में चित्तूर जिलों से इस संस्कृति के ब्लेड तथा ब्यूरिन प्राप्त हुए है। बिस्लासुरगम गुफा से तथा रेनिगुन्ता के अतिरिक्त मल्लागुध्डलु तथा प्रकाशन जिले की येशगोण्डा पल्लम, नागार्जुनकोण्डा भी महत्वपूर्ण स्थल है। परन्तु सबसे महत्वपूर्ण है मुच्चन्त चिन्तामणि गवि जहां से 90% से अधिक उपकरण हड्डियों पर बने है।

कर्नाटक में सल्वादगी तथा मेरलमवी क्षेत्र (शोरापुर दोआब) महत्वपूर्ण है। यहां एक फैक्ट्री उस काल के उपकरण बनाने की मिली। बिहार में सिंहभूम से प्राप्त हुए है, उत्तरप्रदेश में मिर्जापुर जिले के लेखाहिया तथा राजपूत नामक स्थलों से उत्तरपुरापाषाण कालीन उपकरण मिले है परन्तु ये विशुद्ध उत्तर पाषाण कालीन पश्चिमी युरोप एवं पश्चिमी एशिया प्रकार के नहीं है। बेलन घाटी ने स्तरविन्यास संदर्भ मे ये उपकरण प्राप्त हुए है।

मध्यप्रदेश में सर्वप्रथम सोन घाटी में सिधि तथा शाहडोल जिलों में उत्तरपाषाणीय उपकरण प्राप्त हुए। इसके अतिरिक्त रायसीन जिले की भीमबेटका गुफा तथा चट्टान आश्रय से औरगनेश्यिन प्रकार थे उत्तर पाषाणीय उपकरण प्राप्त हुए है।

महाराष्ट्र बोरिवली तथा कान्डीवली से टाड नामक विपण्णन ने ब्लेड तथा ब्यूरिन प्रकार के उपकरण खोजे थे। इसके अतिरिक्त नेवासा तथा धूलिया जिले के भदने स्थल से इस काल के उपकरण प्राप्त हुए। इस राज्य में सबसे महत्वपूर्ण है पटने का स्थल जहां उत्खनन में इस काल के उपकरण तथा अन्य वस्तुएं प्राप्त हुई है। जलगांव जिले के चालिस गांव तालुक क स्थित इस स्थल से प्रथम दो कालों में जैस्पर पर बने उपकरण प्राप्त हुए तथा अन्तिम दो चालसीडोनी का प्रयोग किया गया प्रथम काल में उत्तरपाषाण कालीन उपकरणों के साथ कुछ फलक उपकरण भी मिले जबकि दूसरा काल इस संस्कृति का सर्वप्रथम काल है। तीसरे काल में उपकरण छोटे बनने लगे तथा शर्तुमुर्ग के अंडे के खोल का डिस्क प्रकार का मनका भी प्राप्त हुआ। जो कि भारत का सबसे प्राचीन अलंकर्ण है। चौथा काल इस संस्कृति का अन्तिम काल है। जिसमें मध्य पाषाण कालीन लघु उपकरण मिलने शुरू हो गए।

गुजरात में मध्य गुजरात के पावगढ़ क्षेत्र में इस काल के प्रमाण विसादि से प्राप्त हुए हैं जिन्हें 40000 से 12000 वर्ष पूर्व माना जा सकता है

तिथि

पश्चिमी यूरोप तथा पश्चिमी एशिया के स्थलों से प्राप्त रेडियो कार्बन तिथिक्रम के अनुसार इस संस्कृति को 30000.10000 वर्ष पूर्व माना जाता है। भारत में भी कई स्थलों से वैज्ञानिक तिथियां प्राप्त हुई है। पाकिस्तान की संघाओं गुफा से इस काल की तिथि 41825 से 20660 वर्ष पूर्व आई है राजस्थान की डिडवाना से 26210 वर्ष पूर्व। मध्य प्रदेश के स्थलों से प्राप्त शुतरवमुर्ग के अंडों की तिथि 36550 से 30680 वर्ष पूर्व महाराष्ट्र से 27000-25000 वर्ष पूर्व तथा बेलन घाटी से 25000 से 9000 वर्ष पूर्व तिथि आई है। इस प्रकार हमें इस संस्कृति को 35000-10000 वर्ष पूर्व के बीच राव सकत है।

मानव का जीवन तथा निवास

इस काल में मानव गुफाओं तथा चट्टान आश्रयों में रहा करता था। नदी के किनारों तथा खुले क्षेत्रों में रहने के प्रमाण भी है। शिकार मछली पकड़कर वह अपना निर्वाह करता था तथा फल, जडें इत्यादि भी उसके भोजन का अंग थी।

कला

इस काल में युरोप तथा पश्चिमी एशिया में मानव ने कला का विकास कर लिया था। भारत में भी मानव ने कला कृतियां जैसे पेंटिग, कुरेद कर बनाए चित्र कना प्रारम्भ किया था या नही इसे बारे में विद्वानों के मत एक नहीं है। डा. वाकंकर भीमटेका के III.A-28 से प्राप्त हरे चित्रों को उत्तर पाषाण कालीन मानते है। इसके अतिरिक्त महाराष्ट्र के पटने से शतुरमुर्ग के अंडे के खोल पर कुरेद बनाई लाइने तथा बेलन घाटी में लोहन्डा नाला से प्राप्त एक हड्डी की प्रतिमा, जिसे कतिपय विद्वान मातदेवी मानते है, इस काल की कला के प्रमाण है।

उद्भव

भारत में इस काल के मानव के कोई अवशेष न मिलने के कारण इस संस्कृति के उद्भव एवं निर्माताओं के बारे में कुछ ठीक नहीं कहा जा सकता। कुछ विद्वान इस संस्कृति का उद्भव पश्चिमी एशिया के मांऊट अफ्रीका से मानते है जबकि कुछ विद्वान रेनीगुन्ता से प्राप्त साक्ष्यो के आधार पर इस संस्कृति का उद्भव स्थानीय ही मानते हैं।

मध्य पाषाण कालीन संस्कृति शिकार एवं भोजन संग्रहण का काल

लगभग 10000 वर्ष पूर्व अभिनूतन काल का अंत हो गया और जलवायु भी आजकल के समान हो गई। हिमयुग के दौरान जमी बर्फ की परत पिघलने लगी तथा अधिकतर निचले इलाकों में पानी भर गया। पानी के जमाव के साथ जमी मिट्टी की तहों की गिनती से स्कन्डेनेनिया में इस काल की शुरूआत 7900 ई. पू. रखी जा सकती है जबकि रेडियों कार्बन तिथि से हिम युग काल का अंत 8300 ई. पू. निर्धारित किया जा सकता है। बर्फ पिघलने से समुद्र के जलस्तर में बढ़ोतरी हुई जिस कार उतरी समुद्र से अधिक पानी फैल गया। जलवायु में हुए परिवर्तन का असर वनस्पति तथा पशू–पक्षियों पर भी हुआ। यूरोप में चौड़ी पत्ती वाले पेड़–पौधे होने लगे और साथ ही रेडियर, घोड़े, बिसन आदि के स्थान पर हिरण, जंगली सूअर, बारहसींगा इत्यादि पशु अधिक पाए जाने लगे। पश्चिमी एशिया के क्षेत्रों में इस प्रकार की वनस्पति के पौधे पाए गए जो आजकल के गेहूं और जौ के जंगली प्रकार थे। इस प्रकार की वनस्पति को प्रयोग में लाने तथा शिकार में जानवरों को मारने के लिए इस काल के मानव को अपने औजारों में भी परिवर्तन करना पड़ा।

इस काल में अत्यंत सूक्ष्म पाषाण औजारों का निर्माण किया गया। ये औजार इतने सूक्ष्म थे कि इन्हें अकेले प्रयोग में नहीं लाया जा सकता था बल्कि किसी अन्य चीज के साथ जोड़कर ही वन औजारों को प्रयोग किया जा सकता था। इन उपकरणों में प्वांइट, तीर का अग्र भाग, सूक्ष्म ब्यूरिन, खुरचनियां, हस्त कुल्हाडियां, त्रिकोण, ट्रॅापे, चन्द्राकार और अर्द्धचन्द्रकार इत्यादि प्रमुख है। ये उपकरण दो भागों में बांटे जा सकते हैं। दोनों प्रकार के औजारों को प्रकार के आधार पर बांटा गया है।

तकनीक

अत्यधिक सूक्ष्म औजारों के छोटे–छोटे फलक पत्थर से निकालने के लिए प्रैसर तकनीक (Pressure Technique) का प्रयोग किया जाता था। इस तकनीक में एक विशेष आकार का फलक किसी नुकीले उपकरण को पत्थर पर रख उस पर ऊपर से दबाव डालकर फलक अलग किया जाता था। इस उपकरणों को किसी लकड़ी के आगे लगाकर तीराग्र (Points) का तीर बनाते थे। कुछ प्वांइट अथवा ब्लेडस को किसी जानवर की हड्डी या लकड़ी में फिट करके दरांती (Sickle) बनायी जा सकती थी। इनके उपकरणों के उपयोग से ही पता चलता है कि इस काल में मानव में जंगली रूप से उगे पौधों को काट कर उनके दाने अलग करना सीख लिया था। कई स्थानों से तो सिल–बट्टे भी प्राप्त हुए है El-wad जैसे गुफा से, जो इसी प्रमाण की घोतक है।

विस्तार

भारत में कुछ ही क्षेत्रो को छोड़ सभी क्षेत्रों में इस संस्कृति के प्रमाण मिलते हैं। केवल आसाम, पंजाब केरल तथा उत्तर प्रदेश की गंगा–यमुना घाटियों से अभी तक इसके प्रमाण नहीं मिले।

पश्चिमी बंगाल में यद्यपि कई स्थलों से हमें इस संस्कृति के प्रमाण मिलते हैं। परन्तु दामोदर नदी पर स्थित बीरभानपुर महत्वपूर्ण है जहां से ज्यामिति उपकरणों के रहित उपकरण तथा मद्–भांड रहित संस्कृति के प्रमाण मिले है। जिन्हें 4000 ई. पू. रखा जा सकता है। बिहार से ज्यामिति तथा गैर ज्यामिति दोनों प्रकार प्रकार के उपकरण जिनके नवचन्द्राकार ब्लेड, समलम्ब औजार, समलम्बनुमा, त्रिभुज, नुकीले औजार, बोरर, ब्यूरिन, खुरचनी इत्यादि प्राप्त हुए है। झारखंड के पलमाऊ सन्थाल परगना इत्यादि से इस प्रकार के उपकरण प्राप्त हुई है।

उत्तरप्रदेश में सबसे महत्वपूर्ण लघुपाषाण का स्थल सराए नाहर राय है जो प्रताप गढ़ जिले में है। यहां से मदुभांड से पूर्व की संस्कृति के उपकरण, मानव के खाद्यान्न रहने के फर्स चुल्हे इत्यादि के प्रमाण भी प्राप्त हुए है। सराय नाहर राय के लघु पाषाण उपकरण अज्यामितीय। ये अपने मतकों का पश्चिम–पूर्व की दिशा में दबाते थे। हिरण, बारहसिंगा, गैंडा, मछली, कछुआ इत्यादि का मांस खाते थे। भारत में इस संस्कृति की सबसे पुरानी तिथि 8395 ई. पू. यही से प्राप्त हुए है। इसके अतिरिक्त लेखाहिया, जिला मिर्जापुर उत्तर प्रदेश से उत्खन्न से प्रथम चरण में अज्यामितीय उपकरण बिना मदुभांडो के प्राप्त हुए। द्वितीय चरण में बिना मद्भांडो के ज्यामितीय उपकरण, ततीय तथा चौथे चरण में ज्यामितीय उपकरणों के साथ मदभांडो के प्रमाण प्राप्त हुए हैं। संग्रौली घाटी तथा मिर्जापुर में बरकचा तथ रौन्य से भी इसे अज्यामितीय उपकरण प्राप्त हुए है।

उडीसा में भी कुछ जिलों में अज्यामितीय उपकरण बिना मदभांड के प्रमाण के प्राप्त हुए है। आन्ध्र में नागार्जनकोंडा, गिड्डलूर तथर संगनकल्लु इत्यादि से इस काल के उपकरण प्राप्त हुए है। कर्नाटक में बहुत से स्थलो से इस संस्कृति के प्रमाण प्राप्त हुए है। जलाहली से लघुपाषाण उपकरण बिना मदभांड के प्रमाण के दोनों ज्यामितीय तथा अज्यामितीय प्रकार के है। ब्रह्तगिरी भी एक अन्य महत्वपूर्ण स्थल है। तमिलनाडु में तिन्नीवैली जिले में तेरी स्थलों से बहुत से स्थलों से लघुपाषाण उपकरण मिले हैं। इनमें मैगनानापुरम सबसे प्राचीन है तथा अज्यामितीय उपकरण यहां से प्राप्त हुए जबकि कुलात्तूर सबसे बाद का स्थल है। यहां मानव उस समय रहता था जग समुद्र का स्तर आज से 20-30 फुट ऊंचा था। जहां उस समय रेत के टीले जमा हो गए जिन पर उस समय मानव रहता था। बाद में मौसम के बदलाव के कारण इन टीलों पर लाल काई जम गई जिस कारण से एक स्थान पर जम गए।

महाराष्ट्र में पूना के समीप दीघी, इलोरा करला गुफाओं के आस पास इस काल के उपकरण प्राप्त हुए हैं। इसके अतिरिक्त गोदावरी, प्रवर नदियों के किनारों एवं कोंकण क्षेत्र से भी इसी तरह के प्रमाण मिले हैं। गुजरात में सबसे महत्वपूर्ण स्थल लंघनाज है जहां उपरी सतहों में लघुपाषाण उपकरण मद्भांडो सहित प्राप्त हुए तथा निचली सतहों में बिना मदभांडों के उपकरणों के साथ पशु तथा मानव अवशेष भी प्राप्त हुए। इस काल का मानव फिलीस्तीन के नाटूफियनों जैसा था। यहां की संस्कृति 2500 ई.पू. के आस पास की है।

मध्य प्रदेश में चम्बल घाटी तथा नर्मदा घाटी में बहुम से स्थलों पर इस संस्कृति के अवशेष प्राप्त हुए हैं। इनमें आदमगढ़, मैहर इत्यादि तो प्रमुख हैं परन्तु सबसे महत्वपूर्ण है भोपाल के समीप भीमबेटका जहां बहुत सी गुफाएं तथा शिलाश्रय मिले हैं। जिनके उत्खनन से मध्य पाषाण कालीन उपकरण प्राप्त हुए है जो कि अज्यामितीय तथा मदभांड रहित से बाद में ज्यामितिय तथा मद्भांडो सहित प्राप्त होते हैं। इन्ही स्थलों पर बहुत सी पेंटिग तथा कुरेद कर बनी चित्रकारी भी इसी काल की प्राप्त हुई हैं। रंगों में सफेद, काला तथा पीला, हरा, लाल, भूरा गहरा बैंगनी रंग का प्रयोग है। गुफाओं की दिवारों तथा छत्रों, दोना स्थलों पर चित्रकारी प्राप्त होती है। विभिन्न खनिजों को मिला रंग बनाते थे। इन चित्रों में उस समय की सांस्कृतिक का पता चलता है। मुख्यतः पशु उनका विषय थे साथ ही मनुष्य भी दर्शाए गए है। शिकार के दश्य विभिन्न पशुपक्षी, तीर कमान का प्रयोग, संगीत नत्य, सीढ़ी पर चढ़ शहद के छत्ते से शहद निकालती स्त्री इत्यादि महत्वपूर्ण विषय है। राजस्थान में बागोर एक महत्वपूर्ण स्थल है यहां उत्खनन से इस संस्कृति के प्रमाण प्राप्त हुए है। इसके अतिरिक्त निम्बाहेडा मन्दाजिया भी महत्वपूर्ण है ये दोनों स्थल बागोर से पहले के हैं।

रहने के स्थान

चूंकि इस काल में मौसम आजकल जैसा हो गया था इसका असर उस समय के मानव के रहने के स्थल पर भी पड़ा। अब वह ने केवल गुफा, चट्टानआश्रयों तथा नदियों के किनारों पर रहता था परन्तु समुद्र के किनारे, खुले मैदानों, पहाड़ों के ऊपर, रेतीला या पथरीले सभी प्रकार के स्थलों पर रह सकता था।

मानव जीवन

जलवायु के बदलाव से इस काल के जीव जन्तुओं तथा वनस्पति पर भी पड़ा। इस का प्रभाव मानव के उपकरण बनाने पर भी पड़ा। अब वह लघुपाषाण उपकरण बनाने लगा जिन्हें वह तीर, भाले, दराती, चाकू इत्यादि में प्रयोग कर सकता था। शिकार तो प्रमुख कार्य इस समय मानव का था ही परन्तु अब शिकार में उसे अधिक भेड़ बकरिया तथा पशुओं का सहारा था। जंगली जानवरों का शिकार भी वह किया करता था। इसके अतिरिक्त फल, कन्दमूल के साथ–२ जंगली दानों को इक्ट्ठा कर भोजन के रूप में प्रयोग करता था। इसके लिए वह छोटे–२ प्वाइंटों का लकडी या हड्डी में जड़ कर दराती बना लेता था तथा सिलबट्टों से वह आटा भी बना लेता था। मदभांडों का प्रचलन अनाज रखने इत्यादि के लिए होने लगा था। जंगलों से शहद इक्ट्ठा करने के प्रमाण भी इस समय के हैं। सामुहिक रूप से शिकार करने के साथ मानव इस समय नत्य इत्यादि से अपना मनोरंजन भी करता था। साथ ही अपने रहने की गुफाओं चट्टान आश्रयों में चित्रकारी इत्यादि भी करने लगा था। इपने मतक का वह संस्कार जमीन में दबा कर करता था तथा साथ कुछ उपकरण भी रख दिया करता था।

तिथि

इस काल की बहुत से रेडियों कार्बन तिथियां हमें प्राप्त हुई है। जिनमें सबसे पहले की 8395 ई.पू. सराय नाहर राय से है। मध्य प्रदेश में आदमगढ़ से 5500 ई.पू., बागोर से 4480 ई.पू. उत्तर प्रदेश में लेखाहिया से 2410 ई.पू. तथा गुजरात में लंघनाज से 2040 ई.पू. है, इस प्रकार हम देखते हैं कि यह संस्कृति 8000-2000 ई. पूर्व के मध्य में पनपी।

उद्भव

भारत में युरोप, अफ्रीका, एशिया के अन्य भागों की तरह यह संस्कृति पनपी। परन्तु यह पश्चिमी एशिया फिलीस्तीन, मध्य एशिया की संस्कृति से अधिक मिलती है जिससे प्रतीत होता है कि इस संस्कृति बनाने वाले लोग यहां से उत्तर पश्चिम होते हुए भारत में आए। दूसरी ओर कुछ विद्वान ऐसी भी है जो यह मानते है कि यह संस्कृति यही पर ब्लेड तथा ब्यूरिन संस्कृति से बनी। इसके लिए कुर्नल तथा संगनकल्लु स्थलों का प्रमाण देते हैं। जहां मध्यपुरापाषाण संस्कृति, उत्तर पुरापाषाण से मध्य पुरापाषाण में परिवर्तित हुई।

अध्याय-3

नवपाषाण कालीन सस्कतियाँ

नवपाषाण कालीन संस्कृतियाँ

नवपाषाण शब्द उस काल को सूचित करता है जब मनुष्य को धातु के बारे में जानकारी नहीं थी। परन्तु उसने स्थायी निवास, पशु–पालन, कृषि कर्म, चाक पर निर्मित मदभांड बनाने शुरू कर दिए थे। इस काल की जलवायु लगभग आज कल के समान थी इसलिए ऐसे पौधे पैदा हुए जो लगभग आज गेंहू तथा जौ के समान थे। मानव ने उनमें से दाने निकालकर भोजन के रुप में प्रयुक्त करना शुरू कर दिया और पकने के विषय में भी जानकारी एकत्रित की। इस प्रकार स्थाई निवास की शुरूआत हुई। जिस कारण पशुपालन और कृषि कर्म को प्रोत्साहन मिला। कृषि और पशुपालन दोनों एक–दूसरे के पूरक है।

तकनीकी विकास और औजार

नवपाषाण संस्कृति समाज में हुए निम्न परिवर्तन को दर्शाता है। तकनीकी तौर पर मुख्य परिवर्तन यह हुआ कि इस काल के मानव ने औजार को घर्षित कर उन्हें पालिश करके चमकदार बना दिया। आर्थिक तौर पर परिवर्तन यह हुहा कि इस काल का मानव खाद्य संग्रकहर्ता से खाद्य उत्पादनकर्ता बन गया। नवपाषाण स्तर पर धामुक्रम के व्यापक संकेत नहीं मिलते, वास्तविक नवपाषाण काल धातुरहित माना जाता है। जहां कहीं नवपाषाण स्तर पर धातु की सीमित मात्रा दिखाई दी उस काल को पुरातत्वेताओं ने ताम्रपाषाण काल की संज्ञा दी है।

इस काल के मानव ने नई तकनीक से औजार का विकास किया जिन्हें घिसकर तथा पालिश करके चमकदार बना दिया गया। औजार बनाने के लिए सर्वप्रथम पत्थर के फलक उतारे जाते थे, दूसरी अवस्था में उसके ऊबड़–खाबड़ उभारों को साफ किया जाता था इसे पैकिंग कहा जाता था। ततीय अवस्था में उस औजार को किसी बड़े पत्थर या चट्टान से घिसकर साफ किया जाता था तथा उसके किनारों को घर्षित कर तीखा किया जाता था। अंतिम अवस्था में उन पर पशुओं की चर्बी या वनस्पति के तेल से पालिश करके चिकना किया जाता था। इस प्रकार नवपाषाणकाल के मानव में चिकने–चमकदार तथा सुडौल औजार बनाए। जिनमें कुल्हाड़ियाँ, छैनियां, हथौड़, बसौले, इत्यादि प्रमुख है। इसके अतिरिक्त हल, दाने अलग करने का औजार (गिरड़ी) तथा ब्लेड इत्यादि थे। ये औजार कृषि कर्म में उपयुक्त होने के अतिरिक्त गहकार्यों में भी प्रयोग किए जाते थे। इस काल में आए मानव के जीवन ने इन महत्वपूर्ण परिवर्तनों को कई विद्वानों जैसे कि गार्डन चाइल्ड ने नवपाषाण क्रांति की संज्ञा दी है। क्योंकि पाषाण काल के मानव की अपेक्षा इस काल के मानव में मूलभूत परिवर्तन हुए। पहले के काल में वह घुमक्कड़ था। इस काल में उसके जीवन में स्थायित्व आ गया। पहले वह खाद्य सामग्री के लिए प्रकृति पर निर्भर था इस काल में स्वयं अन्न उत्पादन करने लगा। मानव के जीवन में ये परिवर्तन अचानक से नहीं हुए बल्कि इन परिवर्तनों के प्रारंभिक स्वरुपों के शुरूआत हम पुरापाषाण काल एवम् नवपाषाण काल के बीच देखने को मिलती है।

इस काल से पूर्व पुरापाषाण काल तक की संस्कृतियों का स्वरुप जिस प्रकार अफ्रीका, यूरोप और एशिया के विभिन्न स्थलों पर एक समान दिखाई देता है, वैसा हमें नवपाषाण काल में देखने को नहीं मिलता। नवपाषाण संस्कृति के विकास की प्रकिया विभिन्न क्षेत्रों में अलग–अलग समयों पर हुई। इस काल की पहली अवस्था को मदभांड रहित नवपाषाण कहा गया क्योंकि इस काल में मदभांड कला की शुरूआत नहीं हुई थी। मदभांड रहित नवपाषाण के प्रमाण हमें जार्डन घाटी स्थित जैरिको, ऐन–गजल, हसिलियार मेरेयबिर, बीघा, मेहरगढ़ (पाकिस्तान) तथा गुफ्कराल (कश्मीर, भारत) इत्यादि से मिलते हैं। इस संस्कृति का प्रांरभ ई० पू० के आसपास हुआ। इनमें सबसे महत्वपूर्ण स्थल जेरिको था, जहाँ सर्वप्रथम इस संस्कृति का विकास हुआ। इसके अतिरिक्त मदभांड सहित नवपाषाण काल के प्रमाण भी इन्हीं क्षेत्रों से मिलते है; जो अपेक्षाकृत पहले के है।

ततीय अवस्था के प्रमाण हमें स्यिालक, फांयूम तथा (जो कैरो के समीप मिस्र में स्थित है, जारमों मेसोपोटामिया) इत्यादि ये मिलते हैं। यूराप में अल्पस पर्वत श्रंखला के उत्तर में नवपाषाण संस्कृति के प्रमाण बाद के काल के हैं और यह संस्कृति भी निम्न स्तर की है। मध्य यूराप में ड्रेवे से बाल्टिक तथा डेन्यूब और विस्तुला के मध्य क्षेत्र में इस संस्कृति के प्रमाण प्राप्त हुए हैं। यहाँ से गेंहू और जौ की कृषि एवम् पत्थर के औजार तथा पशुपालन के अवशेष प्राप्त हुए हैं। जर्मनी के राइनलैंड में शंख के बने आभूषण प्राप्त हुए हैं। कोल्न लिन्डस्थल के समीप एक विशाल घर के प्रमाण मिले हैं संभवतः यह पूरे समुदाय के लिए था। डेन्यूब से प्राप्त मदभांडों पर चित्रकारी के प्रमाण मिलते है। इसी प्रकार स्विटजरलैंड, बेल्जियम तथा ब्रिटेन में रेशेदार पौधे और अन्न पैदा किए जाने के भी प्रमाण मिलते हैं। स्विजरलैंड स्थित नवपाषण कालीन मानव झील में लकड़ी के खंबे गाड़कर उन पर अपना निवास स्थान बनाता था।

विस्तार

प्रथम चरण

भारतीय उपमहाद्वीप में कृषि पर आधारित जीवन, जिसमें गेंहू, जौ, भेड़ बकरी, पशु इत्यादि की भूमिका हो, सर्वप्रथम ब्लूचिस्तान के कूच्ची मैदानें में बोलन नदी (Bolan river) पर प्राप्त हुए है जिन्हे हम 7000 ई. पूर्व मान सकते हैं। इसके बाद भी अगली दो या तीन सहस्त्राब्दियों में यह प्रमाण ब्लूचिस्तान तक ही सीमित रहे। परन्तू इसके बाद प्रमाण झोब घाटी (Zhob Valley), क्वेटा घाटी (Quetta Valley) कलात पठार (Kalat plateau), लास बेला (Las Bela) मैदान इत्यादि में सीमित रहे। मेहरगढ़ के काल प्रथम (7000-6000 ई. पूर्व) में जौ जंगली तथा पैदा किए गए प्राप्त होते हैं। जबकि गेंहू के कम प्रमाण मात्रा में प्राप्त हुई है। इसके अतिरिक्त जंगली भेड़ बकरी गधा, हिरण, साभर तथा चितल, पानी की भैंस इत्यादि के साथ–2 इन्हे पालने के प्रमाण इन में भेड़ तथा पशुओं से घटते आधार से मिलते हैं। इस काल में मदभांड बनाने का प्रमाण नहीं है (Aceramic Neolithic)। मदभांड यहां काल II A में उपलब्ध होने शुरू होते है तो हाथ से बने हैं। मेहरगढ़ जैसी इस संस्कृति के प्रमाण हमें क्वेटा घाटी में किले गुल मुहम्मद (Kile Gul Mohammad) के काल प्रथा (5000-4500 ई. पूर्व)। झोब घाटी में राणा घुण्डाई (Rana Ghundai) के काल प्रथम से (4500-4300 ई. पूर्व कलात पठार में अंजीरा के काल प्रथम से भी हमें अद्धघुम्मकड़) लोगों के प्रमाण मिलते हैं। जो पशु इत्यादि पालते थे।

उत्तर पश्चिमी भारत :– जहां तक भारत का प्रश्न है यहां पर उत्तर पश्चिमी भारत में काश्मीर के पुलवामा (Pulwama) जिले के गुफकराल (Gufkral) नामक स्थान से सर्व प्रथम हमें नवपाषाण काल के प्रारम्भिक काल के प्रमाण मिलते हैं। यहां से प्राप्त काल–IA मदभांड रहित नवपाषाण है जिसमें उस काल में जमीन मे गड्ढे खोद कर रहता था (Pit dwellings)। जो ऊपर से 150 मीटर से 3.80 मीटर व्यास के थे। प्रारम्भिक काल में ये अधिक गहरे नहीं थे तथा इनके आसपास अनाज संग्रहण के गड्ढे (Pits) तथा चुल्हे थे। इन पर घास फूस की छत्त बनाई जाती थी। जबकि इसके अगले चरण में दो चैम्बर (Two Chambered) रहने के गड्ढे भी बनने लगे थे। इस काल के चुल्हे आयताकार तथा वताकार दोनों प्रकार के थे।

उपकरण :– इस काल में गुफकराल में रहने वाले पत्थर के पालिश दास उपकरणों का प्रयोग करते थे जिनमें कुल्हाड़ियां, प्वांइटस (Points), एक टूटा हुआ छेद वाला गोलाकार (ringstone) उपकरण, बड़ी सिल जो कि बट्टे के घिसने से बीच से घिस चुकी थी। इसके अतिरिक्त हड्डी पर बने प्वाइंटज (Points) तीराग्र, सूए, खुरचनीयां (Sirapers) के साथ–2 आंख वाली एक सूई इत्यादि प्राप्त हुई। आलंकरणों में यहां से सिलन्डरनुमा हड्डी का मण्का (bead), दो सेलखडी के जिनमें एक बैरल आकार का (barrel shaped) तथा एक सिलण्डरनुमा था, प्राप्त हुए हैं।

पशु :– इस काल में मानव मुख्यतः जंगली शिकार पर आश्रित था तथा पालतु प्रजाति के पशुओं का केवल प्रारम्भ ही हुआ था। जंगली जानवरों मे भेड़, बकरी, पशु (Cattle) बारासिंगा, लोमड़ी, हिरण की कई प्रजातियां थी। पालतु जानवरों में केवल भेड़ तथा बकरी के प्रमाण मिलते हैं।

अनाज :– इस काल में मानव जंगली जौ तथा गेंहू इक्ट्ठा करता था तथा कुछ सीमित स्तर पर इन्हे उगाना भी प्रारम्भ कर दिया था। इसके अतिरिक्त मसूर के प्रमाण भी प्राप्त हुए हैं।

इसके अतिरिक्त उत्तरप्रदेश की बेलन घाटी (Belan Valley) के कोल्डीहवा (Koldihwa) नामक स्थान से भी नवपाषाण से पहले मध्य पाषाण काल जंगली चावल के प्रमाण प्राप्त हुए बताए गए हैं। इसी तरह नवपाषाण में भी यहां चावल उपजाए जाने के प्रमाण हैं। यद्यपि यहां की तिथियों के बारे में तो विद्यवानों में मतभेद है। परन्तु एक अन्य स्थल चोपानी मान्डो (Chopani Mando) से भी जंगली चावल के प्रमाण प्राप्त हुए है। इसी तरह विन्धय क्षेत्र के एक अन्य स्थल कुन्झुन (Kunjhun) से नवपाषाण के कुछ ऐसे प्रमाण मिले हैं। इस से यह तो तय है कि इस क्षेत्र में सर्वप्रथम चावल जंगली अवस्था में स्वयं उगे मिलते थे तथा बाद में उनकी पैदावार शुरू कर दी गई क्योंकि कोल्हीहवा के धातु रहित (Metal free) स्तर से इस तरह के प्रमाण प्राप्त हुए है जबकि यहां मानव घास फूस पर गारा लगी दिवारों (Wattle and daub) वाले घरों में रहता था। पालिशवार कुल्हाड़ियों के साथ लप्पपाषाण उपकरण प्रयोग करता था। यहां हाथ से बनाई मदभांड (Pottery) के प्रमाण हैं जो कि ताम्राष्मीय संस्कृति से पहले के हैं।

द्वितीय चरण

नवपाषाण काल की द्वितीय अवस्था में मानव ने कृषि कर्म पूरी तरह से शुरू कर दिया था तथा एक स्थान पर रहना, पशु पालना, मदभांड कला का विकास इत्यादि प्रारम्भ को गया था। इस काल में मानव भोजन उत्पादक हो चुका था परन्तु इसके साथ– 2 वह थोड़ा बहुत जंगली जानवरों का शिकार भी करने लगा था। भारतीय उपमहाद्वीप में नवपाषाण की यह अवस्था सबसे प्राचीन मेहरगढ़ में ही प्राप्त होती है। यहां के काल I में मानव ने कच्ची ईंटों के घरों में रहना प्रारम्भ कर दिया था, नवपाषाण कालीन पालिशदार

उपकरणों जैसे कुल्हाड़ियों , बसलों, छैनियों, हथौड़ों के साथ–साथ लघु पाषाणीय उपकरण भी प्रयोग करता था। काल IIA में हाथ से बनी टोकरी से बने मदभांड बनने शुरू हो गए II-C में चाक पर बने बतर्न बनने शुरू हो गए जिन पर काली धारियों वाले डिजाइन बनने लगे। कृषि के लिए इस काल में सिंचाई का प्रारम्भ भी होने लगा।

उत्तरापश्चिमी भारत

भारत में नवपाषाण काल के कई क्षेत्र हैं जिनमे सबसे महत्वपूर्ण है उत्तरपश्चिमी भारत के गुफाकराल तथा बुर्जहोम (काश्मीर)। इन दोनों स्थलों पर मानव जमीन में गडे खोद कर रहता था पालिश दार पाषाण उपकरणों के साथ–2 हड्डियों के बने सुए (awls), सुइयां (needles), तीराग्र, छैनियां, हारपून (Harpoon) इत्यादि प्रयोग करता था। मदभांड कला का प्रारम्भ इस काल में हो गया था। इस काल के दूसरे उपकाल में मानव ने गडडों (Pit dwellings) में रहना छोड़ कर म्ट्टिी तथा मिट्टी की ईंटों के घर बनाने प्रारम्भ कर दिए। चाक का प्रारम्भ होने से चाक पर बने बर्तन बनने लगे। बुर्जहोम से मिले एक बर्तन पर तो बैल के सिर वाले देव का चित्रण है जिस तरह का गुमला (Gumla) तथा कोटदीजि (Kot Diji) से प्राप्त हुआ है। खेती इस काल में पहले से अधिक होने लगी थी। मुख्य फसलों में जौ, गेंहू, मटर, मसूर इत्यादि थे। पशु में भेड़, बकरी, गाय, भैंस, बटेर (fowl) थे। परन्तु अब भी कुछ शिकारी जानवरों को मार कर भोजन के लिए प्रयुक्त किया जाता था।

इस काल में मानव अपने मतकों को दबाता था तथा इनके साथ कभी– 2 कुत्ते, बकरी इत्यादि भी दबाए जाते थे पशुओं को अलग से दबाने के प्रमाण भी मिलते हैं। बुर्जहोन से एक स्थान पर 5 जंगली कुत्ते, एक बाराहसिंगा दबा मिला। पशु एवं मानव दोनों ही रिहाइसी क्षेत्रों में दफनाए जाते थे।

बुर्जहोम में पाषाण काल की इस अवस्था की तिथि 2400-1400 ई. पूर्व मिलती है। जबकि गुफकराल Gufkral में भी यह काल इसी के आसपास का है।

उत्तर पूर्वी भारत में नवपाषाण के प्रमाण हमें आसाम मेघालय इत्यादि की गारो, खासी तथा जयनतिया पर्वत क्षेत्रों से प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त देवजली हडिंग (Deojali Hading) थे उत्खनन से भी नवपाषाण उपकरण प्राप्त हुए है। इसके अतिरिकत सर्वेक्षण से भी पालिशदार नवपाषाण उपकरण प्राप्त हुए हैं। उत्तरी पूर्वी भारत में नवपाषाण दक्षिणी पूर्वी एशिया तथा चीन के नवपाषाण से प्रभावित है। इसकी तिथि 4000-2000 ई. पूर्व आंकी गई है।

पूवी भारत

पूर्वी भारत में बंगाल बिहार उड़िसा से हमें न केवल सर्वेक्षण से बल्कि उतवनवों से भी नवपाषाण काल के प्रमाण मिले हैं। पश्चिमी बंगाल के मिदनापुर (Midnapur) जिले के तमलुक (Tamluk) उड़िसा के म्युरभंज जिले के कुचई (Kuchai) तथा बिहार के चिरांद के उतवनन से हमें इस काल के प्रमाण मिले हैं इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण चिरांद है जहां यह काल 2500 ई. पूर्व से 1650 ई. पूर्व के मध्य आंका गया है। यहां पर इस काल में लाल, काले, काले तथा लाल एवं पीले तथा गहरे धूसर मदभांड प्रयुक्त होते थे। पाषाण उपकरणों में पालिशदार हथौड़े, छैनियां, बसौसे, तीराग्र, भेदनिया, ड्रिल (Drill) खुरचनिया (Scrappens), तीरे सीधाने वाले उपकरण इत्यादि प्रयुक्त होते थे। तीरकमान में तीराग्र तथा पकी मिट्टी के फेंक कर मारने वाली गोलियों (balls) का प्रयोग होता था। कृषि कर्म यहां अधिक मात्रा में नहीं होता था क्योंकि अधिकता अधिकतर जंगली जानवरों के शिकार पर आधारित थी। परन्तु फिर भी गेहूं, मूंग, चावल इत्यादि पैदा करने के प्रमाण हैं। ये लोग सुन्दर मणके तथा हार (pendauts) इत्यादि बनाते थे जिनके लिए कीमती पत्थरों का प्रयोए होता था साथ ही फियांस (faience) तथा पकी मिट्टी की चूड़िया भी बनाई जाती थी। पकी मिट्टी के खिलौनों में बैल तथा पक्षि आकृतियां बनाई जाती थी। यहां सांप की पूजा भी की जाती थी क्योंकि यहां से बहुत सी पकी मिट्टी की सर्प आकृतियां मिली हैं जिनके सिर (hood) पर फूल इत्यादि रखने के लिए छेद बने थे। पाकिस्तान के गुमला तथा हथाला (Hathala) से भी प्रकार की आकृतियां प्राप्त हुई हैं जिससे हमें सर्प की पूजा के प्रमाण नवपाषाण काल से ही मिलते हैं।

दक्षिण भारत

दक्षिण भारत में नवपाषाण काल में मानव कृषि तथा पशुपालन करता था। भारत के सभी क्षेत्रों में सर्वाधिक उत्खनित क्षेत्र यही पर है इनमें आंध्र के कोडेकाल, उत्नूर, नार्गाजुनीकोंडा, पलवाय, कर्नाटक के टेरडल, टेकलकोटा, हल्लूर, टी. नरसिंहपुर, ब्रह्मगीरि, पिकलीहल, तमिलनाडू के पैयम्पल्ली इत्यादि महत्त्वपूर्ण हैं। यहां से नवपाषाण की तिथि 2500-1000 ई. पूर्व के मध्य आंकी गई है।

दक्षिणी भारत की नवपाषाण संस्कृति का विशेष स्वरुप है इसमें तीखे पिछले भाए वाली (Pointed Butt end) पालिशदार कुल्हाड़ियों के साथ हड्डियों के उपकरणों का पाया जाना। मदभांडो में हाथ के बने धूसर बर्तन जोकि पिकलीहल (Piklihal) संगनकल्लु (Sangaukallu) तथा ब्रह्मगीरि (Brahmagiri) से प्राप्त हुए है मास्की से अधिकतर चाक पर बने बर्तन मिलते हैं। जो कि बाद के ही हैं।

इस काल में मानव पशु पालन भलीभांति करता था भैंस, भेड़, बकरी के पालने के प्रमाण हमें मिलते है। कृषि का कोई सीधा प्रमाण यहां नहीं मिलता परन्तु, सिलबट्टे, के दाने निकालने वाले मूसलों (Pounders) इत्यादि से इसका प्रमाण मिलता है। इसके अतिरिक्त नरकंकालों के घिसे दांन भी इसी ओर प्रमाण करते हैं। कुछ बर्तनों में भूसे तथा दानों के निशानों से यहां गेहुं, कुलथी, मूंग इत्यादि के प्रमाण मिलते हैं। परन्तु अधिकतर आर्थिकता पशुपालन पर आधारित थी। उत्नूर कोडेकाल, कुपगल से राख के अनेक टीले प्राप्त हुए हैं कुछ तो बस्तियों से दूर भी है। विद्वानों का मत है कि ये नवपाषाण कालीन पशुओं के बाड़ों के स्थल है जो कि गोबर के ढ़ेरों को आग लगने से राख में परिर्वतित हो गए होंगे।

इस काल के लोग झोपड़ियों तथा घरों में रहते थे ब्रह्मगिरी, मास्की, पिकलीहल से लकड़ी के खम्बों से बनी गोलाकार झोंपड़ियों के प्रमाण हैं जबकि पिकलीहल से आयताकार या वर्गाकार झोंपड़ियों की दीवारे बांस के स्क्रीन (Screen) दोनों ओर गारा लगाकर बनी है। फर्स गोबर या गारे से लीपे जाते थे यहां से चूने का प्रयोग होने के प्रमाण भी हैं। बाद में नवपाषाण कालीन मानव ने मिट्टी की या मिट्टी की ईंटों की दिवारों का भी प्रयोग घर बनाने के लिए किया। परन्तु प्राचीनतम घर या केवल फर्स इत्यादि थे जो कि चट्टान या कान्दराओं के सामुख बनाएगा।

पकी मिट्टी की आकृतियों में कूबडदार बैल नवपाषाण काल के प्रथम चरण से ही मिलने लगते हैं जो कि हाथ से बने थे, इनकी कूबड़ (hump) तथा नाक अलग मिट्टी लगा कर बने थे। क्योंकि बैल का इनकी आर्थिकता में काफी योगदान था इसी कारण यह उनके धर्म का भी रहा। जिसकी शायद वे पूजा करते थे। मानव आकृतियों में एक काले धूसर रंग की अर्धनारीश्वर जैसी आकृअि महत्त्वपूर्ण है।

नवपाषाण काल के तीन मानव कंकाल, जिनमें एक पुरुष, एक महिला तथा एक बच्चे का कंकाल है, से हमें उनके दफनाए जाने की प्रक्रिया का पता चलता है। पुरुष तथा स्त्री सीधे लिटाए गए थे जबकि बच्चा इनके साथ दफनाया गया था। इनके अध्यन से पता चलता है कि इस काल के मानव लम्बे, ह्रष्ठ पुष्ठ, मध्य आकार के सिर वाले तथा जिनका उपरी जबड़ा थोड़ा बाहर को था। ये आज काल के दक्षिण भारतीय द्रविड़ लोग के समान ही थे।

उपरीमध्य तथा पश्चिमी दक्कन क्षेत्र

इस क्षेत्र में कृष्णा तथा गोदावरी के अतिरिक्त इनकी सहायक नदियों से मुहाने से इस काल के प्रमाण अलग से तो नहीं मिलते बल्कि धातुक प्रारम्भिक चरण वाले काल या ताम्राष्मिय संस्कृति के साथ के हैं। परन्तु बीना की घाटी में ऐरण तथा दक्षिणी गुजरात में जोखा से दक्षिणी भारतीय नवपाषाण कालीन नुकीले कुंदा सिरों वाली (butt ended) त्रिभुजाकार कुल्हाड़ियां प्राप्त हुई हैं।

उत्तरप्रदेश, में कोल्डीहवा के उतवनन से नवपाषाण संस्कृति का पता चलता है तथा इसी प्रकार महागरा भी एक महत्त्वपूर्ण स्थल है। इन दोनों स्थलों से स्थाई निवास, कृषि उत्पादन (चावल इत्यादि) तथा पशु पालन (भेड़, बकरी आदि) के प्रमाण मिलते हैं। रस्सी के चिन्ह वाले मदभांड, पत्थर की कुल्हाड़ियां, छैनियां, बसौले इत्यादि अन्य प्रमाण भी प्राप्त होते हैं।

नवपाषाण काल की विशेषताएँ (Characteristics of Neolithic Age)

कृषि

नवपाषाण काल में सर्वाधिक क्रांतिकारी परिवर्तन कृषि की शुरूआत था। इस काल में मानव ने मिट्टी में बीज डालकर फसल उगानी शुरू कर दी। मानव ने इस काल में गेहूँ और जौ की खेती के अतिरिक्त चावल, बाजरे और मक्की के प्रमाण मिलते हैं। कपास की खेती के भी प्रमाण इस काल में मिलने शुरू हो गए। इस काल में सिंचाई व्यवस्था की शुरूआत भी हो गई थी। इस काल में कृषि के लिए उपर्युक्त फसलें और उनके अनुरूप कृषि के तरीके ही नहीं बल्कि भूमि की खुदाई के लिए और फसलों की कटाई, संग्रह तथा अनाज पीसने के लिए सिलबट्टे तथा भोजन बनाने के लिए विशेष औजार, बर्तन तथा तकनीक प्रयोग में लाई गई। हड्डी के बने उपकरणों का भी प्रयोग इस काल में हो चुका था जैसे :– मछली पकड़ने का काँटा इत्यादि। अनाज की अगली फसल पकने तक भण्डारन किए जाने के भी प्रमाण यहां से मिलते हैं। अन्न भण्डारण बर्तनों में किया जाता था।

मिश्र और मेसेपोटामिया के कुछ स्थलों से प्राप्त बर्तनों में लगी हुई चीजों के रसायनिक परीक्षण से पता चलता है कि यहाँ पर बीयर के रुप में जौ को पेय बनाना भी इस काल के मानव के रुप में जौ की कर पेय बनाना भी इस काल के मानव ने सीख लिया था।

औजार बनाने की विशेष तकनीक

नवपाषाणकाल के मानव का बौद्धिक स्तर पूर्वपाषाणकाल स्तर से काफी विकसित को गया था। इस समय जो औजार बने उनके बनाने में एक विशेष तकनीक अपनाई गई, उन्हें घिसकर और पॉलिश करके बनाया जाता था। सबसे पहले पत्थर की फलक उतारी जाती थी। फिर उबड़–खाबड़ हिस्सों को ठी किया जाता था। तत्पश्चात् उसकी घिसाई की जाती थी फिर उस पर Animal fat या कुछ तेल वाले वनस्पति पदार्थों आदि को लगाकर पॉलिश की जाती थी।

औजार

इस प्रकार मानव ने चिकने चमकदार तथा सुडौल हथियार बनाने की विधि का अविष्कार किया इसमें कठोर पत्थर की पालिशदार कुल्हाड़ी प्रमुख है। इस काल में हथौड़े, छैनी, खुर्पा, कुदाल, हल, हसिया तथा सिलकर का प्रयोग किया जाने लगा। ये औजरा कृषि और शिकार में प्रयोग किए जाने लगे। कम और ज्यादा मात्रा में प्रत्येक site से प्रमाण मिले हैं। भूमि खोदने के लिए सामान्यतः नुकीली छड़ी जिसके सिरे पर सुराख करके पत्थर लगा होता था, का प्रयोग होता था। परन्तु अधिकतर अफ्रीकी कबीले जमीन को खोदने में हल का प्रयोग करते थे। यूरोपीय तथा एशियाई जातियाँ भी ऐसा करती थी।

अन्य उपकरण

नव पाषाणकालीन मानव ने अपनी सुख–सुविधानुसार और भी उपकरणों का अविष्कार किया। उसने ऊपर चढ़ने के लिए सीढ़ी बनाई झीलों और नदियों को पार करने के लिए नाव का अविष्कार किया। फसल काटने के लिए दंराती, सूत कातने के लिए तकली तथा चरखा, कपड़ा बुनने के लिए करघों का निर्माण किया। इस काल के मानव को नरकूल की शाखाओं से सीढ़ियाँ बनाने की कला के बारे में भी जानकारी थी।

कातने या बुनने की कला

इस काल में कपड़ा बुनने की कला का भी अविष्कार हो गया था। अब वे लोग खाल व पत्तियों के वस्त्र पहनने लगे थे। करघे का अविष्कार एशिया में नव–पाषाण काल में हुआ था। यह अविष्कार अवशेष मिस्त्र तथा पश्चिमी एशिया में मिलते हैं। इस युग के मानव ने चरखे, तकले तथा करघे की सहायता से कपड़ा बनाना शुरू कर दिया था। स्विटजरलैंड से कुछ कपड़े के अवशेष, मछली पकड़ने के जाल का एक टुकड़ा तथा टोकरी प्राप्त हुई है। नव–पाषाण गाँवों में कपास के प्रमाण मिले हैं। यहाँ कपास की खेती और भेड़–पालन होता था। अतः कपड़ों का व्यापक प्रयोग इस काल में शुरू हो गया था। सुईयों से वस्त्र सीले जाते थे।

बर्तन निर्माण

यद्यपि मदभांड कला के प्रचलन से पूर्व भी नवपाषाण काल का एक उपकाल अवश्य था तथापि मदभांड होने की नवपाषाण काल की एक उपलब्धि माना जाता है। प्रारम्भ में तो ये बर्तन हाथ से, टोकरी की सहायता से बनाए जाते थे परन्तु बाद में चाक का प्रयोग प्रारम्भ हो गया था। इस काल में मानव अपनी आवश्यकतानुसार बर्तन बनाने लगा था। बर्तन चॉक पर भी बनाए जाते थे। अवशेषों में इस काल के पॉलिशदार मदभांड भी मिली है जो पकाने पर Pate या Pink रंग की हो जाती थी। पाकिस्तान के मेहरगढ़ से भी इसके प्रमाण मिले हैं।

पशुपालन

इस काल में कृषि के साथ–साथ मानव ने पशु पालन की आवश्यकताओं का अनुभव किया। पशु कृषि में तो सहायक होते ही थे, साथ ही इनसे दूध तथा मांस की प्रप्ति भी होती थी। इस काल में कुत्ता, गाय, भैंस, भेड़, बकरी, सूअर तथा बैल आदि पाले जाने लगे। ये पशु उस समय के मानव की लगभग सभी आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक, अर्थात मांस और दूध का स्त्रोत भी ये पशु ही बने, सिलाई–बुनाई के लिए भेड़ों से प्राप्त होने वाले रेशों का इस्तेमाल किया जाता था। पहिए के अविष्कार के परिणामस्वरुप पहले–पहले बोझे को ढ़ोने या आवागमन के लिए पशु का ही प्रयोग किया गया। सम्भवतः इस काल का पहला पालतु जानवर कुत्ता था। इस काल में मनुष्य पशुओं से काफी परिचित हो चुका था। वह यह समझने लगा था कि अगर पशु उनके समीप रहेंगे तो हव जब चाहेगा इनका शिकार कर सकेगा। इसलिए वह अपने खेतों से उत्पन्न चारा उन्हें देने लगा था। धीरे–धीरे आवश्यकता एवम् उपयोगिता के अनुसार पशुओं की संख्या बढ़ती चली गई।

उद्योग धंधे

इस युग में कृषि अविष्कार हो जाने से मानव भोजन की तलाश में इधर–उधर नहीं भटकता था। उसके जीवन में स्थिरता और वह अपना भरण पोषण एक की स्थान पर रहकर करने लगा। समय की उपलब्धता ने उसे उद्योगों एवं व्यवसायों को विकसित करने के लिए प्रोत्साहित किया। इस युग में चाक का अविष्कार हुआ जिससे मिट्टी के बर्तन बनाए जाने लगे। पहिए के अविष्कार से यातायात के साधनों का विकास हुआ। मानव ने घोड़ों तथा बैलों की सहायता से खींची जाने वाली गाड़ियां बनाई। कृषि के विकास से कपास उगाई जाने लगी जिससे वस्त्र निर्माण उद्योग भी विकसित हुआ। इस काल में मछली मकड़ने के लिए जाल प्रयोग में लाया जाता था। इसके प्रमाण मिले हैं, इससे स्पष्ट होता है कि मछली उत्पादन करने लगे थे। जलमार्ग से यातायात के लिए नाव का निर्माण किया।

व्यापार एवं दूरस्थ क्षेत्रों से सम्पर्क

देखा जाए तो ऐसा लगता है नवपाषाणकालीन गांव आत्मनिर्भर थे। अपनी आवश्कताओं की पूर्ति वे स्थानीय क्षेत्रों से ही पूरी कर

लेते थे। किंतु शायद कोई भी नवपाषाण समुदाय पूर्णतया आत्मनिर्भर नहीं था। आरम्भिक नवपाषाण गाँव और कब्रों में ऐसा सामान मिला है जो दूरस्थ स्थानों से आया जैसा कि सीप, जो कि भूमध्यसागर या लाल सागर से लाई गई थी। जिन्हे अच्छी किस्म का काटने वाला पत्थर, बढ़िया किस्म का चकमक पत्थर आदि दूर–दूर से लाए जाते थे। यातायात के साधनों के विकास ने व्यापार में प्रोत्साहित किया। व्यापार वस्तु विनिमय पद्धकि पर आधारित था। इस प्रकार हम देखते हैं कि नव–पाषाण कालीन समुदाय की आत्मनिर्भरता वास्तविक नहीं थी। इस काल में दूर दराज के क्षेत्रों से सम्पर्क शुरू हो गया था जैसे बिहार की चिरान्द नामक स्थल से प्राप्त नाग मूर्तियां पाकिस्तान के गुमला, हथियाला से प्राप्त मूर्तियों जैसी ही है। काश्मीर के बुर्जहोम से प्राप्त एक बर्तन पर चित्र सिंग वाले बैल का चित्रण भी गुमला से प्राप्त चित्र के सर्दश है इससे इन क्षेत्रों के आपस के सम्पर्क का पता चलता है।

आर्थिक व्यवस्था

नवपाषाण काल में नए–नए अविष्कार के परिणामस्वरुप मनुष्य का आर्थिक जीवन सुदढ़ हो गया था। स्थाई कृषि व्यवस्था से उत्पादन में वद्धि हुई। अब मनुष्य का सम्पति के प्रति लगाव बढ़ने लगा था। अपने परिवार के लिए उपयोग की वस्तुओं के संग्रह में व्यक्तिगत सम्पति की भावना को जागत किया। नव पाषाण काल में विनिमय व्यापारिक अर्थव्यवस्था प्रचलित थी। इस काल में मनुष्य ने रेशेदार फलों का उत्पादन आरम्भ कर दिया था। नवपाषाण अर्थव्यवस्था में विशेषकरण में चिन्ह प्रारम्भ हो गए। नवपाषाण कालीन समुदाय चकमक को खदानों से निकालने लगे थे। ये खान खोदने वाले वास्तव में खान खोदने के विशेषज्ञ थे।

श्रम विभाजन

इन नवपाषाण कालीन समाजों में किसी प्रकार का औद्योगिक श्रम विभाजन नहीं था। श्रम विभाजन था तो केवल श्रम स्त्री–पुरूषों के बीच था। स्त्रियां खेत जोतती थी। अनाज पीसती थी और पकाती थीं कातकर और बुनकर कपड़ा तैयार करती थी। बर्तन बनती और उन्हें पकाती थी। दूसरी तरफ पुरूष शायद खेत साफ करते झोपड़ी बनाते, जानवर पालते, शिकार करते और औजार व हथियार बनाते थे। समाज मे स्त्री की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी और प्राप्त प्रमाणों के आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि समाज मातप्रधान था।

स्थाई जीवन को प्रोत्साहन

पूर्व पाषाण काल में मनुष्य अपनी उदरपूर्ती के लिए इधर–उधर घूमता रहता था। परन्तु नवपाषाण काल में कृषि कार्य, पशुपालन तथा नए–नए अविष्कारों के कारण स्थाई रुप से रहना आरम्भ कर दिया। स्थायी रुप से रहने के लिए उसे घर की आवश्यकता महसूस होने लगी। प्रारम्भ में वह झाड़ों, घास–फूस व पत्तों का घर बनाकर रहता था। Pit-houses और Mud-houses के प्रमाण लगभग सभी नवपाषाण कालीन स्थानों पर मिले हैं नवपाषाणकालीन यूरोप और एशिया की जनसंख्या छोटे–छोटे समुदायों के रुप में गाँवों में रहती थी। नवपाषाण काल में सुरक्षा के लिए बस्तियाँ ऊँचे स्थानों पर बसाई जाती थी।

सामाजिक व्यवस्था

नवीन अविष्कारों से मानव जीवन सामाजिक व्यवस्था में भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। एक स्थान पर इकट्ठा रहने से उनमें सामाजिक संगठन आया जिसमें सब सदस्य मिल जूलकर कार्य करते थे। अनुमान है कि सामाजिक संगठन की इकाई कबीला था। हर कबीले के अपने–अपने चिन्ह होते थे। जिन्हें कबीले के सदस्य अपना आदि–पूर्वज मानते थे। कुछ विद्वानों के अनुसार इस काल में राजा का अस्तित्व आरम्भ हो गया था। परन्तु इसके बारे में निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

सामाजिक व्यवस्था में विवाह की नियमित व्यवस्था चल पड़ी। व्यक्तिगत सम्पति की प्रथा से आपसी संघर्ष को बढ़ावा मिला। आपसी संघर्ष तथा युद्ध में जो शत्रु पकड़े जाते थे। उनसे दबाव देकर काम कराया जाता था। इस प्रकार गुलाम की प्रथा भी चल पड़ी। कालान्तर में नगरों की भी स्थापना होने लगी।

इस प्रकार नव–पाषाण कालीन सामाजिक व्यवस्था पूर्व–पाषाण काल की व्यवस्था से काफी विकसित थी।

धर्म

नवपाषाण काल में मानव अपने मतकों को दफनाया करता था जिसके प्रमाण सभी क्षेत्रों से प्राप्त हुए है। कभी– 2 तो उनके साथ कुछ पालतु पशु जैसे कुत्ता, बिल्ली इत्यादि को भी दफनाया जाता था जिसका प्रमाण हमें उत्तरपश्चिमी भारत के कई स्थानों (गुफकराल तथा बुर्जहोम) से प्राप्त होता है। मतकों के साथ अन्य काम में आने वाली चीजों औजारों को रख देना आम बात थी। इस जन्म से दूसरे जन्म की आस्था इन लोगों को थी इसीलिए मतकों के साथ भाजन भी रखा जाता था।

बैल की आकृतियां तथा चित्रण इस काल में काफी मिलने लगा था। क्योंकि इनकी आर्थिकता में इस पशु का काफी योगदान था इसलिए इसकी पूजा भी की जाती थी। मातदेवी की पूजा का द्योतक नवपाषाण के स्थलों से पाई गई। पकी मिट्टी की स्त्री आकृतियों से लगाया जा सकता है। दक्षिण भारत के एक स्थल से एक ऐसी आकृति भी मिली है जो अर्धनारीश्वर जैसी प्रतीत होती है।

कला

इस काल में कला का विकास हो चुका था जो उन द्वारा बनाई गई मण्मूर्तियों तथा मदभांडों पर बने चित्रणों से होता है।

ज्ञान विज्ञान

इस काल के मानव का ज्ञान–विज्ञान पूर्व–पाषाण कालीन मानव के ज्ञान–विज्ञान से बहुत ही उन्नत था। उन्होंने शताब्दियों के प्रयोगों और अनुभवों द्वारा बहुत सी नई जानकारियां प्राप्त कर दी थी। नवपाषाण कालीन समुदायों के पास नए विज्ञान जैसे बर्तन बनाने का रसायन विज्ञान, पेय पदार्थ बनाने का विज्ञान या कृषि से सम्बन्धित वनस्पति विज्ञान और अनेकों ऐसे विज्ञान थे जो पुरापाषाण काल में अनजाने थे। उन्हें इस बात की भी जानकारी थी कि कृषि का जलवायु से घनिष्ठ संबंध होता है।

नवपाषाण काल वास्तव में एक क्रांतिकारी और युग प्रवर्तक काल था। इसे प्रगति का महान युग कहा जाता इस युग में बड़े की क्रांति अविष्कार हुए। प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के लिए मानव ने इस युग में प्रयास किए मनुष्य ने प्राकृति साधनों का प्रयोग करना इसी काल में सीखा, जिससे उसमें नई आशा उत्साह तथा उपलब्धि का संचार हुआ। इस काल में मानव सभ्यता का आधार वास्तव में स्थापित हो चुका था। इसी कारण इतिहासकारों ने इस युग को मानव सभ्यता का प्रथम क्रांतिकारी चरण माना है। इस काल के मानव में मनुष्यता तथा विवेक की जागति हो चुकी थी।

ताम्रपाषाणीय ग्रामीण संस्कृतियां

नवपाषाण काल में कृषि की शुरूआत के साथ ही मानव के जीवन में स्थायित्व आ गया था और साथा ही उसने पशुपालन की भी शुरूआत कर दी थी। इस काल का मानव अब खाद्य संग्रहकर्ता से खाद्य–उत्पादनकर्ता बन गया था। कृषि कर्म में प्रायः स्त्रियां संलिप्त रहती थी तथा शिकार में पुरूष संलग्न थे। हांलाकि कृषिकर्म अभी विस्तत पैमाने पर नहीं था। चाक पर निर्मित मदभांडों की शुरूआत हो चुकी थी, लेकिन अधिकतर टोकरी पर बने, हाथ निर्मित और घुमावदार तरीके से बनाए जाते थे। यह कार्य इस काल के मानव में अन्य कार्यों के साथ ही किए। मिश्र में फायूम तथा मेरिमदे नामक स्थलों पर तरीके से कृषि करने के प्रमाण नवपाषाण में मिलने शुरू हुए। सिंचाई व्यवस्था की भी शुरूआत हो चुकी थी। लेकिन इन सभी उपलब्धियों के लिए किसी प्रकार के विशेषीकरण की अभी आवश्यकता नहीं थी।

कालान्तर में जब मानव स्थायी तौर पर बसने लगा तथा जनसंख्या की वद्धि के कारण उनके भरण–पोषण के लिए जब अतिरिक्त अन्न की आवश्यकता पड़ी, तो इस जरूरत को पूरा करने के लिए नई तकनीक के विकास पर जोर दिया गया। तकनीकी क्षेत्र में यह परिवर्तन लाने में धातुओं के अविष्कार का बड़ा योगदान है। जिसके कारण इस समय के समाज में आमूल परिवर्तन आए। सर्वप्रथम मानव में जिस धातु का प्रयोग करना सीखा वह तांबा था। इसके पीछे कारण यह था कि तांबे तथा अन्य अलोह धातुओं से निकालना आसान है। क्योंकि इनकी गलाने की मात्रा कम है। तांबे को प्रयोग में लाने के लिए असे उसके धातुज्ञान का होना आवश्यक था। पहले उसे अलग करना या इससे पूर्व उसे वैसे ही पीट–पीट कर द्वारा औजार बनाए जाने थे या तांबे को गलाकर धातु अलग करना इसे तरीका कहते है। इसके लिए पर्याप्त तापमान का होना आवश्यक है। यह समस्त कार्य एक विशेषज्ञ ही कर सकता है। इस प्रकार समाज के ऐसे निपुण वर्ग की उत्पति हुई जो अन्न उत्पादन की प्रक्रिया में लगा हुआ था। इस वर्ग की खाद्य जरूरतों की पूर्ति कृषक वर्ग करता था तथा कृषकों के लिए औजार तथा वस्तुओं की पूर्ति यह कारीगर वर्ग करता था। दूसरे शब्दों में समाज के वे दोनों वर्ग एक–दूसरे पर आश्रित हो गए थे।

इस प्रकार इस काल में जब पाषाण के औजारों के साथ–साथ तांबे के औजारों का भी प्रयोग किया जाने लगा तो यह काल ताम्रपाषाण काल कहलाया। तांबे से निर्मित औजार पत्थरों के औजारों से ज्यादा प्रभावशाली थे, क्योंकि ये उनकी अपेक्षा तीखे थे और इन्हें किसी भी आकार में आसानी से ढाला जा सकता था। दूसरा तांबे से औजारों का निर्माण करना भी आसान था क्योंकि इसे पिघलाना आसान था और बाद में इसे कोई भी आकार देना भी सरल था।

तांबे के ज्ञान तथा इसके औजारों के प्रयोग से समाज में न केवल एक नए वर्ग का उदय हुआ हांलाकि इसके साथ ही नवपाषाणकालीन समाज की आत्म–निर्भर अर्थव्यवस्था के स्थान पर अतिरिक्त उत्पादन की आर्थिकता का उदय हुआ। क्योंकि समाज के इस विशेष कारीगर वर्ग को उसी अतिरिक्त उत्पादन में से ही अनाज दिया जाता था। दूसरे, तांबा सभी स्थानों से मंगवाया जाता था। इस कारण इस काल में व्यापारिक गतिविधियों की भी शुरूआत हुई। प्रारंभ में यह विनिमय प्रणाली (वस्तुओं के आदान–प्रदान) पर आधारित थी। वन गति–विधियों को बढ़ावा देने में घुम्मकड़ कबीलों या जातियों का विशेष योगदान रहा क्योंकि एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में घुमते रहने के कारण इन्हें विभिन्न प्रदेशों के प्राकृतिक संसाधनों की पूरी जानकारी रहती थी।

ताम्रपाषाणीय युग में धातु ज्ञान के अतिरिक्त और भी बहुत चीजों का अविष्कार हुआ जैसे कुम्हार की भट्टियां और चाक इत्यादि। इससे बर्तनों को अच्छी तरह बनाया तथा पकाया जा सका। इस कार्य को भी निपुण व्यक्ति या वर्ग ही सम्पन्न कर सकता था साधारण

व्यक्ति नहीं। इसलिए मदभांडों का निर्माण करने वाला एक अन्य वर्ग (कुम्हार वर्ग) भी इस काल में अस्तित्व में आया, जो अन्य उत्पादन गतिविधियों में किस्स नहीं लेता था।

इस काल में चूंकि कृषि से अधिक अन्न उत्पादन की आवश्यकता थी तो इसके लिए भी कृषि में नए–नए तरिकों का अविष्कार हुआ। अभी तक कृषि का कार्य अधितर स्त्रियां ही करती थी परन्तु अन्न उत्पादन की मांग में वद्धि होने के कारण मानव ने बैलों द्वारा हल खींच कर खेती करना आरंभ कर दिया। इस प्रकार उसने पशु शक्ति को काबू कर अपना प्रभुत्व भी बढ़ा लिया। इस काल के मानव ने व्यक्तिगत संपति की अवधारणा को अपना लिया। जिसके पास ज्यादा धन उसका ज्यादा महत्व। इसके साथ–साथ ईटों के घर बनाना, मुद्रांक का प्रचलन भी इस काल में शुरू हुआ जो व्यक्तिगत संपति तथा शक्ति का द्योतक था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ताम्रपाषाण युग विशेषीकरण का काल था। इसके अतिरिक्त पहिए वाली गाड़ी की शुरूआत हो गई जिससे एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना आसान हो गया।

सामाजिक जीवन (Social Life)

यद्यपि इस काल में लोगों का मुख्य व्यवसाय कृषि था लेकिन इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के शिल्प उद्योग भी अस्तित्व में आ गए थे। जैसेः धातु विशेषज्ञ, कुम्हार, कारीगर इत्यादि। इस प्रकार वर्ग की कार्य निपुणता इस काल में देखने को मिलती है समाज के विभिन्न वर्ग एक–दूसरे पर आश्रित थे। प्रत्सेक वर्ग का प्रत्येक काम के लिए विशेषिकरण देखने को मिलता है। इस काल मे लोगों ने विशेषिकरण में अत्यधिक विकास किया जिसकी भरपाई कृषकों द्वारा अतिरिक्त उत्पादन करके की गई। यहां भी पितसतात्मक समाज देखने को मिलता है। इस काल कुम्हारों तथा अन्य शिल्पियों के प्रशिक्षण कार्य में शिक्षा पुत्र का या शिष्य को दी जाती थी तथा लोगों के स्थानतरंण के प्रमाण मिलते हैं। ये लोग प्रायः व्यापार विनिमय द्वारा ही अपनी आवश्कताओं की पूर्ति कर लेते थे। इनका मुख्य व्यवसाय कृषि था। भारतीय स्थलों में इनाम गांव प्रमुख है जो कृषि पर ही आधारित ग्रामिण व्यवस्था में रहते थे। यहां पर जातीयता के प्रमाण सरदार के घर के प्रमाण बस्ती के केंद्र में होने से मिलते हैं। यहां पर अन्न संग्रह के लिए भी स्थान मिले हैं।

घर निर्माण

इस काल में लोग मुख्यतः स्थायी रुप से कच्ची ईटों या सूर्य की रोशनी में सुखाई ईटों के बने घरों में रहते थे। लोग गांवों में रहते थे जो खंडहरों के ऊपर बसाए जाते थे। यहां पर घर खांचे में तली सूर्य की धूप में पकी ईंटों से बनाए जाते थे। परन्तु कुछ स्थानों पर जैसे राजस्थान के क्षेत्र में कुछ घरों में पत्थरों के भी दीवारों के प्रमाण मिलते हैं। इसके विपरीत दक्कन क्षेत्र में घरों के प्रमाण जमीन के नीचे मिलते हैं जिनके छोटे कमरे होते थे। ये लोग चूने से निर्मित फर्श तथा दीवारों पर प्लास्टर करते थे। इनाम गांव में चूल्हों सहित बड़ी–बड़ी कच्ची मिट्टी के मकान और गोलाकाट गढ़ढों के मकान मिले हैं। यहां पर एक घर ऐसा मिला है जहां पर चार कमरे आयताकार एवं एक कमरा वर्गाकार है। यहां पर अन्न संग्रह तथा राजस्व के एग्रीकरण के लिए अलग से व्यवस्था देखने को मिलती है।

औजार

इस समय जो सबसे अधिक एवं महत्वपूर्ण परिवर्तन देखने को मिलता है वह है इस काल के औजारों में आया परिवर्तन, क्योंकि अब तांबे को विभिन्न आकृतियों में सुगमता से ढाल कर तथा पीटकर अधिक प्रभावशाली तथा मजबूत औजार बनाए जाते थे। हल्फ में तांबे के साथ पत्थरों तथा हड्डियों से बनाए गए औजारों के भी प्रमाण मिलते है। तांबे के औजारों में मुख्यतः चाकू तथा छुरी प्राप्त हुए हैं। स्थल में युद्ध होने के प्रमाण मिलते हैं क्योंकि यहां पर मछली पकड़ने का कांटा, बरछी, तलवार जोकि तेज धार वाले तांबे से बनाए गए औजार थे। ये औजार एक बार टुटने पर दोबारा ढाले जा सकते थे। इस प्रकार सभी स्थलों से प्राप्त औजारों में अधिकता तांबे के औजारों की मिलती है।

कला

इस काल के मदभांडों में विशेष रुप से परिवर्तन देखने को मिलते हैं। सभी स्थलों पर तेज गति से घूमने वाले चाक पर बनाई गई मदभांड के प्रमाण मिलते हैं। जोरवे (Jorwe) में कुम्हार द्वारा पहिए पर सुंदर बर्तन के बारे में प्रमाण मिलते हैं। यहां पर शिल्पी के बारे में भी प्रमाण मिलते हैं। यहां पर चरखें व तकलियाँ मिली हैं जिनसे इनके सूत कातने तथा वस्त्र निर्माण के प्रमाण मिलते हैं। ये चाकों पर मदभांड भी बनाते थे। इन्होंने कला के क्षेत्र में विशेषीकरण प्राप्त था। इस काल में सूती वस्त्र, रेशमी वस्त्र तथा चटाईयों के भी प्रमाण मिलते हैं तथा ये काफी डिजाइन की मिलती है। यहां पर हाथी दाँत से वस्तुएं तथा पकी मिट्टी की मूर्तियां भी प्राप्त होती है। इसी तरह लगभग सभी स्थलों पर बैलगाड़ियों के प्रमाण मिलते हैं। इनामगांव के शिल्पकार अधिक कुशल थे। यहां से विशेषतः कार्नेलियन, स्टेटाइट, क्वार्टज, क्रिस्टल जैसे महंगे पत्थरों के मोती मिलते हैं।

आर्थिक स्थिति (Economic Condition)

इनके आर्थिक जीवन में मुख्यतः व्यापार कृषि तथा पशुओं के बारे में जानकारी मिलती है।

1. **कृषिः** ताम्राष्मीय काल की लगभग सभी स्थलों की अर्थ व्यवस्था कृषि पर निर्भर थी। कुछ स्थलों पर अतिरिक्त उत्पादन के

लिए विभिन्न उपायों का प्रयोग किया गया। ये प्रायः कृषि को जोतने के लिए पशुओं का प्रयोग करते थे। इनकी मुख्य फसलें जौ, गेहूँ, बाजरा, चावल, मसूर तथा दालें तथा तिलहन थी इसके अलावा कुछ स्थलों पर सब्जियों के उत्पादन के प्रमाण मिलते हैं। कुछ स्थलों जैसे इनाम गांव से सूत के भी प्रमाण मिले हैं।

क्योंकि इस काल में कृषि करने के लिए बधिय कर जूले (yoke) की साथ बैलों का प्रयोग कृषि में करने लग गए थे इस लिए इन पशुओं को विशेष बाड़ों में रख अच्छी तरह खिलाया जाता था इन का गोबर इक्कठा कर खेतों में खाद के रुप प्रयोगों कर अधिक फसल ऊगाई जाने लगी।

2. **पशुपालनः** काफी मात्रा में पशुओं का पालतु बनाया जाना नवपाषाण में ही गया था पंरतु अब यह और भी अधिक देखने को मिलता है। स्यिालक में गाय, भेड़, बकरी इत्यादि को पालतू बनाया जाना देखने को मिलता जिनका प्रयोग दूध एवं मांस के लिए किया जाता था। बैल तथा ऊंट को भी पालने के प्रमाण मिलते हैं जिनकी सहायता से कृषि की जाती थी। ये इनका प्रयोग स्थलों से ताम्बे तथा हड्डी के बने मछली पकड़ने के कांटे प्राप्त हुए हैं जो मछली इत्यादि के शिकार के प्रमाण मिलते हैं। हल जोतने में काम लाने के लिए इस काल में बैलों को बधिया करने का काम शुरू किया गया तथा जूलो (Yoke) का प्रयोग इस काल में ही हुआ और भार वाहक के रूप में बैलों का प्रयोग दो तथा चार पहिए की (Wheeled) ढकी हुई गाड़ियों में किया जाने लगा।

3. **व्यापारः** ताम्राष्मीय काल में व्यापार का अत्यधिक प्रचलन देखने को मिलता है। लगभग सभी स्थलों पर अतिरिक्त उत्पादन किया जाता था जिसका मुख्य उद्धेश्य व्यापार करना था। कीमती पत्थरों, धातुओं इत्यादि के आयात के लिए कृषि उपजों को दिया जाता था। जिन्हें इन लोगों को जरूरत से अधिक उपजाना पड़ता था ताकि वस्तु विनिमय के आधार पर व्यापार में इन्हें प्रयुक्त किया जा सके। बैल गाड़ियों का प्रयोग व्यापार के लिए किया जाता था।

4. **धर्मः** यहां पर लगभग सभी स्थलों से लोगों की धार्मिक आस्था का पता चलता है लोग मतकों का संस्कार एक विशेष विधि द्वारा करते थे। मतकों के साथ खाने पीने की चीजें, आंगन में दबाते थे। इस काल में बैल की भी पूजा की जाती थी। उनका प्रयोग मांस, दूध तथा भारवाहक के रूप में मिलता है यहां ऊँट का प्रयोग मरूस्थल को पार करने के लिए किया जाता था। परन्तु इनामगांव में ये लोग विशेष रूप से उत्तर दक्षिण की ओर गाड़ते थे। यहां पर सभी स्थानों से किसी अराध्य देवी की पूजा के प्रमाण मिलते हैं।

भारत में ताम्राष्मीय संस्कृतियां (1750-1000 ई. पूर्व)

भारत में हड़प्पा सभ्यता की नगरीय संस्कृति के पश्चात् स्थानीय तथा ग्रामीण ताम्राष्मीय संस्कृतियों का उद्‌भव हुआ जब मान गांवों में मिट्टी के बने घरों में रहता था। यहां के कृषक अपनी जमीन जोतते थे तथा पशुपालन करते थे। मदभांडों से साथ ताम्बे की वस्तुओं का प्रयोग होना इस काल की विशेषता है। क्योंकि ये कृषक आवश्यकता से अधिक अन्न उपजा नहीं सकते हैं इस कारण न तो विकसित धातु क्रम ही प्रारम्भ हो सका न ही शहरीकरण हुआ। भारत में अलग–2 स्थानों पर ताम्राष्मीय संस्कृतियां विकसित हुई। यद्यपि उनका भोजन उत्पादन तथा तकनीक का स्तर तो एक समान ही रहा परन्तु अलग–2 के मदभांडों के प्रयोग के कारण वे एक दूसरे से भिन्न की जा सकती है तथा तिथिक्रम में 1750 से 1000 ई. पूर्व के मध्य में इन्हें रखा जा सकता है।

विभिन्न नदियों की घाटियों में हजारों की संख्यां में भारत में ताम्राष्मीय स्थल प्राप्त हुए है तथा इनमें से बहुत से उत्खनित भी हो चुका है। इस कारण उनके जीवन शैली का ज्ञान हमें भली भांति हो जाता है। भारत की ताम्राष्मीय संस्कृति 6 मुख्य क्षेत्रों में पनपी। इन में राजस्थान की आहाड या बनास संस्कृति (2) मध्य प्रदेश की ताम्राष्मीय संस्कृति (3) उत्तरी दक्कन की संस्कृति (4) दक्कन की ताम्राष्मीय संस्कृति (5) गंगा दोआब की ताम्रष्मीय संस्कृति तथा (6) पूर्व की ताम्राष्मीय संस्कृति।

राजस्थान की ताम्राष्मीय संस्कृति के मुख्य स्थल अहाड बागोर तथा गिलुण्ड हैं जो कि 2000 ई. पूर्व के आसपास की तथा सफेद चित्रों वाली काले तथा लाल (Black & Red) मदभांड प्रमुख्यता मिलते हैं जिनमें कुछ बर्तन हड़प्पा संस्कृति से प्रभावित है तथा सौराष्ट्र तथा मालवा की संस्कृतियों के अतिरिक्त इस संस्कृति के ब्लूचि स्थलों से भी सम्पर्क रहे। उत्खनन में पत्थर की नींव वाले मिट्टी के घरों के प्रमाण मिले। इनके गेहूँ पैदा करने के प्रमाण हैं तथा गाय, भैंस, भेड़, बकरी, सूअर इत्यादि पालते थे। जो इनके भोजन का अंग थे इसके अतिरिक्त मछली, कछुआ, बटेर इत्यादि वे खाते थे ताम्बे की कुल्हाड़ियां, बलेड, आदि औजारों के अतिरिक्त ताम्बे के गहने, जैसे अंगूठियां, चूड़ियां इत्यादि भी मिलती है।

मध्य प्रदेश की ताम्राष्मीय संस्कृति के महत्त्वपूर्ण स्थल कायथा महेश्वर, नावदातोली, नागदा, अवरा, मनोटी, ऐरण, बेसनगर इत्यादि हैं जहां के उत्खनन से इस संस्कृति का ज्ञान होता है। यहां पर समुहों में (clusters) में झोंपड़ियां बनाई जाती थी तथा कच्ची ईंटों के घर तथा नागदा, ऐरण इत्यादि में सुरक्षा दिवार के भी प्रमाण है। मदभांडों में कायथा प्रकार के मदभांड, लाल तथा काले मदभांड, काले डिजाइन वाली लाल मदभांड जिसे मालवा मदभांड (Malwa ware) के अतिरिक्त सफेद लेप वाली (नावदा तोली) मदभांउ कला महत्त्वपूर्ण है तथा धूसर रंग थी जोरवे मदभांड कला (Jorwe ware), धूसर मदभांड इत्यादि हैं। इन मदभांड कलाओं के बने कप,

कटोरे, थालियां, चाय का बर्तन(Tea Pot) काफी सुन्दर थे। यहां पर बहुत से प्रकार के अनाज तिलहन, दालें तथा फल पैदा करने के प्रमाण हैं। पशुओं में बैल, गाय, सूअर, भेड़, बकरी, हिरण तथा घोड़ा इत्यादि पालते तथा खाते थे। मछली पकड़ने में भी ये निपूण थे। ताम्बा तथा कांसे के औजारों तथा गहनों के अतिरिक्त सोने के गहने, बहुमूल्य पत्थरों के मणके ये प्रयोग करते थे। पकी मिट्टी के खिलौने काफी मात्रा में इन स्थानों पर मिलते हैं जिनमें बैल, पक्षी इत्यादि प्रमुख है।

उत्तरी दक्कन क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थल अहमदनगर जिले के जोरवे (Jorwe), नेवासा तथा दैमाबाद, पूणे के चन्दोली, सोनगांव तथा इनामगांव (Inamgaon) के अतिरिक्त प्रकाश तथा बहल इत्यादि है जिससे यहां की संस्कृति के प्रमाण मिलते हैं। इनामगांव तथा नेवासा में गडढे खोद कर बने घर (Pit houses) के प्रमाण हैं बाद में आयताकार घर भी बनने लगे जिनकी छतें घास फूस की बनी थी। इनामगांव में पत्थरों तथा मिट्टी से बनी किले की दिवार भी मिली है। मदभांड में सर्वप्रथम पीले धूसर रंग के सफेद डिजाइन वाले बर्तन प्रकाश तथा नेवासा से प्राप्त हुए। उसके बाद मालवा प्रकार के काले रंग से चित्रित लाल मदभांड जिनमें टोटीदार लोटा महत्त्वपूर्ण हैं मिलने शुरू हुए। परन्तु दैमाबाद (Daimabad) से सुन्दर बर्तन मिले हैं परन्तु प्रमुख प्रकार थी जोरवे (Jorwe) प्राप्त मदभांड जिनमें लोटे, कटोरे, टोटीदार बर्तन प्रमुख हैं जिन पर स्वस्तिक पशु आकृतियां तथा जामितिय (Geomatric) डिजाइन बने हैं ये लोग कपास, सण (flax) तथा रेशमी कपड़े पहनते थे तथा ताम्बे, हाथी दांत, कीमती पत्थरों के मणके के साथ–2 हड्डी तथा पकी मिट्टी के गहने भी पहनते थे ताम्बे का प्रयोग औजार बनाने के लिए होता था जिनमें कुल्हाड़ियां, छैनियां, छुरे, मछली पकड़ने के कांटे इत्यादि प्रमुख थे। यहां के कृषक गेहुं, जौ, बाजरा, तिलहन, चना, मटर पैदा करते थे। बेर, खजूर के प्रमाण भी मिले हैं पशुओं में वे भेड़, बकरी, गाय, भैंस, गधा, घोड़ा पालते थे तथा बराहसिंग, नीलगाय, हिरण, साम्भर, तीतर, बटेर का शिकार तथा मछली इत्यादि पकड़ते थे। अपने मतकों के साथ बर्तन, भोजन इत्यादि रखते थे।

दक्षिण भारत में बहुत से स्थानों से ताम्राष्मीय संस्कृति के प्रमाण मिलते हैं। इनमें ब्रह्मगिरी, मास्की, पिकलिहल, संगनकल्लु, टैकलकोटा, हल्लूर, उत्नूर, कुपगल, टीनरसिंहपुर इत्यादि से इस संस्कृति के प्रमाण मिलते हैं। जिसकी विशेषता यह है कि यहां नवपाषाणीय उपकरण भी प्राप्त होते हैं जिस कारण इस संस्कृति को नवपाषाण–ताम्राष्मीय संस्कृति कहा जाता है।

गंगा दोआब में भाद्राबाद, बड़गांव, अम्बाखेड़ी, बरिछत्रा, अतरंजीखेड़ा, आलमगीरपुर नोह इत्यादि से ताम्राष्मीय संस्कृति के प्रमाण हैं। यहां गेरुए रंग के बर्तनों के साथ ताम्बे की निधियां भी प्राप्त हुई हैं। गेरुए रंग के बर्तन उत्तर हड़प्पा संस्कृति से मिलते जुलते हैं इसी कारण कई विद्यवान इन्हे हड़प्यायी रफूजी (Refugee) भी कहते हैं। ताम्बे के औजारों में कुल्हाड़ियां, हारपून, हुकवाला भाला, मूठे वाली तलवार, पुरूष आकृति (anthropomorphic figure) इत्यादि हैं।

पूर्व की ताम्राष्मीय संस्कृति के प्रमुख उत्खनित स्थल बिहार के चिरान्द, सोनपुर, वैशाली, मनेर, ओरपूप, बंगाल के पांडुराजर धीबी, महिस्दाल, ननुर, हरईपुर (बीरभूम जिला) बंकुरा का थुसीपुर इत्यादि हैं। यहां पर सामान्यता काली तथा लाल मदभांड कला का प्रचलन था जो 1700 ई. पूर्व के आसपास की है। मिट्टी की इंटों का प्रयोग घर बनाने तथा चूने और मिट्टी मिला फर्स बनाए जाते थे। अन्न उगाना, पशुपालन, शिकार, मछली पकड़ना लोगों के व्यवसाय थे चावल का प्रमाण पांडुराजर धीबी से मिलता है ताम्बे के औजार, मछली पकड़ने के कांटे, गहनों का प्रयोग होता था। कीमती पत्थरों के मणके, हड्डी के कंघे, ताम्बे की सुरमा डालने की सलाई इत्यादि का प्रयोग होता था। कातने बुनने की कला में भी ये दक्ष थे।

सारांश

इस प्रकार ताम्रपाषाणीय युग जिसने नवपाषाण संस्कृति का स्थान लिया, समाज में अब आत्म–निर्भर अर्धव्यवस्था का स्थान अतिरिक्त उत्पादन प्रणाली ने ले लिया। इस प्रक्रिया में विशेषज्ञों का योगदान काफी रहा इन विशेष वर्गों में कारीगर धातुकार, कुम्हार इत्यादि शामिल थे। धातु प्रचलन में आने से पाषाण उपकरणों की संख्या में कमी आई। इसके बाद के काल में तो धीरे–धीरे पाषाण उपकरण प्रायः लुप्त से हो गए। तांबे धातु के ज्ञान से ही धीरे–धीरे मिश्रित धातुओं को बनाने की कला का विकास हुआ। कांलान्तर में तांबे और टीन को मिलाकर कांस्य धातु का निर्माण किया गया, जिस काल में संस्कृति के स्थान पर सभ्यताओं का विकास हुआ। इसके अतिरिक्त इस काल में शुरू हुई सिंचाई व्यवस्था, मुद्राकों का प्रचलन बड़े–बड़े सार्वजनिक भवनों और मम्पिरों के निर्माण इत्यादि ने सभ्यताओं के विकास में अपना एक अनुठा योगदान दिया।

अध्याय-4

हड़प्पा सभ्यता (Harappan Civilization)

बीसवीं सदी के तीसरे दशक में (1922-23) में जब राखलदास बैनर्जी मोहन जोदड़ो नामक स्थल पर एक बौद्ध स्तूप का उत्खनन कर रहे थे तो उन्हें चित्राकृति लेख वाली मुहरें प्राप्त हुई जिससे एकाएक भारत की सभ्यता हजारों वर्ष पहले प्रागौतिहास काल में आंकी जाने लगी। इससे पहले केवल पाषाण काल तथा नवपाषाण काल के उपकाणों तथा पाँचवी सदी इ.पू. की पिपरावा लेख ही प्राचीन माने जाते थे। जबकि आर्य या वैदिक सभ्यता को ई.पू. से पहले नही माना जा सकता था। सर जॉन मार्शल ने, जो सिन्धु सभ्यता के मुख्य उत्खनकर्ता थे उन्होंने इस सभ्यता को उस समय 3250-2750 ई.पू. रखा। प्रारम्भ में इस सभ्यता के प्रमाण सिन्धु तथा इसकी सहायक नदियों के आस–पास से प्राप्त हुए थे। इसलिए विद्वानों ने इसे सिन्धु घाटी सभ्यता का नाम दिया गया था हड़प्पा से सबसे पहले प्राप्त होने के कारण इसे हड़प्पा सभ्यता भी कहा जाने लगा। लेकिन स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात प्रमुख सिन्धु स्थल पाकिस्तान चले गए उस समय भारतीय पुरातत्ववेताओं ने भारतीय क्षेत्र में इस सभ्यता के अवशेष ढूढंने शुरू किए। सर्वप्रथम रोपड़ कोटला निहंग खान आदि स्थलों से इस सभ्यता के प्रमाण मिले लेकिन अब तो इसके अवशेष पंजाब, हरियाणा, जम्मुक्षेत्र, पश्चिमी उतर प्रदेश, राजस्थान, महाराष्ट्र इत्यादि से भी प्राप्त हुए हैं। इसके बहुत से क्षेत्र सिन्धु या इसकी सहायक नदियों पर स्थित न होकर अन्य नदियों पर स्थित थे इसलिए अब इस संस्कृति को सिन्धु घाटी की सभ्यता न कहकर सिन्धु सभ्यता या हडप्पा सभ्यता के नाम से जाना जाता है।

उद्‌गम (Origin)

हडप्पा सभ्यता के अस्तित्व में आने से पूर्व इस क्षेत्र में कृषि समुदायों के विकास की एक लंबी अवधि रही है। इस क्षेत्र में प्रारम्भिक कृषि समुदायों के प्रामाण बोलने दर्रे के पास महरगढ़ नामक स्थान से प्राप्त हुए हैं। रेडियों कार्बन तिथि सक स्पष्ट होता है कि ईसा से 5000 वर्ष पूर्व इस क्षेत्र के निवासी गेहूँ तथा जौ की खेती से परिचित था। धीरे–धीरे इन्होंने सिन्धू के मैदानों में कृषि कार्यों को बढ़ाया और सिन्धू नदी की बाढ़ पर नियत्रण करना सीखा। सिन्धु, राजस्थान और ब्लुचिस्तान के क्षेत्रों पर अपना नियत्रण कर बस्तियां स्थापित की। इन क्षेत्रों में रहने वाले विभिन्न कृषि समुदायों में सांस्कृतिक परम्पराओं की समानता थी। जैसे :– एक ही प्रकार के मदभाड़ों का प्रयोग, मातदेवी की मिट्‌टी की मूतियां, सांग वाला बैल देवता आदि प्रमाण इस बात की और इंगित करते है कि किस प्रकार इस समूचे क्षेत्र में एक सम्मिश्रित परम्परा का उदय हुआ। कृषि विकास की यह प्रक्रिया जो संभवतः ईसा पूर्व सांतवी शताब्दी में ब्लूचिस्तान से शुरू हुई वह ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी के आसपास सिंधु घाटी के सिन्ध और पंजाब तक प्रचलित हो गयी। आगे यही प्रक्रिया पूर्व की ओर बढ़ती हुई प्राचीन सरस्वती घाटी की परिधि तक फैल गई। पुरातात्विक अध्ययन से पता चलता है कि इन क्षेत्रों में परस्पर–क्रियांए होती थी। ब्लूचिस्तान और सिंधू घाटी में प्रारंभ के कृषि विकास तथा बाद में इसी क्षेत्र में पनपी हडप्पा सभ्यता के बीच निकट संबध रहे है।

हडप्पा सभ्यता के उद्‌गम का विषय लबें अरसे से विवादाग्रस्त विषय रहा है। यूरोपिय विद्वान खासतौर से सर मोर्टिमर व्हीलर ने सन् 1968 में हडप्पा सभ्यता की उत्पति के विषय में लिखा कि प्राचीन विश्व के अन्य क्षेत्रों की तुलना में भारत में नगरीय संस्कृति का उदय देर से हुआ। इनके अनुसार ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी के मध्य में सिन्धु क्षेत्र में हडप्पा संस्कृति अचानक प्रकट हुई अर्थात इनके अनुसार हडप्पा सभ्यता अपने सबसे प्रथम चरण में ही पूर्ण रूप से विकसित हो चुकी थी और इस संस्कृति का इससे पूर्व समय में रहने वाले व्यक्तियों में कोई समानता नही थी। इसका अभिप्राय यह हुआ कि इस सभ्यता की स्थापना में बाहरी तत्वों का समावेश था। इनके अनुसार मेसोपोटानिया तथा पश्चिमी एशिया से आई जातियों में इस क्षेत्र को जीतकर यहाँ नगरों की स्थापना की। इनका अभिप्राय यह था कि सभ्यता के उदय का विचार विदेश से संभवतः मेसोपोटानिया से आया, क्योंकि विचार पक्षियों की भांति उड़ते हैं। पुरातात्विक अनुसंधानों द्वारा इस सभ्यता की जाति के विषय में अब यह स्वीकार किया जाने लगा कि इस सभ्यता की उत्पति और विकास धीरे–धीरे स्थानीय संसाधनों द्वारा ही संभव हुआ है। इस क्षेत्र में मानव शिकारी–संग्रहकर्ता से कृषि समाज की ओर कैसे अग्रसर हुआ इस प्रक्रिया के स्पष्ट चिन्ह मैजूद है। इस प्रक्रिया को समझने में महरगढ़ ब्लूचिस्तान, रहमान ढेरी–उतर–पश्चिमी सिन्धु प्रान्त, अमरी–सिन्धु घाटी के निचले मैदान कोटदीजी तथा कालीकंगा – राजस्थान तथा पंजाब की आंरभिक हडप्पाकालीन बस्तियों से विशेष जानकारी प्राप्त होती है। इन क्षेत्रों की (ब्लूचिस्तान, सिंध, पंजाब, राजस्थान आदि) बस्तियों में एकरूपता के प्रमाण स्पष्ट दिखाई पड़ते है। जैसे मण्यमूर्तियों, मदभांड, घर–दिवारें, परकोटे, नगर–निर्माण तथा हस्तशिल्प में समानता स्पष्ट दिखाई देती है। इस क्षेत्र में हुआ यही विकास क्रम हडप्पा सभ्यता को विकसित स्वरूपी ओर ले जाता है।

सिन्धु सभ्यता के उद्गम के बारे में विद्वानों के भिन्न–भिन्न मत है इसका कारण यह है कि जब इस सभ्यता का पता चला तो दुनिया के सामने यह एक फली–फूली अवस्था में ही दिखाई दी तथा इसी कारण अनेक विद्वानों ने इसे कहीं बाहर से आए लोगों द्वारा बसाई सभ्यता माना। सर जॉन मार्शल ने तो शुरू में हडप्पा तथा मोहन जो दड़ो से प्राप्त सभ्यता को इण्डो सुमेरियन सभ्यता (Indo-Sumerian civilization) का नाम दिया। परन्तु कुछ वर्षों बाद उन्होंने इसे केवल सिन्धु सभ्यता (Indus civilization) का नाम दिया क्योंकि उनके मत अनुसार इण्डो–सुमेरियन सभ्यता नाम इसे सुमेरियन सभ्यता का भारतीय प्रारूप होने का भ्रम देता था। जी.आर. हंटर इस सभ्यता को आध–भारतीय(Proto Indian) मानते थे। हाल ही में कुछ विद्वान इसके पूर्णतया भारतीय उद्भव का मान इस सरस्वती नदी के आसपास उद्भव हुई मान कर सिन्धु सरस्वती या केवल सरस्वती सभ्यता ही नाम देते हैं।

इसके अतिरिक्त बहुत से विद्वान इस सभ्यता के जन्मदाताओं को द्रविड, ब्रहुई, असुर, व्रात्य, वाहिक, दास, नाग तथा आर्य इत्यादि भी मानते है। कुछ विद्वानो का मत है कि सिन्धू सभ्यता को बनाने वाले दगविड भाषी थे। परन्तु सिन्धु सभ्यता के लोग तो अपने मतकों को गाडते थे जबकि द्रविड ऐसा नही करते थे तथा न ही दक्षिण भारत में हमें इस सभ्यता का कोई प्रारूप देख सकते है। इसी तरह पणि, व्रात्य, वाहीक, असुरो, दासो, नागो से इस सभ्यता का कोई प्रमाण है। जहां तक आर्यों का इस सभ्यता के सजनकर्ता होने का प्रश्न है इसके भी प्रमाण हमें नही मिलते क्योकिं ऋग्वेद जो आर्यों का प्राचीनतम ग्रन्थ है, की संस्कृति तो गडरियों तथा कृषकों की ग्रामीण संस्कृति थी जबकि सिन्धु सभ्यता नगरीय सभ्यता थी। आर्यों के भारत में आने के प्रमाण के 1500 ई०पू० के नही है जबकि यह सभ्यता इससे कम से कम हजार वर्ष पूर्व की है। सर जॉन मार्शल ने सिन्धु सभ्यता को आर्यों की सभ्यता होने को नकारते हुए कहा है कि सिन्धु सभ्यता के देव शिव को वैदिक आर्यों ने अपनाया तथा न ही सिन्धू सभ्यता के लोगों की संस्कृति आर्यों की तरह अश्व केन्द्रित ही थी। यद्यपि उन्हें घोड़े का ज्ञान अवश्य था। हाल ही में श्री० आर० एस० विष्ट महोदय ने सिन्धु सभ्यता तथा आर्य संस्कृति की समानताओं पर एक लम्बा लेख लिखा। इसी तरह डा० भ्गवान सिंह तथा कुछ अन्य विद्वान सिन्धु सभ्यता को आर्यों से मिलाने का प्रयत्न करते हैं परन्तु वास्तविक्ता अलग ही है। आर्य संस्कृति सिन्धु सभ्यता से काफी बाद की है। हाल ही में श्री जगतपति जोशी ने कुछ स्थलों के उत्खनन के आधार पर यह दर्शाने की चेष्टा की है कि उत्तर हडप्पा संस्कृति (Late Harappan Culture) के समय में चित्रित धूसर मदभांड (Painted Gray Ware) प्रयोग करने वाले लोग, जिन्हें कुछ विद्वान आर्यों से सम्बन्धित मानते है, बाद के काल में इकठ्ठे भी रहे। इस प्रमाण के आधार पर भी यदि चित्रित धूसर मदभांड प्रयोग करने वाले आर्य ही थे। मान भी ले तो भी इस सभ्यता को आर्यों से सम्बघित नही मिलाया जा सकता है।

पिछले कुछ दशकों में हुए उत्खननो के आधार पर हमें सिन्धु सभ्यता के उद्भव के बारे में महत्वपूर्ण प्रमाण मिले है। श्री ब्रज बासी लाल ने सिन्धु सभ्यता के निम्नलिखित (Features) बताए है।

(1) एक सुनियोजित नगर व्यवस्था (2) घरों का मुख्य दिशाओं की बनना (3) नगरों में किला बन्दी की व्यवस्था (4) गढी तथा निचला शहर अलग–2 होना (5) ईटों का माप 4:2:1 अनुपात में होना (6) पक्की ईटों का प्रयोग (7) बड़ी सार्वजनिक इमारतों जैसे अन्नागार, सभागार, स्नानागार इत्यादि का होना (8) सुनियोजित नालियों की व्यवस्था (9) कुछ विशेष प्रकार के के लाल रंग के बर्तन जैसे बीकर, अंग्रेजीं शब्द 'S' आकार के बर्तन (10) कुछ विशेष चित्रित डिजाइन जैसे पीपल, केले का पत्ता, एक दूसरे को काटते वत इत्यादि पाया जाना (11) भेद कर बने (etched) कारनीलियन (Carnelian) के मणते तथा फ्यांस (faience) की चूड़ियां (12) दूर–दराज के क्षेत्रों से व्यापार का होना (13) विशेष प्रकार के बाट–बटखरे तथा माप का होना (14) धातु एवं प्रस्तर की मूर्तियों का पाया जाना (15) लिपि का होना, मुद्राओं (Seals) का पाया जाना इत्यादि।

सिन्धु सभ्यता के उद्गम को जानने के लिए हमें इन सभी प्रमाणों को देखना जरूरी है। पिछले कुछ दशकों में हुए उत्खननों से अग यह प्रमाणित हो गया है कि ये सभी प्रमाण सिन्धु सभ्यता वूर्व की संस्कृतियों में किसी न किसी रूप में विद्यमान है तथा इन्हीं के इकठ्ठा होने (Culmination) से इस सभ्यता का विकास हुआ है।

पाकिस्तान में मेहरगढ़ से काल–III से अन्नागार के प्रमाण मिले है। ब्लूचिस्तान में किसी गुल मुहम्मद (Kile Ghul Mohammad) से मेहर गढ़ जैसे प्रमाण मिले है तथा यहाँ के काल–B से 4:2:1 अनुपात वाली ईटों के प्रमाण, लैपिज ल्जूली (Lapiz Lazuli) के प्रयोग का हडप्पा सभ्श्ता के पूर्व का मिला है।

यहाँ के काल–III में अननागार जैसे भवन के प्रमाण भी मिले है। काल–IV जोकि 3500-3000 ई०पू० का है, में मदभांडो पर लिखाई (Graffiti) के प्रमाण मिले मेहरगढ़ के समीप नौशरो (Nausharo) से विशेष प्रकार की सिन्धु सभ्यता वाली मदभांड कला तथा उस पर पीपल, फिश स्केल (Fish scale), कुबड़दार बैल चित्रित है, लैपिज ल्जूली का प्रयोग तथा एक कच्ची ईटों के चबूतरे के प्रमाण मिले है। सिन्धु के पश्चिम में बसे गुमला(Gumla) तथा रेहमान ढेरी (Rehman Dheri) से भी सिन्धु सभ्यता से पहले 4:2:1 अनुपात वाली ईटों का प्रयोग, विशेष मदभांड प्रकार स्टैड–पर–प्लेट (Dish-on-stanud) इत्यादि प्राप्त हुए है। रेहमान ढेरी के काल–I (3000

ई०पू०) से लिखाई के प्रमाण इसके काल–II से सिन्धु सभ्यता के चित्रित डिजाइन, किले की दिवार के प्रमाण इत्यादि प्राप्त हुए है। इसके अतिरिक्त अमरी (Amri), कोट दिजी (Kot Diji), जलीलपुर, हडप्पा, राजसथान में स्थित कालिबंगा, हरियाणा के बन्नावाली तथा कुणाल (Kunal) से भी सिन्धु सभ्यता के उद्‌भव पर विशेष प्रकाश पड़ता है। अमरी के काल–II (3500 ई०पू०) में भी चौपट या शतरंज (Chess board) डिजाइन का पाया जाना, विशेष चित्रित डिजाइनो का होना, विशेष प्रकार के मदभांड तथा लेखन कला के प्रमाण प्राप्त होने प्रारम्भ हो गये। कोटदिजी (Kot Diji) के काल प्रथम (3000 ई०पू०) में चर्ट (Chert) ब्लेड का प्रयोग पककी मिट्‌टी के केक (Terracotta Cakes), सिन्धु सभ्यता के विशेष आकार एवं चित्रित डिजाइन के बर्तन सींग वाला देव, घरों का मुख्य दिशाओं की ओर बनाया जाना, 4:2:1 अनुपात की ईटों का मिलता है।

जलीलपुर, जाकि कोटदिजी के समकालीन है, से विशेष प्रकार के बर्तन, चित्रण पक्की मिट्‌टी के खिलौना गाड़ी (Terracotta toy-cart) चर्ट के ब्लेड, फ्यांस (faience) की चूड़ियाँ इत्यादि प्राप्त होती है।

हडप्पा से हमें सिन्धु सभ्यता से पूर्व काल प्रथम में ही घरों तथा अन्य भवनों का मुख्य दिशाओं की ओर बनाये जाने के प्रमाण, 4 : 2 : 1 अनुपात की कच्ची ईटें, किला होने के प्रमाण विशेष प्रकार के मदभांड तथा चित्रित डिजाइन पक्की मिट्‌टी के केक (terracotta cakes) इत्यादि मिलने लगते है जो सभी चीजे काल–II में भी मिलती है तथा यहाँ पर काल–III सिन्धु सभ्यता का काल है।

राजस्थान में घग्गर पर स्थित कालीबंगा (झंसपइंदहंद) ने भी सिन्धु स उद्‌गम में विशेष योगदान दिया है। यहाँ सिन्धु सभ्श्ता से पूर्व उसी प्रकार के गर्तन (Fabric-c) कुक चित्रित डिजाइन तथा विशेष प्रकार के बर्तन जैसे छेद वाले (Perforated) गर्तन, लम्बे सिलेंडर नुमा (Cylindrical) बर्तन, स्टैंड पर प्लेट या कप (Dish-on-stand or Cup-on-stand) इत्यादि मिलतें है जो कि सिन्धु सभ्यता के इसी पंकार के प्रमाणों से पहले के है।

हरियाणा के हिसार जिले में स्थित बनावली (Banawali) से घरों गलियों के मुख्य दिशाओं में होने के प्रमाण (काल 1-अ), काल 1-ब में किले बन्दी के प्रमाण काल 1-स में गढ़ी तथा निचली शहरो के प्रमाण तथा पत्थर के बाटों (weights) के प्रमाण मिलते है। इसी तरह कुणाल नामक स्थल के काल 1-c से 4:2:1 अनुपात की ईटों, नालियों की व्यवस्था सेलेखेड़ी के मुद्रांक (Steatite)तथा डिस्क(Disc) प्रकार के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सिन्धु सभ्यता से पूर्व की संस्कृतियों में ऐसी बहुत सी चीजें थी जिन के आधार पर सिन्धु सभ्यता एक अपनी पहचान है। सिन्धु सभ्यता के विशेष लक्षणो का कोई न कोई प्रारम्भ्कि रूप यहाँ प्राप्त हो जाता है। जैसे सिन्धु लिपि के प्रमाण चाहे न मिले हो परन्तु उसी प्रकार के कुरेद कर बनाए अक्षर नुमा चिन्ह मिल जाते है। एक आध जगह से बाट तो मिले लेकिन लकड़ी के प्रमाण अभी नही मिले। इसी परह धातु तथा प्रस्तर की मूर्तियों के प्रमाण अभी मिलने बाकी है। संभव हे कि भविष्य में शायद यह प्रमाण भी मिल पाएं

विस्तार (Extent)

पुरातात्विक अनुसंधानों के परिणामस्वरूप यह स्पष्ट हुआ कि भौगोलिक दष्टिकोण से हडप्पा सभ्यता का विस्तार क्षेत्र काफी दूर तक फैला हुआ था। यह सिन्धु नदी की घाटी तक ही सीमित नही थी बल्कि समुचे सिंध तथा ब्लूचिस्तान में और लगभग पूरे पंजाब (पूर्वी और पश्चिमी), हरियाणा, पश्चिमी उतर–प्रदेश, जम्मु, उतरी राजस्थान, गुजरात तथा उतरी महाराष्ट्र के क्षेत्रों में फैली हुइ थी। विस्तार की दष्टि से यह क्षेत्र मिस्र और मेसोपोटामिया की सभ्यताओं से भी अधिक विस्तत था। इस सभ्यता के प्रमुख केन्द्र निम्न है :– बलूचिस्तान में (पाकिस्थान), डाबरकोट, सुत्क मेण्डोर कौर सोत्काकोह। सिंध में (पाकिस्तान), मोहन जो दड़ो, चन्हुदडों और अलीमुशद। पंजाब में (पाकिस्तान), हडप्पा। पंजाब में (भारत) रोपड बाडा, संघोल। हरियाणा में मीताथल, बनावली, राखीगढ़ी। राजस्थान में– कालीबंगा। उतर प्रदेश में– आलमगीर पुर। गुजरात में– रंगपुर, लोथल, धौलावीरा, सुरकोटडा तथा रोजदी। जम्मु में– माण्डा आदि।

निष्कर्षतः हडप्पा सभ्यता का विस्तार दक्षिण बलूचिस्तान में सूलकागेनदोर से 1550 कि०मी० दूर पूर्व में मेरठ में आलमगीर तक तथा उतर प्रदेश में रोपड़ से 1100 कि०मी० दूर भगत राव तक फैला हुआ था। यह समूचा क्षेत्र त्रिभुजाकार का है और इसका क्षेत्रफल लगभग 1,29,966 वर्ग कि०मी० का है।

उत्खनन कार्य (Archaeological Work)

हडप्पा के स्थल पर किसी प्रावीन सभ्यता के अवशेष होने का उल्लेख सर्वप्रथम 1826 में चार्ल्स मेसे न किया था। 1853 तथा 1856 में कनिंघम (भारतीय पुरातात्विक सर्वेक्षण विभाग के महानिदेशक) ने हडप्पा के टीले के नीचे किसी प्राची सभ्यता के दबे होने की पुष्टि की और यहाँ उत्खनन कार्य भी करवाया। 1921 में दयाराम साहनी ने हडप्पा और 1922 में राखल दास बनर्जी द्वारा मोहन जो दड़ों में किए गए उत्खनन कार्यों में इस सभ्यता का अस्तित्व पूर्ण तौर पर सिद्ध हो गया। भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के तत्कालीन महानिदेशक सर जॉन मार्शल ने इन उत्खनन कार्यों में गहन दिलचस्पी ली और 1924 में लंदन से प्रकासित एक साप्ताहिक पत्र में

इस सभ्यता के बारे में सारी दुनिया को जानकारी दी। इन क्षेत्रों में हुए उत्खनन कार्यों से एक बात सामने आई कि यह एक विशिष्ट सभ्यता थी और मिस्र तथा मेसोपोटामिया की सभ्यताओं के समकालीन थी। बाद के दशकों में खुदाई के दौरान अनेक महत्वपूर्ण स्थल प्रकाश में आए। अनुसंधान कार्यो में बाद में मार्टेन व्हीलर, वत्स, एन०जी० मजुमदार, सर स्टाईन, एस०आर०राव आदि पुरातत्वियों ने महत्वपूर्ण जानकारियाँ एकत्रित की।

नगर विन्यास (Town Planning)

सर मार्टिन व्हीलर और स्टूअर्ट पिग्ट जैसे पुरातत्वियों का मत था कि हडप्पा–सभ्यता के नगरों की संरचना और बनावट में असाधारण प्रकार की एक रूपता थी। प्रत्येक नगर सामान्यतः दो भागों में विभाजित होता था, ऊपरि भाग तथा निचला भाग (शहर) ऊपरी भाग जिसे पश्चिमी भाग भी कहा जाता था यें शासक, राजघराने और उच्चवर्ग के लोग निवास थे जबकि पूर्वी भाग में नगर के शासित और निम्न वर्ग के लोग निवास करते थे। नगर में गढ़ी के चारों ओर सुरक्षा प्रचीर हुआ करती थी तथा निचला शहर (पूर्वी हिस्सा) सामान्यतः बिना सुरक्षा प्राचीर के होता था। परन्तु इसमें कुछ अपवाद भी है जैसे : मोहन जो दड़ों में गढ़ी पश्चिम की ओर तथा निचला शहर पुर्व में है हडप्पा में निचला शहर दुर्ग या गढ़ी के दक्षिण–पूर्व में स्थित है। गुजरात के सुरकोवड़ा नामक स्थल में यह दोनो एक–दूसरे के साथ सटे हुए है। हरियाणा स्थित बनावली में यह दोनो अलग ना होकर एक ही साथ है जबकि गुजरात स्थित लोथल में भी यह दक्षिण पूर्व कोनों पर स्थित है।

सामान्यतः दुर्ग या गढ़ी ऊँचे स्थल पर बनी होती थी, जो कि धूप में सूखी ईटों के चबुतरे पर पक्की ईटों से बनी सुरक्षा दिवार के बीच स्थित थी। मोहन जो दड़ो में यह आसपास के क्षेत्र से 12 मीटर ऊँचाई पर स्थित है। यहाँ पर निचला शहर सुरक्षा प्राचीर रहित है। यहाँ किले के भीतर पुरोहित–आवास, सभा–भवन, अन्नागार और विशाल स्नानागार स्थित थे। हडप्पा के दुर्ग के बाहर उतर दिशा में स्थित 'एफ' टीले पर अन्नागार, अन्न कुटने के वताकार चबूतरे और श्रमिक आवास के प्रमाण मिले हैं। लोथल का दक्षिणी–पूर्वी भाग दुर्ग क्षेत्र था जिसमें अन्नागार स्थित था। यहीं कुछ अन्य महत्वपूर्ण भवन भी रहें होगें क्योकिं एक कतार में बाहर स्नानागार और ढ़की हुई नालियाँ मिली है।

हडप्पा, मोहन जो दड़ों और कालीबेगेन के दुर्ग मजबूत सुरक्षा–प्राचीर युक्त थे तथा इनके आकार समलमब चतुर्भुज की तरह थे। गुजरात में घौलावीरा नामक स्थान पर तो पत्थर के टुकड़ों की बाहरी दिवार के भीतर तीन अलग–अलग सुरक्षा प्राचीरों वाले तीन भाग थे, जिसे उत्खननकर्ता ने नगरगढ़ी, मध्य नगर तथा निचले नगर की संज्ञा दी है। नगर दुर्ग तथा मध्य नगर के चारों ओर दीवार थी, दीवार में सामान दूरी पर नगर द्वार और बुर्ज बने हुए थे इस सभ्यता के नगर दुर्गों में पुरोहित और शासकीय वर्ग निवास करते थे जबकि निचले नगर में दस्तकार, व्यापारी, शिल्पकार एवम् अन्य वर्ग के लोग निवास करते थे। सुरकोवड़ा में दो अलग–2 द्वार है, जिनमें एक द्वार गढ़ी को जाता था तथा दूसरा रिहायसी क्षेत्र की तरफ। चूंकि इस सभ्यता के सभी स्थलों पर समरूपता पाई गई है तथा मोहनजोदड़ो का विस्तत पैमाने पर उमखनन किया जा चुका है, इसलिए सामान्यतः वहीं की नगर योजना को एक भूमिका के रूप में सिन्धु सभ्यता का नगर विन्यास माना जाता है। अधिकांश नगरों में विशेषकर दुर्ग–नगर के चारों ओर मोटी दीवार (परकोटा) होती थी। इस परकोटे में स्थान–स्थान पर प्रवेश द्वार बने होते थे। धैलावीरा तथा सुरकोतड़ा के नगर प्रवेश काफी विशाल और सुंदर थे जबकि अन्य स्थलों के इनकी तुलना में साधारण थे। कुछ नगर द्वारों के करीब सुरक्षाकर्मियों के छोटे कक्ष बने हुए थे। हडप्पा सभ्यता के नगरों के चारों ओर परकोटों तथा नगर द्वारों के निर्माण का उद्‌देश्य संभवत बाहरी आक्रमणकारियों से सुरक्षा करना रहा होगा।

सड़के और गलियाँ

हडप्पाकालीन नगर पूर्व नियोजित योजना के आधार पर बसाए गए थे। इस सभ्यता की वास्तुकला में सड़कों का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। सड़कें एक–दूसरे को समकोण को पर काटती थी। इस तरह शहर कई हिस्सों में बँटा हुआ था। इस काल में निर्मित सड़कें और गलियाँ पूर्व से पश्चिम की ओर तथा उतर से दक्षिण की तरफ निर्मित थी। नगरों में सामान्य रूप से उतर दिशा से प्रवेश किया जाता था और मुख्य सड़क (मार्ग) उतर से दक्षिण दिशा में थी जो काफी चौड़ी थी और इसमें पहिए वाले वाहन आसानी से प्रवेश कर सकते थे। पूर्वी सड़क शहर का मुख्य मार्ग था जो काफी चौड़ी थी। सड़कों के अतिरिक्त नगरों में गलियाँ थी जो मुख्य दिशाओं एक–दूसरे को काटती थी। मोहनजोदड़ो की सगसे चौड़ी गली (मार्ग) 9.15 मीटर तथा छोटी गलियाँ करीब 3 मीटर चौड़ी थी। कालीबंगा में प्रमुख मार्ग 7.20 मीटर अन्य गलियाँ 5.4,3.6 तथा 1.80 मीटर चौड़ी थी। यहाँ गलियों का माप हडप्पा सभ्यता के प्रसिद्ध अनुपात 4:2:1 पर आधारित था। सड़कों की स्वच्छता और सफाई पर विशेष ध्यान दिया जाता था। कूड़ा–करकट फैंकने के लिए सड़कों के किनारे या तो गढ़ढे बने होते थे अथवा कूड़ेदान रखे जाते थे। सड़को और गलियों पर कहीं कोई अतिक्रमण देखने को नही मिलता।

नालियाँ (Drainage System)

नगरों में जल निकासी प्रणाली इस सभ्यता की अद्वितिय विशेषता थी, जो किसी अन्य समकालीन सभ्यता में देखने को नही मिलती।

प्रत्येक घर का पानी इन्हीं नालियों द्वारा बाहर जाता था। मुख्य सड़कों और गलियों के नीचे 23 से०मी० चौड़ी तथा 50 से०मी० तक गहरी पक्की ईटों से निर्मित नालियाँ थी जो बड़े–बड़े पत्थरों से ढ़की होती थी। चूने और ईटों से निर्मित गली की नाली का पानी एक बड़ी नाली में जाता था, जो आगे एक नाले में गिरती थी और शहर का पानी बाहर पहुँचाया जाता था। इनकी नियमित सफाई का प्रबन्ध था क्योकिं स्थान–स्थान पर अवरोध लगाए गए थे ताकि कचरे रहित पानी आगे जा सके। यानि मुख्य नालियों में कचरा छानने की भी व्यवस्था होती थी, नालियों में व्यवस्था करने के लिए बड़े गढ्ढे (शोषगर्त) होते थे जिन्हें सफाई करने के लिए आसानी से हटाया जा सकता था।

भवन निर्माण

हडप्पा सभ्यता के नगरों में उत्खनन के दौरान प्रकार के भवनावशेष प्राप्त हुए है; आवासीय भवन और सामुदायिक भवन। सामुदायिक भवन दुर्ग या गढ़ी में थे तथा आवासीय भवन निचले नगर में। हडप्पा और मोहनजोदड़ों में सामान्य भवन योजनाबद्ध तरीके से निर्मित थे। प्रत्येक आवासीय भवन के बीच में एक आंगन होता था, जिसके चारों ओर चार–पाँच कमरे, एक रसोईघर और एक स्नानागार बना होता था। अधिकांश घरों में एक कुआँ भी होता था। सम्पन्न लोगों के घरों में शैचालय भी होते थे। बड़े आकार के भवनों में तीस कमरे तक होते थे। भवनों में मिली सीढ़ियों से पता चलता है कि दुमजिंले भवन भी होते थे। घरों के दरवाजे मुख्य मार्ग में न खुलकर पिछवाड़े की ओर गली में खुलते थे। सड़क की तरफ खिड़की और रोशदान भी नही बने होते थे। भवनों के फर्श ईटें बिछाकर बनाए जाते थे। कुछ भवनों की दीवारों पर पलस्तर के भी साक्ष्य मिले है। छतों के विषय में साक्ष्यों का स्पष्ट अभाव है अनुमानतः छतें समतल होती थी। छतों पर घास–फूस बिछाकर ऊपर से मिट्टी छाप दी जाती थी।

हडप्पा और मोहनजोदड़ों में पकी हुई ईटों का प्रयोग भवनों के निर्माण के लिए किया गया है। लोथेल, रंगपुर तथा कालीबंगा में भवनों के निर्माण के लिए कच्ची ईटों का ही प्रायः उपयोग किया गया है। कालीबंगा में पक्की ईटों का ही प्रायः उपयोग किया गया है। कालीबंगा में पक्की ईटों का प्रयोग केवल नालियों, कुओं तथा दहलीजों के निर्माण के लिए किया गया है। कई आकार प्रकार की ईटों का उपयोग होता था किन्तु प्रचलित आकार 28×14×7 से०मी० अथवा लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई में 4:2:1 का अनुपात था। कालीबंगा में 40×20×10 से०मी० के साथ–साथ 30×15×7½ से०मी० की ईटों का भी प्रयोग देखने को मिलता है। हरियाणा स्थित बनावली में 24×12×6, 32×16×8 से०मी० की छोटी ईटों के साथ–साथ बड़े आकार की 40×20×10 तथा 50×25×12½ से०मी० की ईटों का भी प्रयोग मिलता है। घोलावीरा में 36×18×9 से०मी० के आकार की ईटों का प्रयोग मिलता है। भवनों की नींव गहराई तक खोदी जाती थी ईटों को जोड़ने में मिट्टी के गारे तथा विशेष प्रकार की चिनाई में चूने का भी प्रयोग किया जाता था।

सार्वजनिक भवन

मुख्यनगर के गढ़ी वाले क्षेत्र में सार्वजनिक भवन निर्मित थे। हडप्पा और मोहनजोदड़ों से ऐसे अनेक विशाल भवन मिले है। हडप्पा में पश्चिमी टीले पर एक समानान्तर चतुर्भुजाकार दुर्ग था जो उत्तर–दक्षिण में 460 गज तथा पूर्व–पश्चिम में 215 गज चौड़ा था और इसकी ऊँचाई 45.50 फीट थी। यहा से प्राप्त सार्वजनिक भवनों में भडांगार उल्लेखनीय है इसके बीच में 7 मीटर चौड़ा गलियारा था। पुरातत्ववेताओं ने इस भवन को विशाल अन्नागार बताया है जो अन्न, कपास और व्यापारिक वस्तुओं के गोदाम के काम आता था। इसके पास चबूतरे हैं जहाँ अनाज कूटा जाता था। यहाँ पर गेंहु और जौ के कूटे हुए अन्नकण प्राप्त हुए है। इसके समीप ही कारीगरों के लिए छोटे–छोटे घर बने हुए थे।

मोहनजोदड़ो स्थित महत्वपूर्ण भवन विशाल स्नानागार था जो आयताकार का था। ईटों से निर्मित इस विशाल स्नान कुण्ड की लम्बाई–चौड़ाई 12 मी०×7 मी० और गहराई 3 मी० है। इसमें नीचे उतरने के लिए दोनो तरफ सीढियाँ है, जो दक्षिण और उत्तर की ओर बनी हुई थी। स्नानकुण्ड के तल को डामर से जलरोधी बनाया गया था। इसके लिए पानी निकालने के लिए भी एक ढलवाँ नाली थी। कुण्ड के चारों तरफ मण्डप और कमेर बने हुए थे, प्रत्येक कमरे की अपनी एक सीढ़ी थी। विद्वानों का अनुमान है कि यहाँ पर राजा या पुरोहित धार्मिक स्नान के लिए आते थे।

अन्नभण्डार (Granary)

मोहनजोदड़ो से प्राप्त अन्य महत्वपूर्ण इमारत है। इसमें ईटों से निर्मित स्लाईस खण्ड (Blocks) है जिनमें प्रकाश के लिए आडे–तिरछे रोशनदान बने हुए है। अन्नभण्डार के नीचे ईटों से निर्मित खांचे थे जिनसे अनाज का भण्डारण के लिए ऊपर पहुँचाया जाता था।

सभागार

स्नानागार के समीप स्तम्भ युक्त एक बड़े हाल के प्रमाण मिले है जो कि 80×30 फुट चौड़ा था। यहाँ से 20 स्तम्भ प्रकाश में आए है। इस सभागार में पाँच–पाँच ईटों की ऊँचाई की चार चबूतरों की पक्तियाँ थी। यह ऊँचे चबूतरे ईटों के बने हुए थे और उन पर लकड़ी के खबें खड़े किए गए थे। इसके पश्चिम की तरफ कमरों की एक कतार में एक पुरूष की प्रतिमा बैठी हुई मुद्रा में पाई गई है।

घौलावीरा से उत्खनन के दौरान काले रंग के पालिशदार स्तम्भ प्राप्त हुए है जो किसी स्तम्भ युक्त बडे भवन के अवशेष प्रतीत होते है। इसके बाद इस प्रकार के स्तम्भों का प्रयोग केवल मौर्यकाल में ही देखने को मिलता है।

आर्थिक जीवन (Economic Life)

कृषि (Agriculture)

सिन्धु प्रदेश की भूमि आज की अपेक्षा पहले अधिक उपजाऊ थी। इस क्षेत्र की उर्वरता का विशेष कारण सिन्धु नदी में आने वाली बाढ़ें थी, जो इन मैदानों को उपजाऊ मिट्टी भर देती थी। जिस तरह मिस्र निवासियों के लिए नील नदी एक वरदान थी वैसे ही इस क्षेत्र के निवासियों के लिए सिन्धु नदी थी। खाद्यान्नों का पर्याप्त मात्रा में उत्पादन इस सभ्यता के विकास का मुख्य आधार थी क्योकिं शहरी जनसुख्या के खाद्यान्न की आपूर्ति गाँवों से ही होती थी। खुदाई के दौरान विभिन्न क्षेत्रों से गेंहु उत्पादन के प्रमाण मिले हैं। यहाँ दो किस्मों के गेंहु (क्लब गांठदार गेंहु तथा लघु आकार का गेंहु) की पैदावार की जाती थी। हडप्पा और मोहनजोदड़ों दोनो ही स्थलों से छोटे–2 दानों वाले जौ की खेती के प्रमाण मिले है। गेंहु तथा जौ की खेती के प्रमाण कालीबंगा से भी प्राप्त हुए है। गुजरात से रागी की फसल और छोटी ज्वार के प्रमाण मिले है। बालाकोट से बाजरा और ज्वार की खेती के प्रमाण मिले है। इनके अतिरिक्त खजूर, मटर, राई, तरबूज तथा तिल और सरसों की खेती के भी मिले है। तिल तथा सरसों का उत्पादन संभवतः तेल प्राप्ति के लिए किया जाता था। हडप्पा और मोहनजोदड़ों से धान की खेती का कोई प्रमाण नही मिलता लेकिन लोथल और रंगपूर से धान की खेती के प्रमाण प्राप्त हुए है। मोहनजोदड़ों से सूती वस्त्र के अवशेष प्राप्त हुए है। जिससे सिद्ध होता है कि ये कपास की भी खेती करते थे। मदभांड और मूर्तियों से भी कपड़े की छाप के चिन्ह मिले है। कृषि में प्रयुक्त होने वाले उपकरण कम संख्या में प्राप्त हुए है। संभवतः कृषि करने का पुराना तरीका ही प्रचलन में था। कृषि में लकड़ी के हल का प्रयोग किया जाता था। कालीबंगा से जुते हुए खेत के प्रमाण मिले है। हडप्पा सभ्यता के निवासी नहरों द्वारा सिचांई करते थे। पंजाब और सिन्ध की नदियों में अक्सर आने वाली बाढ़ों से खेती की सिचांई की जाती थी। यद्यपि ब्लूचिस्तान और घौलावीरा से बड़े–गड़े जलाशयों के अवशेष प्राप्त हुए है। संभवतः इनका उपयोग सिचांई के लिए किया जाता होगा। अनाज पीसने के लिए चक्कियों और कूटने के लिए ओखलियों का प्रयोग किया जाता था। लोथल से चक्की के दोनों पाट मिले है, ऊपरि पाट में अनाज डालने के लिए एक छेद भी होता था। विभिन्न स्थलों से बड़े–बड़े घड़े भी मिले हैं। अनुमान है कि इनमें अनाज को संग्रहित किया जाता था। हडप्पा से कृषि–कर्म अतिरिक्त पशुपालन भी एक महत्वपूर्ण व्यवसाय था। हडप्पाकालीन मोहरों पर अंकित बैलों से विदित होता है कि दो कोटि के बैल थे, प्रथम कोटि वाले बैल कूबड़ और बड़े सींग वाले थे, द्वितिय कूगड़रहित और छोटे सींग वाले थे। अनेक मोहरों पर हाथी को भी चित्रित किया गया है। इससे प्रमाणित होता है कि इन्होंने हाथी को पालतु बना लिया था। बकरी, भैंस, गधे, ऊँट तथा हाथी की हड्डियाँ विभिन्न स्थलों से प्रचुर मात्रा में प्राप्त हुई है। ऊँट की हड्डियाँ कालीबंगा से प्राप्त हुई है। हडप्पावासियों के पालतु पशुओं में कुत्ता, बिल्ली, सुअर, खरगोश, बन्दर, और मूर्गा विशेष उल्लेखनीय है। भोजन के लिए जंगली जानवरों का शिकार भी किया जाता था जिनमें कछुआ, साभर, चितकबरा हिरण और प्रियक हिरण (Hog Dear) शामिल थे, रनघुन्डई (ब्लूचिस्तान) और मोहनजोदड़ों से घोड़े के अस्थिपिंजर के अवशेष प्राप्त हुए है। सुरकाटड़ा, लोथल और घौलावीरा से घोड़े की हड्डियों के अवशेष प्राप्त हुए है। लेकिन घोड़े की सम्पूर्ण अस्थियाँ अभी किसी स्थल से प्राप्त नही हुई है। घोड़े से ये परिचित थे या नही यह विषय अभी विवादाग्रस्त/संदेहास्पद बना हुआ है। अनेक पशुं, पक्षियों की मृण्यमूर्तियाँ तथा खिलौने भी मिले है, इनका भोजन के अतिरिक्त संभवतः कुद का धार्मिम महत्व भी रहा हो।

हडप्पा सभ्यता के नगरीकरण को देखते हुए यह स्वाभाविक है कि आर्थिक ढ़ाचें में उन द्वारा विकसित शिल्प उद्याग, तकनीकी तथा अन्य व्यवसायों का विशेष महत्व था। इस सभ्यता की प्रौद्योगिकी शिल्प और कला की अपनी अलग विशेषता थी। यहाँ के निवासियों को विभिन्न धातुओं की जानकारी थी। हालाकिं यह कांस्ययुगीन सभ्यता थी यद्यपि कासें की बहुत कम वस्तुओं का पता चला है। ताबें का प्रयोग बहुतायत मात्रा में किया जाता था। इससे विस्तत पैमाने पर उपकरण (ताम्र निर्मित कुल्हाड़ियाँ, छेनियां, छूरियां, छोटी आरियां, तीर व भाले का अग्रभाग, मछली पकड़ने कांटा और चाकू आदि) बनाए जाते थे। तांबा तथा टीन कों मिलाकर कांसा तैयार किया जाता था। तांबा और कांस्य निर्मित बर्तन प्राप्त हुए हैं। मोहनजोदड़ो सक प्राप्त कांस्य की नर्तकी की मूर्ति एक उत्कृष्ट उदाहरण है। ये धातु को गलाने की विधि से भी परिचित थे। मोहनजोहदड़ों से ताँबे का गला हुआ एक ढेर भी प्राप्त हुआ है। धातुओं के गले हुए द्रव को साचों में भरकर विभिन्न आकार दिए जाते थे। धातु की विभिन्न आकृतियों के पशु–पक्षियों की मूर्तियाँ भी बनाई जाती थी। लोहे से अपरिचित थे, इससे निर्मित कोई भी वस्तु प्राप्त नही हुई है। मोहनजोदड़ो और हडप्पा से विस्तत पैमाने पर प्राप्त हुए हैं, जिन्हें देखने से पता चलता है कि स्वर्णकारों ने अपने काम में काफी निपुणता हासिल कर ली थी। चांदी प्रचलन सोने की अपेक्षा ज्यादा था। चांदी के आभूषण और बर्तन बनाए जाते थे।

इस काल में धातु के अतिरिक्त पत्थर के उपकरण भी बनाए जाते थे जिनमें दरांती, खुरचनियाँ, बरमें तथा फलक आदि मुख्य थे।

इन उपकरणो का प्रयोग मणिकारी, कृषि, दस्तकारी और नक्काशी इत्यादि में किया जाता था। पत्थर की अनेक मूर्तियाँ भी विभिन्न स्थानों से प्राप्त हुई है। कला–कौशल के क्षेत्र में हडप्पा सभ्यता के लोगों की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि यह थी कि वे कीमती पत्थरों के मनके और आभूषण बनाने की कला से परिचित थे। हडप्पा तथा लोथल और चान्हुदड़ों से मनके बनाने की कार्यशालाँए मिली है। मनकों का व्यापार मेसोपोटामिया के साथ विस्तत पैमाने पर होता था। सीपी (समुंद्री शंख) का प्रयोग मनकों और चूड़ियों और छोटी–छोटी सजावट की आकृतियाँ गनाने में किया जाता था। इसके लिए कच्चा माल लोथल, बालाकोट और कुतांसी से प्राप्त किया जाता था। मदभांड कला से भी हडप्पावासी अच्छी तरह परिचित थे। मिट्टी की अधिकांश वस्तुएं चाक पर बनाई जाती थी। सजावट के लिए बर्तनों को अंकित किया जाता था। जिनमें ज्योमितिय डिजाइन, वक्ष तथा पशु–पक्षियों की आकृतियों, आडी–तिरछी रेखाएं तथा स्वास्तिक के डिजाइन प्रमुख थे। मदभांडों के अतिरिक्त मिट्टी की मूर्तियाँ, चूड़ियाँ, मनके, खिलौने तथा विभिन्न पशु–पक्षियों की मूर्तियों का भी निर्माण किया जाता था। विभिन्न स्थलों से प्राप्त अनेक विशाल भवनों को देखकर पता चलता है कि विस्तत पैमाने पर ईटों के निर्माण करने का भी उद्योग रहा होगा। खुदाई के दौरान घरों से ताकुओं और तकलियों की प्राप्ति से प्रकट होता है कि इनका प्रयोग वस्त्रों की कताई–बुनाई में कियर जाता था। मोहनजोदड़ों से दो ताम् पात्र सूती वस्त्र में लिपटे मिले है। लोथल से कुछ मुद्रा–छापों पर कपड़े के चिन्ह प्राप्त हुए है तथा मोहनजोदड़ो से दो ताम पात्र सुती वस्त्र में लिपटे मिले है। लोथल से कुछ मुद्रा–छापो पर कपड़े के चिन्ह प्राप्त हुए है तथा कालीबगां में कुछ मदभांडो के टुकडों पर भी वस्त्रों के चिन्ह मिले है। इस सभ्यता के सभी स्थलों से सेलखड़ी से निर्मित वर्गाकार और आयताकार मोहरें प्राप्त हुई है । जिन पर लेख भी अंकित थे। मुद्राओं पर बैल, सिहं, हाथी, गैडें आदि पशु चित्रित थे। इनमें सर्वाधिक उल्लेखनीय पशुपति वाली मोहर है। बड़े पैमाने पर इन मोहरों की प्राप्ति इस ओर इंगित करती है कि इनका निर्माण एक विशेष व्यवसाय रहा होगा।

इस सभ्यता के नगरीकरण स्वरूप में व्यापार का विशेष योगदान रहा होगा। हडप्पा सभ्यता के प्रायः सभी नगर उन्नत औद्योगिक गतिविधियों के केन्द्र थे। जिनमें व्यापारी वर्ग ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। व्यापारिक गतिविधियों से संलिप्त नगर नदी के किनारे, समुन्द्री तटों तथा मुख्य व्यापारिक मार्गों पर स्थित थे। विभिन्न प्रकार के कला–कौशलों से अवगत होने के कारण ये माल उत्पादन के कार्यों में संलग्न रहते थे। जिसके लिए ये कच्चा माल बाहर से प्राप्त करते थे। आन्तरिक व्यापार के अतिरिक्त विदेशों से भी इनके व्यापारिक संबध कायम थे।

आन्तरिक व्यापार में पत्थर और धातु के उपकरण दैनिक उपभोग की वस्तुएँ, कलात्मक वस्तुएँ, मोहरें, मनके, अनाज और कपास व अन्य उपभोग का वस्तुएँ शामिल थी। जिन्हें एक स्थान से उत्पादित कर दूरे स्थानों पर वितरित किया जाता था। जैसे सूक्कूर से चकमक पत्थर और फलक प्राप्त कर इनके औजार और हथियार बनाए जाते थे। हडप्प, मोहनजोदड़ो, कालीबंगा तथा लोथल विभिन्न कलात्मक वस्तु निर्माण के प्रसिदद्ध केन्द्र थे। जहाँ से तैयार माल को अन्य नगरों और गाँवों में भेजा जाता था। चावल, कपास, बाट, मोहरें, सीपियों का सामान, ताबें की वस्तुएँ, उपकरण और अनाज एक स्थान से दूसरे स्थानों पर नदी मार्गो द्वारा भेजे जाते थे। हडप्पा और मोहनजोदड़ों से प्राप्त अन्नागारों से यह स्पष्ट होता है कि विभिन्न क्षेत्रों में एकत्रित अनाज को नदी मार्गो द्वारा यहाँ संग्रहित किया जाता था, आन्तरिक व्यापार में सोना सभवतः दक्षिण भारत में, खासकर मैसूर से प्राप्त करते थे, यहाँ साने का विशाल भण्डार था और अब भी है। महाराष्ट्र से जुंबमीज तथा सौराष्ट्र और पश्चिमी भारत में गोमेद और मूंगा लाया जाता था। तांबा खेतड़ी से लाया जाता था।

हडप्पा सभ्यता के उन्नत व्यपार आन्तरिक के अतिरिक्त विदेशी व्यापार के भी प्रमाण मिलते हैं। इनका व्यापार मेसोपोटामिया के नगरों तक फैला हुआ था, जहाँ हडप्पा युग की दो दर्जन से भी अधिक मोहरें प्राप्त हुई है। हडप्पा क्षेत्र से भी मेसामपोटामिया की बेलनाकार मोहरें मिली हैं। मोहरों के अतिरिक्त कीमती पत्थर बाट और मूण्यमूर्तियाँ इत्यादि भी मिली है। पश्चिमी एशिया के साथ व्यापार के अधिक पुरातात्विक प्रमाण नही मिलते है। मेसोपोटामिया साहित्य में इस बात का उल्लेख है कि ऊर (मेसोपोटामिया का शहर) के सौदागरों के विदेशी व्यापारियों से व्यापसरिक सम्बन्ध थे। इस संदर्भ में तिलमुन या दिलमुन, मगन और मेलुहा के नाम उल्लेखनीय है। मेसोपोटामिया के सम्राट सरगॉन (२३५० ई०पू०) का कहना था कि दिलमुन, मगन और मेलुहा के जहाज उसकी राजधानी में लांगर डालते थे। उपरोक्त तीनों नामों का विद्वान हडप्पा के नगरों से जोड़तें है। दिलमुन अधिकांशतः फारस की खाड़ी में स्थित बकरैन द्वीप के नाम से जान जाता है। ओमन अथवा दक्षिण अरब का कोई दूसरा भू–भाग मगन कहलाता है। मेलुहा का संबन्ध भारत और मुख्यतः सिन्धु क्षेत्र तथा सौराष्ट्र से जोड़ा जाता है। हडप्पाकालीन मनकें, हाथी दाँत से निर्मित कलात्मक वस्तुएँ, ताबें से निर्मित और सीपी से बनी हुई चीजें इन देशों का निर्यात करते थे। मेसोपोटामिया के नगर निपुर से हडप्पाकालीन मण्यमूर्तियाँ तथा बाट मिले है। व्यापारी निर्यात के अलावा आयात भी करते थे। आयात की जाने वाली वस्तुओं में कीमती धातुएँ प्रमुख थी। जिनमें मुख्य निम्नस्थानों से आयात की जाती थी। जैसे :– अफगानिस्तान और कर्नाटक से सोना, अफगानिस्तान और ईरान से चांदी, ईरान, मध्यएशिया और अफगानिस्तान से टिन, नीलम अफगानिस्तान में बदख्वर्गो से, सेलखड़ी ब्लूचिस्तान से आयात किए जाते थे। अफगानिस्तान से कीनती पत्थरों का व्यापार करने के लिए हडप्पा व्यापारियों ने शोर्तघइं नामक स्थान पर अपनी बस्ती बना रखी

थी। यह व्यापार जल तथा स्थल दोनों मार्गों से होता था। समुद्री व्यापार लोथल, सुरकोटड़ा और बालाकोट जैसे तटीय नगरों से होता था। इस काल की नाप–तौल प्रणाली में समरूपता देखने को मिलती है। माप–तौल की जो प्रणाली हडप्पा और मोहनजोदड़ों में थी, वही अन्य क्षेत्रों उसी रूप से लागु थी। इनकी नाप–तौल प्रणाली दो के अंक पर आधारित थी। जैसेः 1,2,4,8,16,64 तथा बाद में 10 और 16 के गुणा होने वाली प्रणाली भी प्रयोग में लाई जाने लगी। माप में 37.6 से०मी० की एक फूट की इकाई थी। तौल ज्यादातर सेलखड़ी पत्थर के धनाकार (Square) बने होते थे। विभिन्न स्थलों से प्राप्त बहुतायत मोंहरे और मुद्रांकन इनके उन्नत व्यापार दर्शातें है। हडप्पा और मोहनजोदड़ों से प्राप्त मोहरों पर जहाज और नावों के चित्र अंकित है। लोथल से पकी मिट्टी से बना जहाज का नमुना मिला है जिसमें मसतुल के लिए एक लकड़ी और उसे लगाने के लिए एक छेद बना है। लोथल से गोदयार्ड के भी प्रमाण मिले हैं। इससे प्रमाणित होता है कि परिवहन के साधनों में नाव और जहाज प्रमुख थे। लोथल, रंगपुर और बालाकोट नगरों में अनेक बन्दरगाहें थी जहाँ इनकी व्यापारिक गतिविधियाँ विदेशों में होती थी। आन्तरिक व्यापार में बैलगाड़ियाँ परिवहन का मुख्य साधन थी। विभिन्न क्षेत्रों से पकी मिट्टी से बने बैलगाड़ियों के नमुने प्राप्त हुए हैं।

सामाजिक जीवन एवं सामाजिक स्तरीकरण (Social Life & Social Stratification)

हडप्पा सभ्यता की लिपि को अभी तक पढ़ा नही जा सका है इसलिए इसके सरमाजिक स्तरीकरण पर अधिक जानकारी प्राप्त नही की जा सकी है। लेकिन उत्खनन से प्राप्त पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर इस काल के समाज की रूपरेखा स्पष्ट की जा सकती है। उत्खनन से प्राप्त अनेक साक्ष्य सामाजिक वर्गीकरण को दर्शाते हैं। जिससे स्पष्ट होता है कि समाज के विभिन्न वर्गों में स्तरीकरण और जटिलता विकसित हो गई होगी। बी०वी० लाल ने कालीबंगा में उत्खनन के बाद दर्शाया कि यहाँ पर तत्कालीन समाज तीन भागों में विभाजित था। पुजारी वर्ग, जो उस काल का शासकीय वर्ग था वह गढ़ी पर निवास करता था। किसान तथा व्यापारी वर्ग निचले शहर में निवास करता था क्योकिं यहाँ से कई आवासीय भवनों से अनाज संग्रहित करने वाले बड़े–बड़े मदभांड तथा मुद्रांक इत्यादि प्राप्त हुए है। तीसरा वर्ग जो कारीगर अथवा श्रमिक वर्ग था। वह नगर की सुरक्षा प्राचीर से बाहर निवास करता था। इस सभ्यता के आवासीय भवनों के आकार और बनावट में अनेक असमानताएँ विद्यमान थी। शिल्पियों और दस्तकारों में विभिन्नता और विशिष्टता थी। समाज में फैली इन विभिन्नताओं के आधार पर लोगों की वेश–भूषा, खान–पान, व्यापार, शिल्प कलाएँ तथा विभिन्न सामाजिक समुहों के प्रति जानकारी प्राप्त होती है।

मोहनजोदड़ों के गढ़ी क्षेत्र से भी पुजारी वर्ग के निवास करने के प्रमाण मिलते हैं। यहाँ पर स्नानागार के आस–पास कमरे बने हुए थे जहाँ स्नान के बाद पुजारी अपने वस्त्र बदलते थे। यहीं से एक मुख्य पुजारी के भवन के भी अवशेष प्राप्त हुए हैं। अन्नागार, स्नानागार के पश्चिम में स्थित जहाँ दुर्ग के लोग निवास करते थे। निचले शहर में व्यापारी और कृषक वर्ग रहता था। यही पर दो–दो कमरों वाले गरीब वर्ग के आवासीय भवन भी मिलें हैं। इस प्रकार गढ़ी या दुर्ग क्षेत्र में पुजारी या शासकीय वर्ग का निवास था तथा दुर्ग के बाहर गरीब वर्ग निवास करता था। इन्हें कर के रूप में अन्न देना पड़ता था जो यहाँ बड़े–बड़े अन्नागारों में इक्ट्ठा किया जाता था। हडप्पा से भी इसी तरह के अवोष प्राप्त हुए हैं। घौलावीरा में गढ़ी, मध्यनगर तथा निचले नगर के अलग–अलग प्रमाण प्राप्त हुए हैं। जैसे :– अभिजात वर्ग गढ़ी में, व्यापारी और कृषक मध्य शहर में तथा गरीब वर्ग निचले शहर में निवास करता था। समाज में इसी प्रकार के वर्गीकरण के प्रमाण हमें अन्य स्थलों से भी प्राप्त होते हैं।

हडप्पाकालीन विभिन्न स्थलों से जैसे मोहनजोदड़ों, हडप्पा तथा अन्य नगरों से उत्खनन के दौरान अनेक नरकंकाल के अवशेष प्राप्त हुए है। जिनके अध्ययन से पता चलता है कि मुख्य रूप से यहाँ क चार जातियों में विभक्त थे :–

(i) प्रोटो – आस्ट्रेलायड अथवा काकेशियन (Proto Anstroloid)

(ii) भूमध्य सागरीय (Mediterranian)

(iii) मंगालियन (Mongoloid)

(iv) अल्पाइन (Alpine)

इससे यह अन्दाजा लगाया जा सकता है कि इस सभ्यता में मिश्रित जातियों के लोग सम्मिलित थे। जिनमें यूरोप, मध्यएशिया की नस्लों के साथ–साथ मंगोल प्रजाति के लोग भी सम्मिलित थे। हाल ही में किए गए शोध कार्यो से पता चलता है कि मोहनजोदड़ों में आजकल के सिंधी जाति के लोग निवास करते थे जबकि हडप्पा में आज के पंजाब जैसे तथा लोथल में आज के गुजरात के लोगों के समान ही लोग सिन्धु सभ्यता के समय में पिवास करते थे।

इस काल की शिल्प कला और पकी मिट्टी की बनी मूर्तियों के अध्ययन से यहाँ के निवासियों के पहनावें का पता चलता है। पुरूष और स्त्रियाँ शरीर के निचले भाग पर एक वस्त्र लपेटते थे। पुरूष और महिलाएँ दोनो लबें बाल रखते थे, स्त्री और पुरूष दोनो आभूषण धारण करते थे। हडप्पावासी शाकाहारी और मांसाहारी भेजन का सेवन करते थे। विभिन्न क्षेत्रों से मिट्टी की बनी अनेक

मातदेवी की मूर्तियाँ प्राप्त हुई है। धरती की उर्वरता से मातदेवी का सम्बन्ध था और लोग इसकी पूजा करते थे। मोहरों से मिलने वाले प्रमाणो में सबसे प्रसिद्ध देवता की पहचान आदि–शिव के रूप में की गयी है। एक मोहर पर एक योगी ध्यानमग्न मुद्रा में बैठा हुआ है, जिसके सिर पर सींग का मुकुट है और वह बकरी, हाथी, शेर और मग से घिरा हुआ है। इसकी पहचान पशुपति के रूप में की गई है। अनेक हडप्पा क्षेत्रों से लिंग और योनि प्राप्त हुए है। सभवतः शिव हडप्पा का सबसे महत्वपुर्ण देवता था। कई मोहरों पर पीपल और कुछ अन्य वक्षों का चित्रण है। कहीं पर संयुक्त पशुओं का चित्रण है। जिनमें एक श्रंगी, सांड और हाथी या मनुष्य और व्याघ्र शामिल है ये सभी अपने–अपने मत के प्रतीक लगते हैं। कालीबगां और लोथल से अनेक अग्निवेदियाँ प्राप्त हुई हैं, जिनमें पशुओं की हड्डीयाँ और राख हैं। यह स्थान पुजा–क्रिया का केन्द्र रहा होगा। इनसे पता चलता है कि हड़प्पा सभ्यता में भिन्न–भिन्न प्रकार के धर्मो का आचरण होता था। नगरों के समीप प्राप्त कब्रिस्तानों से हडप्पावासियों के मतक संस्कारों की जानकारी मिलती है। शव साधारणतः उत्तर–दक्षिण दिशा में दफनाएं जाते थे। कब्र में मिट्टी के बर्तन, गहनें, घर का सामान और खाद्य सामग्री भी रखे हुए प्राप्त हुए है। कब्रों पर किसी प्रकार का र्कोई स्मारक प्राप्त नही हुआ जैसा कि मिस्र तथा मेसोपोटामिया से मिला है।

कुछ बड़ी इमारतें सामुहिक पुजा अथवा धार्मिक संस्कारों की सकेंत करती है जैसे हडप्पा का विशाल स्नानागार। नगर बड़े पैमाने पर प्रोद्योगिकी, शिल्प और के केन्द्र थे। समाज के अधिकतर लोग कृषि कार्य से जुड़े हुए थे लेकिन दस्तकारी समुहों के पत्थरों के कारीगर, कुम्हार, सुनार, मणिकार, कासें और ताबें का कार्य करने वाले, राजमिस्त्री, मोहर बनाने वाले मूर्तिकार, चूड़ियाँ बनाने वाले और नाव बनाने वाले शिल्पी इस वर्ग में मौजूद थे।

राज्य संरचना (State Structure)

हडप्पा सभ्यता की राजनैतिक के बारे में अधिक जानकारी प्राप्त नही हुई, क्योकिं मद्राकों पर अंकित लिपि अभी तक पढ़ी नही जा सकी है। सिन्धु सभ्यता का क्षेत्र अत्यंत व्यापक था लेकिन नगर–नियोजन और बस्तियों के निर्माण में किंचित क्षेत्रिय अन्तर हाते हुए भी प्रायः एकरूपता देखने को मिलती है। पात्र–परम्परा, उपकरण निर्माण, बाट एवम् माप–तौल प्रणाली आदि के सन्दर्भ में मानकीकरण एवम् समरूपता देखने को मिलती है। हडप्पा, मोहनजोदड़ों तथा कालीबंगा आदि क्षेत्रों से पश्चिम में दुर्ग तथा पूर्व दिशा में नगर की स्थिति से हडप्पा सभ्यता के एक सुदढ़ प्रशासनतन्त्र के अस्तित्व के संकेत मिलते हैं। इस प्रशासन के नियंत्रण का क्या स्वरूप था, क्या छाटे–छोटे राज्यों का गठन हो चुका था या समस्त सभ्यता एक विशाल साम्राज्य के रूप में विद्यमान थी। इनके बारे में विद्वानों ने अपने अलग–अलग मत रखें है। प्रत्यक्ष प्रमाणों का अभाव होते हुए भी यह अनुमान करना संभवतः बहुत असंगत नही होगा कि सिन्धु सभ्यता की प्रशासनिक व्यवस्था में धर्म की महत्वपूर्ण भूमिका रही होगी अधिकांश विद्वानों के अनुसार सिन्धु सभ्यता का प्रशासन हडप्पा तथा मोहनजोदड़ों नामक नगरों की दो राजधानियों से होता था। हंप्र महोदय का मत है कि सिन्धु सभ्यता का प्रशासन राजतन्त्रात्मक पर आधारित ना होकर जनतन्त्रात्मक था; उनके अनुसार केन्द्रीय सत्ता का विकेन्द्रीकरण हो चुका था कदाचित् केन्द्रीय शासन की ओर से अनेक पदाधिकारी भिन्न–भिन्न नगरों में शासन करते थे। मैं के महोदय का अनुमान है कि इस सभ्यता की दो राजधानियां थी ताकि सम्पूर्ण प्रदेश की शासन व्यवस्था सुव्यवस्थित रूप से चल सके। उनके अनुसार उतर में हडप्पा तथा दक्षिण में मोहनजोदड़ों राजधानी के रूप में स्थित थे। दोनों नगरों में दुर्ग के अवशेष प्राप्त हुए है जहाँ पर उच्चाधिकारी निवास करते थे। स्टुअर्ट पिगॅट महोदय का विचार है कि सिन्धु सभ्यता के प्रशासन का संचालन हडप्पा तथा मोहनजोदड़ों में स्थित दो राजधानियों से उसी प्रकार होता होगा जैसा बाद के कुषण काल के दौरान उत्तर में पेशावर तथा दक्षिण में मथुरा से प्रशासन का संचालन होता था। जैकोबसन नामक विद्वान के अनुसार सिन्धु सभ्यता एक प्रारंभिक राज्य का स्वरूप था। जबकि रत्नागार इसे एक साम्राज्य मानती है। ये दोनों विद्वान अपने विचारों को मध्य तथा पश्चिमी एशिया के क्षेत्रों की सभ्यताओं को आधार मानकर अपने मत प्रकट करते है।

बी०बी० लाल तथा पौशल सिन्धु सभ्यता के अलग–अलग राज्यों तथा उनकी राजधानियों का अनुमान लगाते है। बी०बी० लाल के अनुासर जिस प्रकार छठी श०ई०पू० का समय महाजनपदों का उदय था संभवतः उसी तरह का स्वरूप सिन्धु सभ्यता का पाकिस्तान स्थित पंजाब के आसपास का उतरी क्षेत्र एक अलग राजय था और हडप्पा उसकी राजधानी थी। इसी तरह दक्षिण स्थित क्षेत्र सिंध की राजधानी मोहनजोदड़ो रही होगी। गुजरात स्थित लोथल प्रमुख नगर या राजधानी था जबकि राजस्थान स्थित कालीबंगा तथा पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उतर प्रदेश क्षेत्रों की राजधानी संभवतः राखीगढ़ी रही होगी। परन्तु मात्र क्षेत्रों तथा उनके बड़े शहरों के आधार पर पूर्ण रूप से यह भी कहा जा सकता है कि क्या सिन्धु सभ्यता एक साम्राज्य थी, अर्थात छाटे–छाटे राज्यों वाला इसका कोई स्वरूप था। इस काल में कोई राजा या शासक था यह भी कहना कठिन है। मोहनजोदड़ो से प्राप्त पत्थर की एक पुजारी की प्रतिमा के आधार पर कुछ विद्वानों का अनुमान है कि पुजारी वर्ग शासक रहा होगा तथा विशाल स्नानागार के आधार पर भी पुजारी वर्ग के राज्य कार्य प्रमुख भूमिका होने पर भी विद्वानों ने अपने मत दिए है।

कुछ विद्वानों ने मोहनजोदड़ो के गढ़ी क्षेत्र में स्थित एक बड़े स्तम्भों वाले महल की संज्ञा दी है लेकिन यह मत सर्वमान्य नही है क्योकिं

उत्खनन के दौरान कोई मकबरा प्राप्त नही हुआ है जैसे कि पश्चिमी एशिया तथा मिस्र की सभ्यताओं में प्राप्त हुए है। परन्तु यदि हम राजाओं, महलों, मकबरों इत्यादि के होने को नकार दे तो क्या यह मान सकते है कि किसी प्रकार के मिली–जुली व्यवस्था का प्रशासन रहा होगा या पूर्णतयः धर्मनिरपेक्ष प्रशासन था। इन सभी प्रश्नों का उतर तो पूर्ण रूप से तभी मिल पाएगा जबकि सिन्धु सभ्यता की लिपि को पढ़ लिया जाएगा और विभिन्न क्षेत्रों से होने वाले उत्खननों से कुछ और महत्वपूर्ण सामग्री प्रकाश में आएगी। लेकिन श्री लाल के विचार ही अभी ज्यादा उपर्युक्त होते है कि जिस प्रकार छठी शताब्दी के आस–पास भारत सोलह महाजनपदों में विभाजित था उसी प्रकार सिन्धु सभ्यता के भी अलग–अलग राज्य तथा उनके प्रमुख शहर या राजधानियाँ थी।

धर्म (Religion)

हडप्पा सभ्यता के निवासी किसका पूजा करते थे, यह प्रश्न विद्वानों के बीच चर्चा का विषय रहा है। लिखित स्त्रोतों के अभाव में उनकी धार्मिक मान्यताओं को समझने में कठिनाई का सामना करना पड़ता है। लेकिन पुरातात्विक सामग्री के आधार पर इनके लौकिक और परलौकिक विश्वासों के बारे में जानकारी मिलती है। ऐसा प्रतीत होता है कि बहुदेववादी होते हुए भी सिन्धु निवासी एक ईश्वरीय सभ्यता से परिचित थे। इसी सत्ता को विश्व कली सजनात्मक शक्ति समझते थे। इसके प्रतीक के रूप में उन्होनें परम पुरूष और परम नारी के द्वन्द्वात्मक धर्म का विकास किया था।

पूजा विधि (Worship)

विभिन्न सिन्धु क्षेत्रों से स्नानकुण्ड, स्नानागारों, कुओं और इमारतों के अस्तित्व से अनुमान लगाया जाता है कि पूजा शुद्धि के लिए आवश्यक मानी जाती थी। मोहनजोदड़ो की कई बड़ी इमारतों की पहचान मन्दिरों के रूप में की गयी है। क्योकिं ज्यादातर पत्थर की मूर्तियाँ इन्हीं इमारतों से मिली है। मोहनजोदड़ो के निचले नगर में एक बड़ी इमारत मिली है। इसमें एक द्वार तथा मंच पर 16½ इंच ऊँची एक पाषाण शिल्प कृति मिली है। इसमें घुटनों पर हाथ रखे हुए एक पुरूष बैठा है, जिसके चेहरे पर ढाढ़ी है इसलिए विद्वानों ने इस इमारत को मन्दिा माना है।

हडप्पा के पवित्र स्थलों में संभवतः विशाल स्नानागह सबसे प्रसिद्ध है इसके चारों ओर नीचे जाने के लिए सीढियो बनी हुई है। तथा चारों ओर पुरोहितों के रहने के कमरे बने हुए है बाद के काल में भारत में इस प्रकार के धार्मिक स्थलों का निर्माण होता रहा है। इस विशाल स्नानागार के समीप एक अन्य विशाल इमारत (230×78 फुट) मिली है जिसे विद्वानों ने मुख्य पुरोहित का निवास स्थल माना है। इा प्रकार किले बंद क्षेत्र में एक सभागार मिला है इसके पश्चिम की ओर एक साथ कई कमरे बने मिले है। जिनमें एक के एक बैठे हुए योगी की मूर्ति मिली है। इसे भी धार्मिक इमारत के रूप में देखा गया है।

पूजनीय वस्तुओं के प्रमाण के तौर पर हमें हडप्पा की मोहरें और पक्की मिट्टी की मूर्तियाँ विभिन्न स्थलों से प्राप्त हुई हैं। मुहरों से मिलने वाले प्रमाणों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण देवता की पहचान आदि शिव के रूप में की गई है। कई मोहरों पर एक देवता, जिसके सिर पर सींग का मुकुट है, योगी की मुद्रा में बैठा हुआ है। इसके चारों ओर बकरी, हाथी, शेर तथा मग खड़े हुए हैं। मार्शल ने इसे पशुपति माना है। कई स्थलों पर देवता के सींग के बीच एक पौधा उगता दिखाया गया है। एक अन्य मोहर पर योगी नंगे बदन पीपल की शाखायों के बीच खड़ा है। एक उपासक उसके सामने झुका हुआ है इसमें योगी के साथ सर्प की आकृति भी है। बाद में इसे शिव का रूप मान लिया गया। अनेक हडप्पाई स्थलों से शिव लिंग भी प्राप्त हुए हैं। इन प्रमाणों के आधार पर विद्वानों ने शिव को हडप्पा का सबसे प्रमुख देवता माना है।

मातदेवी (Mother Goddess)

अनेक हडप्पा बस्तियों से काफी मात्रा से पककी की मातदेवी की मूर्तियाँ प्राप्त हुई है। अनेक मूर्तियाँ सिरों पर पखें के रूप में मुकुट पहने हुए हैं। कभी–कभी उनके साथ शिशु भी दिखाए गए है। मातदेवी की मूर्तियों को गर्भधारण के विभिन्न रूपों में भी चित्रित किया गया है। इन प्रमाणों से हडप्पा सभ्यता में अभिजनन पंथ के प्रति विश्वास और मातदेवी की पूजा के प्रमाण मिलते है।

वक्ष आत्माएं

संभवतः ये लोग वक्ष आत्माओं की भी पूजा करते थे। कई जगत वक्षों की शाखाओं के बीच से झांकती हुई आकृतियाँ दिखाई गयी है। विद्वानों के अनुसार ये आकृतियाँ वक्ष आत्माओं को दर्शाती है। कई चित्रों में आराधक पेड़ के सामने खड़े दिखाए है, कई स्थानों पर किसी जानवर को वक्ष के समक्ष दर्शाया गया है। एक स्थान पर वक्ष के सामने 7 मानवीय आकृतियाँ खड़ी दर्शायी है और वक्ष के अन्दर एक आकृति, जिसके सिर पर सींग है, दिखायी गई है। यह संभवतः शिव की है। पीपल की पूजा यहाँ हजारों वर्षों से हो रही है। कहीं–कहीं शिव और पीपल की पूजा साथ–साथ होती है। सात आकृतियाँ प्रायः ७ महान ऋषियों अथवा मिथ्या की सात जनकी मानी गई है।

प्रतीक-पूजा

अनेक स्थलों पर सींग स्तम्भ और स्वास्तिक के चित्र प्राप्त हुए है संभवतः इनका धार्मिक महत्व था। इनकी पूजा होती थी और शायद ये अन्धविश्वास के प्रमाण थे। मुदालों पर अंकित कुछ स्तम्भों के ऊपर दीप–धूप जलते दिखाए गए है। खुदाई में अनेक स्वास्तिक चक्र तथा क्रास के चिन्ह अंकित मिलते हैं। हिन्दू धर्म में स्वास्तिक आज भी शुभ और पवित्र माना जाता है। संभवतः इस भावना की शुरुआत हडप्पा काल में हो चुकी थी।

लिंग व योनि पूजा

हडप्पा और मोहनजोदड़ो से असंख्य लिंग और योनि प्राप्त हुई है। जो साधारणतः पत्थर, लाल पत्थर अथवा सीप के बने होते थे। संभवतः इन्हें कल्याणकारी माना जाता था। हडप्पावासी इन्हें सदा अपने हाथ में ही रखते थे। मैके महोदय का मानना है कि लिंगो के निचले हिस्से घिसे हुए है इसलिए संभवतः ये कूटने–पीसने के उपकरण थे। इनहीं के अनुसार जो बहुसंख्यक छल्ले मिले हैं वे योंनियां नही हैं। लेकिन भारत में आज भी अनेक स्थानों पर लिंग और योनि की पूजा साथ–साथ होती है। जो उस काल में भी प्रचलित थी।

जानवरों की पूजा

हडप्पा के लोग कई प्रकार के जानवरों की भी पूजा करते थे। इसके प्रमाण मुहरों तथा पक्की मिट्टी की मूर्तियों से मिलते हैं। चन्हुदड़ों से प्राप्त एक मुहर में लिंग बाहर किए हुए एक सांड एक झुकी हुई मानव आकृति के साथ संभोग कर रहा है। यह निश्चित रूप से अभिजनन के प्रति विश्वास का सूचक है। मुहरों पर ज्यादातर बैल चित्रित किया गया है। संभवतः वर्तमान सभ्यता के बैलों एवम् गायों के प्रति आदर के भाव हडप्पा काल में रहे हैं।

मुहरों पर विभिन्न समष्टि आकृति वाले जानवर भी अंकित किए गए है। मुहरों पर ऐसा जानवर रूप जीव मिलता है जिनका अगला हिस्सा मानव जैसा है, पिदला हिस्सा शेर जैसा है। इसी प्रकार भेड़ों, बैलों तथा हाथियों की मिली–जुली समष्टि प्राप्त हुई है। ये निश्चय ही पूजनीय आकृतियाँ रही होगीं। हडप्पा की मुहरों पर एक अन्य महत्वपूर्ण जानवर एक चित्रित Unicom मिलता है। यह एक घोड़े जैसा जानवर है जिसके सिर के बीच एक सींग है। संभवतः इसकी भी उपासना की जाती होगी।

अग्नि-वेदिका

प्रतीत होता है कि कालीबंगा और लोथल के हडप्पा वासी अलग–अलग धार्मिक संस्कारों के अनुयायी थे। कालीबंगा के किले में उभरी ईटों के मंच मिले है जिनके ऊपर अग्नि–वेदियां बनी हुई है। जिनमें पशुओं की हड्डियां तथा राख मिली है, इस स्थान पर भी कुआँ और स्नानगह मिले है। संभवतः यह पूजा स्थल रहा होगा जहाँ पशुओं की बलि धार्मिक पवित्रीकरण तथा अग्नि की पूजा की जाती होगी। निचले नगर में भी कई मकानों में अग्नि वेदी मिली हैं। लोथल से भी अनेक अग्नि वेदिकाएं प्राप्त हुई है ये प्रमाण महत्वपूर्ण है क्योकिं इनसे यह संकेत मिलता है कि विभिन्न पात्रों के हडप्पा निवासी अलग–अलग धार्मिक रीतियों के अनुयायी थे तथा वैदिक युग के धर्म में अग्नि पूजा के विरोध का विशेष महत्व था। वैदिक काल में आर्य भिन्न प्रकार के लोग थे, कालीबंगा से प्राप्त प्रमाणों से पता चलता है कि आर्यो ने हडप्पा क्षेत्रों में बसने के बाद हडप्पावासियों की ही धार्मिक रीतियों को अपनाया। उपर्युक्त विवरण से यह संकेत मिलते है कि हडप्पा सभ्यता के भिन्न–भिन्न प्रकार के धर्मो का आचरण प्रचलित था।

पतन/ह्रास (Decline)

पुरातत्ववेता पिछले कई दशकों से इस अध्ययन में कार्यरत है कि हडप्पा सभ्यता का विघटन कैसे हुआ। इनके अनुसार 1900-1700 ई०पू० के मध्य इस सभ्यता के नगरों का स्वरूप बिगड़ने लग गया था। क्योकिं इस काल में पक्की ईटों के योजनाबद्ध तरीके से घर बनने बंद हो गए, औद्योगिक गतिविधियाँ समाप्त हो गई, मोहरें बननी बंद हो गई दसके अतिरिक्त शहरों से जनसंख्या का पलायन शुरू हो गया। पुरातत्वियों को मिले ये प्रमाण इस सभ्यता के विघटन की ओर संकेत करते है। विद्वानों ने इस विषय में अपने अलग–अलग मत प्रस्तुत किए है।

गोर्डन चाइल्ड और मार्टिन व्हीलर के अनुसार इस सभ्यता का विनाश आर्यो के आक्रमण के कारण हुआ। आर्य अफगानिस्तान के रास्ते से आए, उन्होंने उतर–पश्चिमी भारत पर आक्रमण किया और प्राचीरों वाले नगरों को नष्ट कर दिया। अनेक भारतीय साहित्यिक सूत्रों के अनुसार यह घटना 1500 ई०पू० में घटित हुई। अप्रत्यक्ष रूप से इसी तरह के साक्ष्यों के संकेत हडप्पा और मोहनजोदड़ों से पाए गए है और उन्हें ऋग्वेद में वर्णित कथाओं और पात्रों से जोड़ा जाता है। ऋगवेद में आर्यो के देवता इन्द्र को 'पुस्दर' कहा गया है अर्थात किलों को नष्ट करने वाला। यानि हडप्पा में जो किले थे उन्हें आर्यो ने नरूट किया ऋग्वेद में एक स्थान पर 'हरियूपिया' स्थान का जिक्र है। व्हीलर ने इसे हडप्पा से जोड़ा है। इनके अनुसार आर्यो ने इस जगह युद्ध लड़ा और आक्रमण कर इसे जला कर नष्ट कर दिया। अनेक विद्वान इस सिद्धान्त से सहमत नही है। उनके अनुसार हडप्पा सभ्यता के ह्रास का अनुमानित समय 1800

ई०पू० माना जाता है। इसके विपरित आर्य यहाँ 1500 ई०पू में आए। दूसरा हडप्पा और मोहनजोदड़ों से किसी सैन्य आक्रमण का कोई साक्ष्य नही मिला है। मोहनजोदड़ों की सड़कों पर जो मनुष्यों के शव पड़े मिलने का जो साक्ष्य है वह आसपास की पहाड़ियों से आए लुटेरों के हमलों से हो सकता है।

मार्शल और मैके ने अपने अध्ययन के बाद यह टिप्पणी की थी कि सिन्धु नदी में बार–बार आने वाली भंयकर बाढ़े इन महानगरों के विनाश के लिए उतरदायी थी। मोहनजोदड़ों से मकानों और सड़कों पर गाद कीचड़युक्त मिट्टी भरी पड़ी थी। बाढ़ आने के बाद यहाँ के निवासी पुराने मलबे के ऊपर फिर मकान बना लेते थे। खुदाई के दौरान पता चला कि 70 फुट गहराई तक मकान बने हुए थे। बार–बार आने वाली बाढ़ों से परेशान होकर नगरवासी कहीं ओर पलायन कर गए। बाद में आर०एल० रायक्स/रेइक्स ने 1965 में अपने लेख में स्पष्ट किया इस सभ्यता के पतन का कारण भंयकर बाढ़ थी, जिससे तीस फुट तक पानी नगरों में भर गया था। इन्होंने आगे बताया कि बाढ़ के साथ भूकंप भी आया। जिससे अदी का मार्ग भी अवरूद्ध हो गया और यह सभ्यता नष्ट हो गयी। इनके अनुसार बालाकोट, सुत्काजनदोर और सतकान्कोह जो समुन्द्र तट पर स्थित थे, भूकम्प के कारण जमीन ऊपर उठने से समुन्द्र तट से दूर हो गए, जिससे व्यापारिक गतिविधियाँ प्रभावित हुई और इस सभ्यता का विनाश हो गया लेकिन पुरातत्वियों ने इनके मत का कड़ा विरोध किया। आलोचकों के अनुसार यदि भूकम्प से नदी का मार्ग अवरूद्ध हो गया होता तो कुछ समय बाद जल के दबाव से टूट भी जाता। लेकिन ऐसा हुआ होगा इसका कोई प्रमाण नही मिला है।

सर व्हीलर, पिगॉट महोदय और डी॰पी॰ अग्रवाल तथा अन्य विद्वान इस सिन्द्धात के समर्थक थे कि हडप्पाई क्षेत्र की जलवायु में शुष्कता बढ़ने के कारण और हाकड़ा क्षेत्र (घग्घर नदी) के सुखने के कारण इस सभ्यता का ह्रास हुआ। इस क्षेत्र की जलवायु आज के मुकाबले काफी नम या गीली थी लेकिन दूसरी शताब्दी ई०पू० के मध्य में इसकी जलवायु शुष्कता बढ़ रही थी। जिस कारण इस अर्ध–शुष्क क्षेत्र पर प्रतिकुल प्रभाव पड़ा होगा, जैसे कृषि की पैदावार में कमी हुई जिसका सीधा असर नगरीय अर्थव्यवस्था पर भी पड़ा। इसके साथ यह तर्क भी दिया जाता कि इन आन्तरिक परिवर्तनों के कारण इस क्षेत्र के नदी मार्गों पर भी असर पड़ा। इनके मत का पुरातत्वियों ने समर्थन नही किया क्योकिं एक तो यह कम सूचनाओं पर आधारित हो और जिनके स्पष्ट परिणाम नही निकाले गए थे। इसके अतिरिक्त घग्घर नदी के सूखने का काल अभी निर्धारित नही हो सका है।

फेयर सर्विस ने हडप्पा सभ्यता के ह्रास के लिए पारिस्थितिकी असंतुलन को मुख्य कारण माना है उन्होंने हडप्पा नगरों में निवास करने वाली जनसंख्या की खाद्य जरूरतों का आकलन किया। इनके अनुसार ग्रामीण जनसंख्या अपनी उपज की लगभग 80% खपत स्वंय करते थे और 20% मण्डियों में बेचते थे। यदि कृषि का सही प्रतिमान पहले भी विद्यमान रहा होता तो मोहनजोदड़ों जैसे नगरों का, जिनकी जनसंख्या करीब ३५ हजार थी, खाद्यान्न आपूर्ति के लिए बड़ी संख्या में ग्राम निवासियों की जरूरत थी। इनके अनुसार इन अर्ध शुष्क क्षेत्रों का पर्यावरण असंतुलन इसलिए बिगड़ रहा था क्योकिं इन क्षेत्रों में मनुष्यों और मवेशियों की आबादी अपर्याप्त जंगलों, खाद्यान्न और ईंधन के स्त्रोतों को तेजी से खत्म कर रही थी। इन क्षेत्रों की सीमित उत्पादन क्षमताएँ निवासियों के लिए पर्याप्त नही थी। धीरे–धीरे जंगल और घास के मैदान लुप्त होने के कारण बाढ़ अधिक आने लगी और अधिक सूखा पड़ने लगा। जीविका मूलभूत आधार नष्ट होने के कारण यहाँ की अर्थव्यवस्था पर भी इसका अनुकूल प्रभाव पड़ा। इसलिए यहाँ के निवासी उन क्षेत्रों की ओर पलायन करने लगे जहाँ पर्यावरण असंतुलन का यह सिन्द्धात मानने में भी कुछ कठिनाईयाँ है जैसे :– हड़प्पा जनसंख्या की जीविका संबन्धी जरूरतों की गणना अल्प सूचनाओं पर आधारित है। उचित आकड़े एकत्रित करने के लिए अधिक साक्ष्यों की आवश्यकता है।

डा०आर०एस० शर्मा का विचार है कि विदेशी व्यापार में गिरावट इस सभ्यता के ह्रास का मुख्य कारण था। विदेशी व्यापार में आई गिरावट के लिए दो कारण उतरदायी थे। प्रथम, कृषि तथा उद्योग–धन्धे में उत्पादन की कमी, दूसरा 1700 ई०पू० के आसपास उन देशों में राजनीतिक अस्थिरता उत्पन्न हो गई जिसके साथ हड़प्पा सभ्यता के व्यापारिक संबन्ध थे। इसका परिणाम यह हुआ कि पगरीय सभ्यता का अर्थव्यवस्था में काफी गिरावट आ गई जो इसके पतन का कारण सिद्ध हुई।

कुद विद्वानों के अनुसार इस सभ्यता का पतन किसी महामारी–प्लेग या मलेरिया के कारण हुआ। महामारी के कारण बड़ी संख्या में लोगों की मत्यु हो गई और जो जीवित रहे उनके स्वास्थय पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। जिस कारण इस सभ्यता के विकास में अवरोध उत्पन्न हो गया।

यदि हम विभिन्न उत्खनित स्थलों से प्राप्त प्रमाणों को देखे तो पाएगें कि सिन्धु सभ्यता का अन्त नही बल्कि ह्रास हुआ है जो कि एक लम्बे अरसें में हुआ। यही नही इस सभ्यता की बहुत सी चीजे तो बाद की ताम्रपाषाणीय एवं अन्य संस्कृतियों में ही नही बल्कि आज भी पाई जाती है। पश्चिम एशिया में सुमेरियन सभ्यता के अन्त के कारण व्यापार समाप्त होने से इस सभ्यता का ह्रास होना शुरु हो गया। पहले घर जो बड़े–बड़े हुआ करते थे वे अब छोटे होने लगे, बड़े–बड़े भवन लुप्त होने लगे, गलियों में अतिक्रमण, विशेष मदभांडो का न पाया जाना जैसे बाद के काल में ' S' प्रकार के बर्तन, छेददार (Perforated) बर्तन, बड़े स्टैंड वाली प्लेटें न पाया जाना, कई विशेष चित्रित डिजाइनो का न पाया जाना, कीमती पत्थरों की चीजें कम होना, मुद्रांको (Seals) का न पाया जाना, लेखन कला

का लुप्त होना, घरों में समद्धि के कम प्रमाण, पक्की ईंटो के स्थान पर ईंटो या रोड़ों (Brick-lats) का प्रयोग या कच्ची ईंटो का प्रयोग इत्यादि आर्थिक समद्धि के कम हाने तथा इस सभ्यता के ह्रास का द्योतक है। यह सभ्यता एक दम से समाप्त नही हुई बल्कि काफी समय तक चलती रही जिसके प्रमाण हमें निम्न लिखित स्थलों से मिलते हैं :–

चुन्हुदड़ों (Chunhudaro) में बाद के काल में झूखर तथा झांगर (Jhukhar and Jhangar) संस्कृति मिलती है जो कि सिन्धु सभ्यता का ही ह्रास का रूप है।

हडप्पा में सभ्यता के काल के बाद में इसी से मिलती जुलती 'श्वाधाम–एच' (Cementary 'H') संस्कृति मिलती है। अमरी (Amri) में भी काल III-D झूखर संस्कृति तथा काल–IV झांगर संस्कृति का है। यद्यपि कालीबंगा में हमें सिन्धु सभ्यता के बाद के प्रमाण नही मिलते। हरियाणा में सीसवाल के मीताथल, राखीगढ़ी, बालू से इस सभ्यता के बाद के प्रमाण मिलते है। पंजाब में रोहिड़ा, रोपड़ से सभ्यता के बाद की ह्रास संस्कृति के प्रमाण है। संकोल, बाड़ा इत्यादि से तो बाड़ा संस्कृति जो कि सभ्यता के बाद की है, के प्रमाण मिलते हैं।

बाद के काल (Late Harappan) काल में बड़े–बड़े नगर समाप्त हो गए तथा छोटे–छोटे गाँव मिलने लगे। रफीक मुगल ने पाकिस्तान के चोलीस्तान में दर्शाया है कि ज्यादातर स्थल अब 5 हेक्टेयर के हैं। केवल एक स्थल कुडवाला, जो कि यजमान के समीप स्थित है 31 हेक्टेयर का है जिसे हम बड़े शहर की संज्ञा दे सकते है। यही हाल पंजाब, हरियाणा के स्थलों का है। पश्चिमी उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र के कुछ इलाकों में तो हडप्पा संस्कृति के बाद (Late Harappan) के ही प्रमाण है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सिन्धु सभ्यता का अन्त आकस्मिक नही हुआ अपितु आर्थिक समद्धि कम होने के कारण यह दिन–प्रतिदिन क्षीण होती चली गई तथा समद्ध सभ्यता के बाद में खीण अवस्था में यह काफी समय तक चलती रही।

इकाई-II

अध्याय-1

वैदिक सभ्यता (Vedic Civilization)

वेदों से प्राप्त समाज एवं उनकी आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक जीवन को हम दो प्रमुख भागों में बांट सकते है। प्रथम ऋग्वैदिक संस्कृति का भाग है प्रारम्भिक वैदिक संस्कृति, जिसकों जानने का स्त्रोत ऋग्वेद है जो कि आर्यो का प्राचीनतम ग्रंथ है। उतरवैदिक संस्कृति का ज्ञान हमें यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद इत्यादि से होता है। परन्तु सर्वप्रथम हमें यह जान लेना आवश्यक है कि क्या आर्य भारत के ही मूल निवासी थे या कहीं दूसरे देश से प्रस्थान कर भारत में बस गए थे। इस विवाद की शुरूआत तब हुई जब कलोरेंस के एक व्यापारी ने, जो कि गोआ में 5 वर्ष तक निवास कर (1583-88), वापिस जाते समय यह खोज कर सका कि संस्कृत तथा यूरोप की महत्वपूर्ण भाषाओं में कोई सम्बन्ध है। 1786 ई. में सर विलियंम जोनस ने सुझाव दिया कि संस्कृत तथा यूरोप की महत्वपूर्ण भाषाओं में संबंध का कारण है कि इन भाषाओं को बोलने वाले कभी एक समय में इक्ट्ठे रहे होंगे। उन्होंने ग्रीक, लैटिन, गोथिक, सेल्टिक, संस्कृत पर्शियन आदि भाषाओं का उद्‌गम केन्द्र एक ही माना तथा इन भाषाओं को इण्ड्रों यूरोपीयन नाम दिया।

आर्यो के मूल देश के बारे में विभिन्न के मत है। कुछ विद्वान आर्यों को भारत का मूल निवासी मानते हैं तो कुछ इन्हें विदेशी मानते हैं जो मूलतः दूसरे देश से आकर भारत में बस गए। अविनाश चन्द्र दास आर्यो को सप्त सैन्धव प्रदेश, महामहोप्याय गंगावाभ का इन्हें ब्रह्मर्षि देश, राजबली पांड़े के विचारों अनुसार मध्य प्रदेश, श्री एल. डी. कब्ला आर्यो को कश्मीर या हिमाचल प्रदेश, श्री डी एस त्रिवेदी के मतानुसार देविका प्रदेश आदि का मूलनिवासी मानते हैं गाइलण महोदय के मतानुसार आर्यो का मूल निवास स्थान हंगरी श्री बालगंगाधर तिलक आर्यो का आदि देश उत्तरी ध्रव मानते हैं। पेंका नामक विद्वान के विचारों से इनका मूल निवास जर्मनी है, डॉ. मच के अनुसार पश्चिमी बल्टिक क्षेत्र, नेहरिंग के अनुसार रूस आर्यो का मूल निवास स्थान मानते हैं। परन्तु अधिकांश विद्वानों का मत है कि आर्य मध्य एशिया से भारत आए है। क्योंकि इसी क्षेत्र से हमें आर्यो के देवताओं इन्द्र, वरूण, मित्र तथा नस्त्य इत्यादि के प्रमाण एलअमरणा तथा बोगाजकोई नामक स्थलों से मिलते हैं। इसके अलावा आर्यों के अधिकतर धार्मिक कर्मकाण्डों के प्रमाण भी इसी जगह से मिलते है। जैसे – मतकों का दाहसंस्कार, अश्व केन्द्रित अल्पतंत्र, अग्नि पूजा, रथगाड़ी, छोडों का प्रथम प्रयोग इत्यादि का प्रमाण मध्य एशिया के स्थलों पर देखने को मिलता है। गांधार श्वाधान संस्कृति के घूसर मदभांडों पर आर्य मदभांडों की छाप मिलती है।

आर्य भारत में सर्वप्रथम सरस्वती नदी एवं तथा उसके आस–पास के क्षेत्र तक सीमित थे। इस काल में ये अपने मवेशियों के साथ विभिन्न कबिलों में बंटे हुए थे और इन्हें पूर्वी भारत के बारे में अधिक जानकारी नहीं थी, क्योंकि ऋग्वेद में सरयु, गंगा नदियों का उल्लेख मात्र एक या दो बार हुआ है। इस काल में पुरू, युद्ध और तुर्वसु आदि महत्वपूर्ण कबिले थे। लेकिन उतरवैदिक काल के आर्यों ने गंगा–यमुना दोआब के क्षेत्र में अपना प्रसार किया और बड़े–2 नगरों एवं जनपदों की स्थापना की।

आर्य समस्या

फ्लोरिनटाइन व्यापारी फिलियों सस्सेत्ती 1583 से 1588 तक गोवा में अपने निवास के पश्चात जब अपने देश जा रहा रहा तो उसने सर्वप्रथम यह मत प्रतिपादित किया कि संस्कृत तथा युरोप की प्रमुख भाषाओं में काफी समानता है। परन्तु इन भाषाओं का समान उद्‌भव का प्रतिपादन सर्वप्रथम 1786 में सर विलियम जोनज ने एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल में किया। उन्होंने बताया कि युनानी, लीतीनी, गोथिक, सैल्टिक संस्कृत तथा फारसी में काफी समानताएं है। आर्य समस्या के ततीय चरण में जर्मन विद्वान मैक्स मूलर ने बताया कि आर्य एक वैज्ञानिक भाषा है जिसे किसी नस्ल से सम्बन्धित नहीं किया जा सकता तथा यह एक केवल भाषा वैज्ञानिक मसला है परन्तु भाषा के इस फार्मूले को विद्वानों ने कभी स्वीकार नहीं किया तथा आर्य भाषा को आर्य नस्ल का ही एक रूप से बना एक समस्या पैदा कर दी।

आर्य शब्द का अर्थ है श्रेष्ठ अथवा श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न। व्यापक अर्थ में आर्य को मनुष्य की उस जाति को कहते हैं जिसकी शरीर रचना, रंग रूप तथा प्राकृति एक विशेष प्रकार की होती है। जैसे गोरा रंग, लम्बी नाक, ऊंचा माथा, हृष्ट–पुष्ट, लम्बे शरीर वाला इत्यादि। वेदो में आर्य उसे कहा गया है जो ऊपर लिखे विवरण वाला तो हो तथा इन्द्र, वरूण मित्र आदि की पूजा करने वाला हो। दूसरी ओर अन्य लोगों को अनार्य, दास या दस्यु इत्यादि संज्ञा दी गई।

यूरोप के विभिन्न देशो, ईरान और भारत के निवासी अपने आप को आर्य संस्कृति प्रजाति की सन्तान मानते है तो यह प्रश्न उठता

है कि इन प्रदेशों के लोग आदि ये कही एक स्थान पर रहते होंगे तथा वही से वे अन्य स्थानों पर चले गए। इस तरह आर्यो के आदि देश की समस्या खडी हो गई।

आर्यो का आदि देश

आर्यो के आदि देश के बारे में विद्वान एक मत नहीं है। इन के आदि देश के बारे में कई सिद्धान्त तथा मत है। इनमें प्रमुख हैं – भारतीय मूल का मत, दूसरा युरोप मूल तीसरा, मध्य एशिया का सिद्धान्त। इसके अतिरिक्त बाल गंगाधर तिलक ने आर्कटिक प्रदेश को आर्यो का आदि देश माना है। तिब्बत के पामीर क्षेत्र को भी कतिपय विद्वान आर्यो का आदि देश मानते है। इन विचारो में प्रमुख निम्नलिखित है।

आर्यो का आदि देश - यूरोप

यूरोप को आर्यो का आदि देश मानने वाले विद्वानों के तर्क दो आधारों पर निर्भर हैं –

(1) आज भी इन्डो–यूरोपीय भाषा–परिवार के शब्द और मुहाविरे जितने यूरोप की भाषाओं में विद्यमान हैं उतनी एशिया की भाषाओं में नहीं। इनसे अनुमान यही होता है कि कदाचित् यूरोप का ही देश आर्यो का आदि–देश था, एशिया का नहीं।

(2) यूरोप की लिथ्यूनियन भाषा ही समस्त इन्डो–यूरोपीयन भाषा–परिवार अत्यधिक अपरिष्कृत है और इसलिए अत्यधिक प्राचीन लगती है। अतः लिथ्यूनिया अथवा उसके समीप का कोई यूरोपीय देश आर्यो का आदि देश रहा होगा।

(1) **हंगरी** - गाइल्स महोदय का मत है कि आर्यो का आदि निवास–स्थान हंगरी अथवा डेन्यूब नदी की घाटी था। उनका यह मत भाषा विज्ञान के ऊपर है। उन्होंने इंडो–यूरोपीय परिवार की विभिन्न भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् यह निश्चित किया कि प्राचीनतम आर्यो के आदि देश की भौगोलिक अवस्था क्या थी, वे किन किन अन्नों, फलों, वनस्पतियों तथा पशु–पक्षियों से परिचित थे। इस आधार पर उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि प्राचीनतम आर्य न तो किसी द्वीप पर रहते थे और न किसी समुद्रीय प्रदेश में। कदाचित् वे समुद्र से भलीभांति परिचित थे। अनुमानतः उनका आदि निवास–स्थान तो ऐसे देश में था जो पर्वतों, नदियों अथवा झीलों से घिरा था। आर्यो के परिचित पशुओं में गाय, बैल, भेड़, घोड़ा, कुत्ता, हिरन और भालू विशेष उल्लेखनिय हैं। हाथी, बाघ, गिद्ध और बतख से वे अपरिचित थे। गाइल्स महोदय का निष्कर्ष है ककि हंगरी का देश अथवा डेन्यूब प्रदेश ही एक ऐसा भू–खण्ड है जिसमें ये सभी विशेषताएं विद्यमान हैं। अतः यही भूखण्ड आर्यो का आदि निवास स्थान रहा होगा। कालान्तर में ये आर्य डारडेनलीज के मार्ग से एशिया माइनर में प्रविष्ट हुए और वहां से मेसोपोटामिया तथा ईरान होते हुए भारत पहुंचे। यही कारण है कि समस्त देशों में आर्य–इतिहास के अति प्राचीन अवशेष मिले हैं।

(2) **जर्मन प्रदेश** - कुछ विद्वानों ने सहज जातीय विशेषताओं के आधार पर आर्यो के आदि देश की समस्या को हल किया है। उनका मत है कि प्राचीनतम आर्यों की सर्वप्रमुख जातीय विशेषता थी उनके भूरे बाल। यूनानी पौराणिक परम्पराओं में उनके देवता अपोलो के बाल भूरे थे। इसी प्रकार प्लूटार्क कैटो और सुला नामक रोमन शासकों को भी भूरे बालों वाला बताता है। इन उदाहरणों से अनुमान होता है कि प्राचीन आर्यो के बाल भूरे होते हैं। यह विशेषता आज भी जर्मन–जाति में पायी जाती है। अतः कदाचित् प्राचीनतम आर्य जर्मनी के ही निवासी थे।

कुछ पूर्वैमिहासिक मद्भाण्ड मध्य जर्मनी में मिले हैं। कुछ विद्वान इन्हें प्राचीनतम आर्यो की कृतियां मानते हैं और इन्हीं के आधार पर मध्य जर्मनी को आर्यो का आदि देश बताते हैं।

पेन्का नामक विद्वान् की धारणा है कि भूरे बालों के अतिरिक्त प्राचीनतम आर्यो की जो अन्य शारीरिक विशेषताएं थीं वे जर्मनी–प्रदेश के निवासी स्कैण्डिनेवियन्स में पाई जाती हैं। अतः स्कैण्डिनेविया को ही आर्यो का आदि देश माना है, परन्तु उनके तर्क का आधार भाषा सम्बन्धी है। उनका कथन है कि स्कैण्डिनेविया के ऊपर कभी भी विदेशी जाति का आधिपत्य नहीं रहा और तो भी उनके निवासी इंडो–यूरोपीय भाषा बोलते हैं। अतः यह देश प्राचीनतम आर्यो का आदि–देश रहा होगा।

कुछ अन्य विद्वानों ने पुरातत्व क आधार पर पश्चिमी बाल्टिक समुद्र–तट को आर्यो का आदि देश माना है। इनका कथन है कि इस तट पर पूर्व–पाषाणकाल के अनुगामी काल की अति प्राचीन और सरल वस्तुएं मिली हैं। कदाचित् ये प्राचीनतम आर्यो की होंगी। इस मत के प्रतिपादकों में विशेष उल्लेखनिय हैं मच महोदय।

(3) **दक्षिणी रूस** - नेहरिंग महोदय ने त्रिपोल्जे (दक्षिणी रूस) यूक्रेन में प्राप्त कुछ मद्भाण्डों का अध्ययन करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला कि ये 300 ई. पू. के हैं। आर्यो का आदि देश कदाचित् रूस ही था।

पोकोर्नी महोदय का अनुमान है कि प्राचीनतम आर्य स्टेप्स अथवा विस्तत मैदानों में निवास करते थे। इस प्रकार के मैदान रूस में वेजर और विश्चुला नदियों के बीच में और उसके आगे श्वेत रूस तक हैं। अतः यही प्रदेश आर्यो का आदि–प्रदेश रहा होगा।

मध्य एशिया का सिद्धान्त

आर्यो के मूल निवास–स्थान के सम्बन्ध में मध्य एशिया का सिद्धान्त एक दूसरा महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। एक ईरानी अनुश्रति के आधार

पर कुछ विद्वानों ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया था कि आर्य मध्य एशिया के मूल निवासी थे। प्राचीन ईरानियों के धर्म ग्रन्थों तथा वैदिक साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन ये यह निष्कर्ष निकाला गया है कि ईरानियों की भाषा और धर्म में घनिष्ठ सम्बन्ध था। अवेस्ता की भाषा वेदों की भाषा से बहुत कुछ मिलती–जुलती है। एक लेखक का तो यहां तक कहना है कि ''केवल एक–आधा शब्द या वाक्य–खंड ही नहीं, वरन् एक सम्पूर्ण पद्यांश को बिना शब्दावली परिवर्तित किये ही भारतीय से ईरानी भाषा में लाया जा सकता है।'' ईरानियों के देवता भी आर्यो के देवता के सदश थे। इन समानताओं के आधार पर विद्वान इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि ईरानियों और वैदिक आर्यों के पूर्वज एक ही थे और दन दोनों जातियों का मूल निवास–स्थान एक ही रहा होगा।

मध्य एशिया में आर्यों के मूल निवास–स्थान के सम्बन्ध में कुछ प्रसिद्ध विद्वानों के मत इस प्रकार हैं –

एडुअर्ट मेयर के मतानुसार पामीर प्रदेश आर्यों का आदि–देश था। उनका कथन है कि इंडो–ईरानी लोग पामीर प्लेटो के आसपास कहीं रहते थे। ऋग्वेद और अवेस्ता आर्यों की दो पुरानी पुस्तकें हैं जिनमें भाषा सम्बन्धी अनके बातें मिलती है। इन दोनों ग्रन्थों में कई समान वस्तुओं का उल्लेख आया है। उदाहरणार्थ, इनमें घोड़ों, प्राचीन गांवों, नाव खेने तथा कई वक्षों का वर्णन आया है जिसमें पीपल मुख्य है। अतएव आर्यों की जन्मभूमि ऐसे स्थान में होनी चाहिए जहां घोड़ों और गायों की अधिकता है, नाव चलाने के लिए झीलें हों, पीपल के वक्ष खूब होते हों और सर्दी भी पड़ती है। ऐसी भूमि पामीर प्रदेश ही है, क्योंकि यहां ये सारी चीजें पायी जाती है।

रेहार्ड ने कहा है कि आर्यों का मूल स्थान मध्य एशिया ही था। उसने कहा है प्रारम्भ में आर्य वैक्ट्रिया और उसके आसपास के भूभाग पर निवास करते थे। इस स्थान में जनसंख्या अधिक हो जाने के कारण उन लोगों ने पूर्व–पश्चिम और उत्तर की ओर प्रस्थान किया। उसके इस मत का आधार ईरानी प्राचीन अनुश्रुतियां हैं।

मध्य एशिया के सिद्धांत के वास्तविक प्रवर्त्तक जर्मन विद्वान प्रोफेसर मैक्समूलर माने जाते हैं। उनका कहना है कि आर्य जाति और उसकी सभ्यता का ज्ञान हमें वेदों और अवेस्ता से होता है। इन ग्रन्थों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय तथा ईरानी आर्य बहुत दिनों तक एक साथ निवास करते थे। अतएव इनका आदि देश भारत तथा ईरान के निकट किसी स्थान पर रहा होगा। वहीं से एक शाखा ईरान को, दूसरी भारत को तथा तीसरी यूरोप को गयी होगी। उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों से यह पता लगता है कि प्राचीन आर्य पशु–पालन और कृषि–कार्य करते थे। अतएव वे एक लम्बे मैदान में रहते होंगे। इन तथ्यों के आधार पर मैक्समूलर और अन्य विद्वान इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि मध्य एशिया ही आर्यों का मूल देश था।

कुछ विद्वानों ने रूसी और तुर्किस्तान को आर्यों का आदि–देश माना है। इस मत के प्रमुख समर्थक हर्जफेल्ड महोदय हैं। बैंडेन्स्टीन का कहना है कि प्रारम्भिक, इण्डो–यूरोपीयों के शब्द–कोष से यह पता चलता है कि पर्वत के निकट स्टेप्स के मैदान में रहते थे। प्रोफेसर चाइल्ड तथा अन्य कई यूरोपीय विद्वान कहते हैं कि एशिया माइनर के बोगाजकोई नामक स्थान में खुदाई होने पर कुछ ऐसे लेख प्राप्त हुए हैं जिनमें ऋग्वैदिक काल के आर्यों के देवता इन्द्र, वरुण आदि के नाम अंकित हैं। इन लेखों के अतिरिक्त बर्तन और कोई अन्य अवशेष भी प्राप्त हुए हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि वहां कोई ऐसी जाति रही होगी जो बकरी, भेड़, गाय, बैल और घोड़े आदि पशु पालती है, खेती करती और गांव बसाकर रहती थी। ये सारी बातें आर्यों की सभ्यता यही स्थल था और यही से वे ईरान, भारत, अफगानिस्तान तथा यूरोप में फैले थे। इन विद्वानों का यह मत है कि ऋग्वेद में वर्णित वनस्पतियों, फल फूल, पशु एवं भौगोलिक स्थिति केवल एशिया के इसी भाग में ही सम्भव था। अतः मध्य एशिया ही आर्यों की जन्मभूमि है।

आर्यो का आदि देश - भारत - कुछ विद्वानों का यह मत है कि आर्य भारतवर्ष में बाहर से नहीं आये थे, इसी देश के मूल निवासी थे।

(1) सप्त सैन्धव - डॉ. अविनाशचन्द्र दास ने सप्तसैन्धव–प्रदेश को आर्यो का आदि देश माना है। इस प्रदेश में सिन्धु, वितस्ता, असिवनी, परुष्णी, बिपासा शतुद्रि और सरस्वती नामक सात नदियां बहती थीं। इन्हीं के द्वारा सींचा गया उर्वर प्रदेश प्राचीन काल में सप्तसैन्धव प्रदेश के नाम से प्रख्यात था और यही प्रदेश आर्यों का आदि प्रदेश था। कालान्तर में इनके बीच धार्मिक मतभेद उत्पन्न हो गये। आर्यों का एक वर्ग देवों का उपासक रहा और दूसरा वर्ग असुरों का उपासक हो गया। दोनों वर्गों में भंयकर युद्ध हुआ, जो वैदिक साहित्य में देवासुर– संग्राम के नाम से उल्लिखित है। इस संग्राम में अअसुर–उपासक परास्त हुए और सप्तसैन्धव प्रदेश को छोड़कर पश्चिम की ओर चल पड़े तथा ईरान में जाकर बस गये। पारसीकों के प्राचीनतम ग्रन्थ जेन्द–अवेस्ता में जिस अहुर–मज्दा का वर्णन है वह ईरान में नवागत विरोधी 'आर्य–वर्ग' का ही देवता था। डॉ. सम्पूर्णानन्द ने भी सप्तसैन्धव को ही आर्यो का आदि देश माना है।

(2) ब्रह्मर्षि-देश - महामहोपाध्याय पं. गंगानाथ झा का मत है कि आर्यों का आदि–देश भारतवर्ष का ब्रह्मर्षि–देश था।

(3) मध्यदेश - डॉ. राजबली पाण्डेव भारतवर्ष के मध्य देश को आर्यों का मूल निवास–स्थान मानते हैं। यहीं से वे पश्चिमी भारतवर्ष, मध्य एशिया और पश्चिमी एशिया पहुंचे थे। ऋग्वेद में सप्त–सैन्धव का वर्णन अवश्य है, परन्तु इसकी रचना जो उस समय हुई थी जब आर्य अपने मूल निवास मध्य देश को छोड़कर पंजाब में आ गये थे।

(4) कश्मीर - श्री एल.डी. कल्ल ने मतानुसार कश्मीर अथवा हिमालय–प्रदेश को आर्यों का आदि देश समझना चाहिए।

(5) देविका प्रदेश - मुल्तान में देविका नामक नदी है। श्री डी. एस. त्रिदेव इसी नदी के समीपवर्ती प्रदेश को आर्यों का आदि निवास–स्थान मानते हैं। वैदिक संस्कृति को जानने के हमारे पास मुख्यतः चार वैदिक ग्रन्थ है जिनमें ऋग्वेद सबसे प्राचीन है तथा अन्य तीन उससे बाद के हैं। 'वेद' शब्द को संस्कृत के 'विद' से लिया गया है जिसका अर्थ है 'ज्ञान' वेदों में प्रार्थनाओं और श्लोकों का संकलन है जिनकी रचना ऋषियों के परिवारों ने देवताओं के सम्मान मे की थी। ऋग्वेद को भाषा विज्ञान के आधार पर 1500-1000 ई. पूर्व माना जा सकता है। इसके 10 सर्ग या मंडल है जिनमें दूसरे और सातवें को सबसे पहले की रचना माना जाता है।

वैदिक संस्कृति को दो भागों में बाटा जाता है प्रथम ऋग्वैदिक संस्कृति जिसमें ऋग्वेद पर आधारित उस काल के समाज का वर्णन है जबकि आर्य लोग छोटे–२ कबीलों में रहते थे तथा मुख्यतः पशुपालक थे। इस समय वे हरियाणा में सरस्वती तक ही बसे थे। दूसरे काल को उत्तर वैदिक काल कहा जाता है जिसका मुख्य स्त्रोत बाद के तीनों वेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थ इत्यादि है। इस समय उनका प्रसार पूर्वी भारत तथा विन्ध्य पर्वत तक के क्षेत्र में हो चुका था।

ऋग्वैदिक संस्कृति

ऋग्वैदिक काल में आर्य लोग छोटे–२ बहुत से कबीलों में बंटे हुए थे तथा हमेशा ही नए क्षेत्रों की तलाश में आए बढ़ रहे थे। ये कबीले न केवल गैर आये लोगों से निरन्तर युद्धरत रह बल्कि आपस में भी उनका हमेशा संघर्ष चलता रहता था।

पंचजन - भारतीय आर्य अनेक वर्गो में विभक्त थे। इनमें 'पंचजन' विशेष प्रसिद्ध थे। इनके नाम हैं – अनु, द्रह्यु, यदु, तुर्वसु तथा पुरू इनके अतिरिक्त अन्यान्य गण भी थे। इनमें भरत, क्रिवि और त्रिसु विशेष उल्लेखनीय हैं।

पारस्परिक युद्ध - पारस्परिक युद्धों में सर्वप्रमुख युद्ध है दश राजाओं का युद्ध। आर्यो के भारतवर्ष का राजा सुदास था। यह अत्यन्त वीर और साम्राज्यवादी नरेश था। बहुत दिनों से विश्वामित्र भरत–वर्ग का पुरोहित था। वह बड़ा योग्य व्यक्ति था। परन्तु कुछ समय के पश्चात् वह पुरोहित–पद से हटा दिया गया और उसके स्थान पर वशिष्ठ को पुरोहित–पद दिया गया। विश्वामित्र इस अपमान से बड़ा क्षुब्ध हुआ। उसने निकटवर्ती दस राजाओं का एक संघ बनाया और उसकी सहायता से भरत–नरेश सुदास के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। परुष्णी (रावी) के तट पर दोनों पक्षों में भंयकर युद्ध हुआ। इसमें सुदास की विजय हुई और पंजाब में उसकी प्रतिष्ठा अभूतपूर्व हो गई।

दस राजाओं के इस संघ के अतिरिक्त सुदाय ने शिवों, अलिनों, विषणियों और पक्थों के संघों को भी भिन्न–भिन्न कालों में पराजित किया था। सुदास अपने काल का एक प्रमुख वीर और साम्राज्यवादी था।

अनायों से युद्ध - पारस्परिक युद्धों के अतिरिक्त आर्यों को अनार्यों के साथ भी युद्ध करने पड़े थे। ये अनार्य भारतवर्ष कि निवासी थे। ऋग्वेद में इनकी जातियों और इनके नरेशों के नामोल्लेख मिलते हैं। अनार्य जातियों में अज, यक्षु, किकट, पिशाच और शिग्रु आदि के नाम आते हैं। अनार्य राजाओं में विशेष उल्लेखनीय हैं मेद। इसे सुदास ने पराजित किया था। इन नरेशों के अतिरिक्त सम्बर, धुनि और चुमुरि आदि अन्यान्य अनार्य–नरेश भी थे। आर्यो को अपने भूमि–विस्तार के लिए पग–पग पर इन्हीं अनार्यो से युद्ध करना पड़ा। अपने उत्कृष्ट सैनिक संगठन और प्रबल अश्वारोहियों के कारण इस आर्य–अनार्य युद्ध में आर्यों की विजय हुई और उन्होंने शनैः शनैः अनार्य–प्रदेशों को अधिकृत कर लिया तथा अनार्यों को 'दास' अथवा 'दस्यु' की संज्ञा दी।

ऋग्वेद के वर्णनों से प्रकट होता है कि आर्यो और अनार्यो में मौलिक रूप से शारीरिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक भेद थे। अनार्य काले थे और उनकी नाक चपटी होती थी। ऋग्वेद में उन्हें 'अनासा' (बिना नाक वाले) कहा गया है। उनकी भाषा भी भिन्न थी। इसी से आर्य अनार्यो को 'मध्रबाक्' कहते थे। इन भेदों के अतिरिक्त आर्यो और अनार्यो में प्रबल धार्मिक भेद था। इसी तथ्य को प्रदर्शित करते हुए आर्यो के लिए 'देवपीयु' (देवताओं को अपवित्र करने वाले), अदेवयुः (देवताहीन), अन्यव्रत (अन्य प्रकार की क्रियायें करने वाले), अयज्वन् (यज्ञ न करने वाले) और 'अकर्मन्' (कर्महीन) आदि शब्दों का प्रयोग किया है।

युद्ध प्रणाली - आक्रमण अथवा उसकी सम्भावना होने पर वे अपने धन–जन की रक्षा के हेतु विशिष्ट प्रकार से बने हुए दुर्गों में शरण लेते थे। इन्हें 'पुर' कहते थे। ये पाषाण–निर्मित अथवा धातु निर्मित होते थे। इनके चारों ओर प्रायः लकड़ी की चारदिवारी बनी रहती थी। इन दुर्गो के अतिरिक्त आर्यों के ग्राम भी कभी–कभी चारदिवारी अथवा खाइयों से संरक्षित होते थे। आग लगाकर इन चारदिवारी को नष्ट करना आक्रमणकारियों की सर्वप्रथम योजना होती थी। युद्ध करने के लिए राजा के पास सेना होती थी। राजा और राजन्य (उसके उच्चवर्गीय सहायक) रथों पर चढ़कर लड़ते थे और साधारण मनुष्य पैदल। आर्य अश्वारोहण से परिचित थे। अतः उनकी सेना में पदाति के साथ–साथ अश्वारोही भी होते होंगे। परन्तु ऋग्वेद में रथारोहियों का उल्लेख नहीं मिलता। ऋग्वेद में शर्ध, व्रात और गण आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। बहुत सम्भव है कि ये सेना की इकाइयों के नाम हों। सेना का सर्वोच्च

पदाधिकारी स्वयं राजा होता था। युद्ध के अवसर पर वह सेना का नेतत्व करता था। सैनिक कार्यों में राजा की सहायता करने के लिए सेनापति की नियुक्ति की जाती थी। वह राजा के परामर्श से सेना का संगठन करता और युद्ध की योजना बनाता था। राजा और सेनापति के अतिरिक्त सेना के साथ राजपुरोहित भी होता था। वह अपने देश और नरेश की विजय के लिए देव–स्तुति करता था और सैनिकों को उत्साहित करता था। युद्ध प्रमुखतया धनुष–बाण से होता था। बाणों की नोंकें प्रायः नुकीले लोहे की होती थी। कभी–कभी बाणों के सिरों पर नुकीले और विशाक्त सींग भी लगे रहते थे। ऋग्वैदिक काल के अन्यान्य आयुधों से बरछी, भाला, फरसा और तलवार उल्लेखनीय हैं। ऋग्वेद में कहीं–कहीं पर 'पुरचरिष्णु' का उल्लेख हुआ है। कदाचित् दुर्गो के गिराने के लिए विशेष प्रकार के इंजिन थे। युद्धों में आत्मरक्षा के लिए प्रधान योद्धा कवच और शिरस्त्राण धारण करते थे। कभी–कभी बाहुत्राण और अंगुलित्राण के प्रयोग के उदाहरण भी मिलते हैं। सैनिकों के उत्साहवर्धन के लिए रण–वाद्य का भी उपयोग होता था। उनके साथ पताकाएं भी रहती थीं।

ऋग्वैदिक कालीन राज्य संरचना (Rigvedic State Structure)

इस काल में हमें राज्य की संरचना का अधिक ज्ञान, साक्ष्यों के अभाव में नहीं है। प्रारंभिक वैदिक काल मे राज्य का पूर्ण स्वरूप सामने नहीं आया था। इसकी जानकारी हमें प्राचीन स्त्रोतों से मिलती है। प्रसिद्ध सप्ताहंग सिद्धांत के आधार पर यदि हम देखें तो इस काल में ये सातों अंग 1. राजा 2. मंत्री 3. क्षेत्र 4. संसाधन 5. किले 6. सेना 7. सहयोगी, में से अधिकतर अंग नहीं थे। प्रारंभिक वैदिक समाल अलग–अलग कबीलों में विभजित था, जिन्हें जन या विश कहते थे। इन कबीलों के अनार्यो से परस्पर संघर्ष चलता रहता था इसके अलावा ये आपस में भी युद्ध करते रहते थे। इस काल के प्रमुख कबील युद्ध, तुरकसु, द्रहयु, अनु और पुरू इत्यादि थे। ये एक स्थान पर टिक कर निवास नहीं करते थे बल्कि जगह–जगह घूमते रहते थे। यानि लंबे अरसे तक कहीं स्थायी निवास नहीं करते थे। इस प्रकार क्षेत्र, जो राज्य का एक महत्वपूर्ण अंग होता है इस काल में नहीं था। इस काल में ना कोई महत्वपूर्ण शासक था बल्कि प्रत्येक कबीले (जन) का अपना अलग मुखिया होता था जो राजन कहलाता था। यद्यपि यह पद वंशानुपात होता था जिसका प्रमाण हमें दिवोदास तथा सुदास राजाओं से मिलता है। इसके अतिरिक्त ऐसे भी उदाहरण है जब सर्वसम्मती से राजा का चुनाव किया हो तथा आवश्यकता पड़ने पर जनता ने राजा को पदच्युत कर दिया। वंशानुगत राज्याधिकार तभी तक वैध था जब तक जनता उसको अनुमोदित करती। इस काल ने राज्य के कोई संसाधन नहीं थे तथा लोगों की सम्पति उनके मवेशी होते थे। जिसके पास ज्यादा गाय होती वह ज्यादा सम्पन्न माना जाता था। राजकोष जो राज्य का एक महत्वपूर्ण अंग होता है इस काल में नहीं था। इस काल में किले और सैनिकां का महत्व था। सेना स्थायी नहीं थी, आवश्यकता पड़ने पर आम जनता सैनिक कार्य भी करती थी। सेना में पैदल और घुड़सवार दोनों शामिल थे। राजा या राज्य के सहयोगी राज्य का अन्तिम सांतवा अंग माना जाता है इस काल में सभी जन आपस में झगड़ते रहते थे यद्यपि दश राजाओं के संघ का संयुक्त युद्ध करने का प्रमाण ऋग्वेद में मिलता है। उपर्युक्त साक्ष्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि इस काल में राज्य सरंचना अभी नहीं हुई थी। इस काल में राज्य का स्वरूप कबीलाई संरचना पर आधारित था। जिसमें कबीलें के लोगों के आपसी संबंध थे। इस काल के जनों का कोई स्थाई क्षेत्रीय आधार नहीं था तथा राजन या कबीलें का मुखिया अपने कबीलें के साथ हर समय घूमता रहता था। इस काल में अश्व केन्द्रित राजतंत्र का काफी महत्व था जिनके पास घोड़े थे उन्हें उच्च माना जाता था। राज्य सता के सूचक संघटनों के प्रमाण हमें ऋग्वेद से नहीं मिलते। ऋग्वेद में वर्णित व. वता, जन, विश, गण, गह, व्रजा तथा ग्राम इत्यादि शब्दों का उल्लेख जनसमूह अथवा योद्धा समूह के लिए हुआ है। जो इस बात की पुष्टि करता है कि ऋग्वैदिक समाज अस्थाई और घुमक्कड़ जनसमुदाय था तथा रक्त संबंधों पर आधारित जन–जातिय समाज संगठित था।

राजनैतिक इकाइयां (Political Units)

ऋग्वैदिक काल में सामान्यतः राजतन्त्रात्मक सरकार थी। राजन शब्द का उल्लेख ऋग्वेद में अनेक बार हुआ है। ऋग्वेद की एक ऋचा मे सिन्धु प्रदेश के राजा का उल्लेख है तथा अन्य में सरस्वती पर निवास कर रहे राजा चित्र का उल्लेख है। सुदास का दस राजाओं के संगठन से युद्ध के प्रमाण मिलते हैं। दान–स्तुतियों में भी राजाओं का उल्लेख मिलता है। ये प्रमाण राजतंत्र की ओर इशारा करते हैं। इसके अतिरिक्त गण, गणपति तथा ज्येष्ठ का उल्लेख गणतंत्रात्मक स्वरूप होने की ओर इशारा करता है। ऋग्वैदिक काल में राज्य जनों में विभक्त था और प्रत्येक जन में एक ही कबीले के लोग निवास करते थे जिनका आपस में रक्त–संबंध थे। सूपास के साथ युद्ध करने वाले दस राजाओं के संगठन का राजनैतिक स्वरूप कैसा था, इसकी जानकारी हमारे पास नही हैं। इस काल में राजा की स्थिति काफी महत्वपूर्ण थी हांलाकि वह अपने कबीलें का मुखिया ही था। लेकिन कुछ राजा कबीलें के मुखिया की स्थिति से उपर थे। सामान्यतः वंशानुगत राजतंत्र के प्रमाण मिलते हैं। किन्तु ऐसे भी प्रमाण है कि किन्हीं विशेष परिस्थितियों में विश (जो राष्ट्र की एक इकाई थी) राजपरिवार या राजसदस्यों में से राजा का भी चुनाव कर सकते थे।

सभा एवम् समिति

ऋग्वेद में सभा और समिति का अनेक बार उल्लेख हुआ है। सभा और समिति के विषय में विद्वानों में मतभेद है। हिलब्रैण्ड का कथन है कि समिति एक राजनैतिक संस्था थी तथा सभा उसका अधिवेशन स्थल। लुडविंग सभा को उच्चतर सदन तथा समिति को निम्न सदन का नाम देते है। परन्तु ऋग्वेद में इस बात का प्रमाणित करने के उल्लेख कहीं नहीं मिलता। जिमर महोदय का कहना है कि सभा ग्राम संस्था थी तथा समिति केन्द्रीय संस्था। ऋग्वेद में समय शब्द के उल्लेख (सभा के योग्य) से पता चलता है कि सभा का कोई प्रशासनिक उद्देश्य था तथा समिति को वैदिक कबीलों की एक संस्था के रूप में माना जा सकता है। लुडविंग के अनुसार समिति में विश के लोग ब्राह्मण तथा अन्य उच्चवर्ग के व्यक्ति शामिल थे। यद्यपि सभा और समिति के कार्यों में अतंर स्पष्ट करना कठिन है लेकिन प्रतीत होता है कि समिति एक ऐसी संस्था थी, जिसमें कबीलों के प्रमुख कार्य सम्पन्न किए जाते थे तथा राजा उनका अध्यक्ष होता था। तथा सभा समिति की तुलना में कम महत्व की संस्था था जिसमें समाल के सभी वर्ग शामिल थे। यद्यपि हमें सभा और समिति के कार्यो एवम् अधिकारों का अधिक ब्यौरा ऋग्वेद में नही मिलता। लेकिन इन दोनों संस्थाओं का समाल में काफी महत्व था तथा ये इस काल में राला की शक्तियों पर नियंत्रण रखती थी।

इन दोनों राजनैतिक संस्थाओं के अतिरिक्त राजा पर पुरोहित का भी काफी प्रभाव था। यह राजा के साथ ने केवल युद्धों में जाता था। बल्कि यज्ञ और प्रार्थनाएं भी सम्पन्न करता था। इस काल के शक्तिशाली पुरोहितों में वशिष्ठ तथि विश्वमित्र के नाम उल्लेखनीय हैं जिनका राजा पर काफी नियंत्रण था।

प्रशासनिक संस्थाएं (Administrative Institutions)

इस काल में सम्पूर्ण कार्य अनेक जनों में विभक्त थे। ऋग्वेद में उल्लिखित पंचजन उस काल के पंच महत्वपूर्ण कबीले थे। इनके अतिरिक्त अन्य छोटे कबीलें भी थे। ऋग्वेदि में विश शब्द का उल्लेख अनेक बार हुआ है जिसका उस काल की राजनैतिक संस्था में महत्वपूर्ण स्थान था। सभी कबीले के सदस्य मिलकर राष्ट्र या कबीले के मुखिया का निर्माण करते थे। विश, जन तथा गांव में विभक्त थे। सुरक्षा के लिए पुर का निर्माण करते थे। सुरक्षा के लिए पुर का निर्माण किया जाता था जो पत्थरों से निर्मित थे। ग्राम एक ही कुल की अलग–अलग इकाईयों के बने थे। जिसमें कुल का प्रशासनिक संगठन में महत्व था। एक स्थान पर कुलपा या कुल का संरक्षक का वाजपति जो शायद ग्रामणी ही था के साथ एक झण्डे तले लड़ने का वर्णन है। यह वर्णन हमें कुलपा के ग्रामीण के साथ सिविल और सैनिक कार्यो के महत्व को दर्शाता है। सेनानी उस समय का सैनिक अधिकारी था, तथा पुरोहित के समान ही यह महत्वपूर्ण स्थान रखता था। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में हमें स्पश का भी उल्लेख मिलता है। दूत या संदेशवाहक का कार्य इस काल ने राजा के संदेश लोगों तक या अन्य कबीलों तक पहुचाना था।

प्रारंभिक वैदिक कालीन समाज (Rigvedic Society)

प्रारंभिक वैदिक काल के समाज का आधार सगोत्रीय और मुख्यतः कबीलाई संरचना पर आधारित था। जिसमें विभेदीकरण की प्रक्रिया के चिन्ह स्पष्ट रूप से उभर कर सामने नहीं आए थे। इस काल का समाल कई अर्थो में प्रायः समानतावादी था जिसमें एक ओर पदों के आधार पर अनेक विभिन्नताएं थी, जो विशेषकर पशुओं की संख्या के आधार पर निर्धारित की जाती थी, इसके अतिरिक्त लिंग और आयु भेद के आधार पर भी सामाजिक स्तर पर असमानताएं थी। लेकिन दूसरी ओर मनुष्यों के लिए उत्पादक संसाधनों को प्राप्त करने के लिए किसी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं था। ऋग्वेद में वर्णित इकाइयां – विश, जन, गण–वात आदि कबीलाई संगठन की ओर संकेत करती है। जन और विश सामूहिक उत्पादन की महत्वपूर्ण इकाइयां थी। ऋग्वेद में जन और विश शब्दों का कई बार प्रयोग हुआ है, जन विश के रूप में विभक्त था, उनमें से एक का संबंध संपूर्ण कबीले से था तथा दूसरे का गोत्र से। ऋग्वेद में जन का उल्लेख 275 बार तथा विश का 171 बार हुआ है।

परिवारिक जीवन (Family Life)

इस काल में परिवार का आधार पितसतात्मक था, उसमें तीन या चार पीढियों का समावेश था। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में वर्णित शुनहशेप कहानी से हमें बच्चों पर पिता के पूरे नियंत्रण का पता चलता है। परिवार में अनुशासन बहुत कठोर था तथा इसे तोडने वाले को सजा देने का अधिकार भी पिता को था। जैसा कि उल्लेख है एक जुआरी पुत्र को उसके पिता तथा भाइयों ने दण्ड स्वरूप उसे बेच दिया था। इस सन्दर्भ का तात्पर्य यह नहीं है कि इस काल में माता–पिता तथा संतान के इसी प्रकार के सम्बन्ध हुआ करते थे, अपितु पिता को एक अच्छा तथा दयालु हृदय बताया गया है। एक ही परिवार के कई पीढ़ियों के इक्ट्ठे रहने के भी प्रमाण मिले है। परिस्थितिवश परिवार में पत्नी की मां के भी रहने का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद के दसवें अध्याय में एक जुआरी यह शिकायत करता बताया गया है कि घर में उसकी सास उससे नफरत करती थी। अतिथि सत्कार घर में एक धार्मिक कार्य माना जाता था

ऋग्वेद में माता–पिता, भाई बीन, पुत्र और पुत्री के लिए अलग–अलग शब्दावली थी, लेकिन भतीजों, पोत्रों और चचेरे भाइयों के लिए मात्र एक शब्द नाप्त/नपत का प्रयोग किया जाता था। परिवार में पुत्र प्राप्ती के लिए ऋग्वेद में विभिन्न स्तुतियों और प्रार्थनाओं का उल्लेख मिलता है।

विवाह एवम् महिलाओं की स्थिति (Marriage & condition of Women)

ऋग्वेद से हमें विवाह संबंधी जानकारियों का वर्णन मिलता है। सामान्यतः वयः सन्धि के बाद लड़की की शादी की जाती थी और उन्हें अपने पति के चुनाव के अधिकार की भी स्वंतन्त्रता थी। अविवाहित लड़कियों का भी वर्णन मिलता हैं, घोषा इसी की तरह की एक अविवाहित लड़की थी। इसके अतिरिक्त अपने प्रेमियों का लुभाने के लिए कन्याओं का उत्सवों पर गहने पहनने का वर्णन तथा युवकों के अपनी प्रेमिकाओं को भेंट इत्यादि देने के अनेक मंत्रों का वर्णन है। इनका विवाह दस्यु वर्ग या अनार्य लोगों में नहीं हो सकता था तथा आर्यो में भाई–बहन तथा पिता–पुत्री के विवाह पर प्रतिबन्ध था। विवाह में व्यस्कों को अपने पति और पत्नी चुनने की काफी स्वतंत्रता थी ऐसा कोई स्पष्ट प्रमाण नही कि माता–पिता या भाई की सहमति आवश्यक थी। विवाह के दौरान इनकी उपस्थिति अनिवार्य थी। विवाह में मंत्रों से नता चलता है कि एक नवविवाहित स्त्री किस प्रकार अपने सास–ससुर, देवर और ज्येष्ठ पर अपने प्यार और स्नेह से राज्य करती थी तथा उनका आदर भी करती थी। वधु विवाह भोज में भी सम्मिलित रहती थी। बारातियों का स्वागत इस काल में गाय का मांस खिला कर किया जाता था। वर–वधु का हाथ पकड़ कर अग्नि के पास–पास चक्कर लगाकर प्रणय सूत्र में बंधते थे। सुखी दाम्पत्य जीवन के लिए अनेक प्रार्थनाएं की जाती थी, ऋग्वेद में जो प्रार्थनाएं की गई हैं वे पति और पत्नी दोनों की तरफ से है। परिवार में पुत्र और पौत्र प्राप्ति की कामना के लिए अनेक प्रार्थनाएं की जाती थी। वधु को अपने घर में सम्मान का दर्जा प्राप्त था, ऐसा वर्णन है कि वह अपने पति के पिता, भाई तथा बहनों पर राज करती थी, यह संदर्भ सभवतः उस स्थिति का है जब बडे पुत्र की शादी हो गई हो तथा लड़के का पिता जीवन से मुक्त हो, चुका हो। परन्तु प्रतीत होता है कि यह अधिकार प्रेम के कारण ज्यादा था। यज्ञ, विवाह आदि अवसरों पर पति–पत्नी की उपस्थिति अनिवार्य थी। इस काल में विवाह मुख्य रुप से सन्तानोत्पति (पुत्र की प्राप्ति) के लिए किया जाता था, पुत्री प्राप्ति की कामना के प्रमाण ऋग्वेद में कहीं नहीं मिलते। संभवत पितसतात्मक समाज में पुत्र की प्राप्ति ही आवश्यक थी। केवल पुत्र ही पिता का अंतिम संस्कार कर सकता था तथा उसी से वशं आगे बढता था। यद्यपि पुत्र ना होने की स्थिति में पुत्र गोद लेने के भी प्रमाण है परन्तु यह अधिक प्रचलित नहीं था।

पित सतात्मक समाज के बावजुद स्त्रियों की स्थिति उतरकालीन महिलाओं की अपेक्षा बहुत अच्छी थी। ऋग्वेद में पत्नी का यज्ञ करने और अग्नि में आहुतियाँ देने का स्पष्ट प्रमाण है। वे सभाओं में भाग लेने के लिए स्वतंत्र थी ऋग्वेद थी । ऋग्वेद में ऐसी महिलाओं का जिक्र है जिन्होंने वेद मंत्रों की रचनाएँ की, जिनमें अपाला और विश्वआरा उल्लेखनीय है। इससे स्पष्ट है कि स्त्रियाँ शिक्षा ग्रहण करने के लिए स्वतन्त्र थी। ऋग्वेद के मंत्रों में पुत्र प्राप्ति के लिए अनेक प्रार्थनाएँ की गई है लेकिन पुत्री के जन्म का कही भी दुःखद नहीं माना गया है। इस काल में सती प्रथा का कोई सपष्ट प्रमाण नहीं है ऋग्वेद में एक स्थान पर एक विधवा को अपने पति की चिता से नीचे उतर आने का कहे जाने के प्रमाण तो है लेकिन यह सतीप्रथा का सपष्ट प्रभाव नहीं है। यदि विधवा स्त्री को पुत्र नहीं है, तो वह अपने देवर के साथ सहवास कर पुत्र प्राप्त कर सकती थी। यह बाद की नियोग प्रथा का ही एक प्रारूप है। इसके अतिरिक्त विधवा पुनःविवाह भी कर सकती थी। साधारणतः हमें एक पत्नी विवाह के प्रमाण मिलते हैं लेकिन एक पुरूष की एक से ज्यादा पत्नियों के भी प्रमाण है। यह शायद राजभ्य वर्ग में ज्यादा प्रचलित था, साध्य प्रमाण है। इसके अतिरिक्त प्रजापति की कहानी में पिता–पुत्री तथा यम–यमी की कहानी में बहन–भाई के शारीरिक संबंधों का उल्लेख मिलता है, लेकिन ज्यादातर विद्वान इसे मिथ्या मानते हैं। स्त्रियों को विवाह तक अपने पिता की सुरक्षा में, विवाहोपरान्त पति की, यदि अविवाहित है तो अपने भाई की सुरक्षा में रहना पड़ता था। इसका यह तात्पर्य नहीं कि वे बाहर स्वेच्छा से घूमने, भोज, नत्य और उत्सवों से भाग लेने के लिए स्वतंत्र ना हो। उनकी स्वतंत्रता पर कोई बंधंन नहीं था।

भोजन और पहनावा (Attire & Food)

प्रांरभिक वैदिक काल में आर्य मांसाहारी दोनों प्रकार का आहार लेते थे। मुख्यतः पशुपालन पर आधारित अर्थव्यवस्था के कारण दूध और उससे बनी वस्तुओं का वे अधिक सेवन करते थे। घी या घत का प्रयोग, जौ के आटे को दूध या मक्खन में मिलाकर रोटी बनाने के प्रमाण ऋग्वेद में मिलता है। बैल, भेड़ और बकरी का मांस इनके भोजन का मुख्य अंग था। अश्वमेघ सम्पन्न होने पर घोड़े का मांस सामान्य रूप से खाया जाता था, ताकि घोड़े जैसी तेजी प्राप्त कर सकें। यद्यपि गाय को अधन्य माना गया है दूध न देने वाली गाय के मांस का सेवन भोजन के रूप में किया जाता था। इसके अतिरिक्त अतिथियों को विशेष अवसरों पर गाय का मांस परोसा जाता था। ऋग्वेद में सोमरस पेय का भी वर्णन है, सुरा व शराब पीने का भी उल्लेख हुआ है। इसके अतिरिक्त शहद का भी भोजन में प्रयोग करते थे।

इस काल में पहनावा साधारण था और आर्य मुख्यतः तीन वस्त्र धारण करते थे। नीवी शरीर के निचले हिस्से में पहनने वाला वस्त्र, वास मध्यभाग में पहनने वाला वस्त्र तथा अधिवास ऊपरी हिस्से पर पहनने वाला वस्त्र था। स्त्री और पुरूष के पहनावे में ज्यादा अन्तर नही था। खाल या चमड़े का भी प्रयोग वस्त्र के रूप में किया जाता था। मारूत को मग छाल पहने हुए बताया गया है। इस काल में अटक भी एक प्रकार का बुना हुआ वस्त्र था। ऊनी वस्त्रों का भी प्रयोग करते थे। कढ़ाई किए गए वस्त्र को पहने नतकी का उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। विवाह के अवसर पर वप्पु विशेष वस्त्र धारण करती थी। सुन्दर वस्त्रों के लिए सुवासस् तथा सुवसन शब्दों का उल्लेख मिलता है। समाज में स्त्री और पुरूष दोनों वर्ग आभूषण धारण करते थे। सोने का कर्णशोभन संभवतः पुरूषों के लिए पहनने वाला आभूषण था। हिरण्यकर्ण सोने का आभूषण था जो देवताओं को पहने दर्शाया गया है। कुरीर वधु के सिर पर पहनने वाला गहना था। हार के रूप में सोने का आभूषण निष्क इस काल में प्रचलित था। मोती और हीरे में निर्मित आभूषण गले में पहने जाते थे। एक ऋचा में अश्विनों को कमल के फूलों से ढ़का बताया गया है। केश श्रंगार के भी शौकीन थे। तेल लगाकर कंघी निकाले हुए बताया गया है। पुरूषों को दाढ़ी और मूंछ रखने का शौक था।

चिकित्सक और दवाईयां

ऋग्वेद में इस काल में चिकित्सा पद्धति का भी प्रमाण है। बिमारियों में दक्षम का भी यदा–कदा वर्णन मिलता है। ऋयाओ में अनेक औषधियों तथा उनके गुणों का वर्णन है। इस काल में टूटी हुई हड्डियों को जोड़ने की कला से ये परिचित थे। आंखों की रोशनी पुनः प्राप्त करने, अन्धेपन का इलाज, तथा अंगहीनता ठीक करने के प्रमाण इस काल में मिलते हैं।

शिक्षा एवम् मनोरंजन (Amusement & Education)

ऋग्वेद के दंसवें मण्डल में शिक्षा प्रणाली पर विशेष जोर दिया गया है, कि शिक्षा द्वारा व्यक्ति अपनी शारीरिक, बौद्धिक और मानसिक शक्तियों का विकास कर सकता है। ऋग्वेद में उपनयन संस्कार को कोई प्रमाण नही है। ऋग्वेद के मण्डूक सूक्त में हमें शिक्षा प्रणाली के बारे में जानकारी मिलती है, इसमें वर्णन है कि विद्यार्थी अपने गुरू से मौखिक शिक्षा प्राप्त करते थे और विद्यार्थी उस सामूहिक रूप से दोहराते थे। इस काल के विद्यार्थी के लिए ब्रह्मचारी शब्द प्रयुक्त किया जाता था। शिक्षा गुरूकुलों में दी जाती थी। इस काल में महिला शिक्षिकाओं का भी उल्लेख है, मैत्रेयी और गार्गी इस काल की विदुषियां थी।

संगीत का ऋग्वैदिक काल में विशेष महत्व था। वैदिक ऋचाओं का एक संगीतमयी लय में उच्चारण किया जाता था। इसके अतिरिक्त वीणा और ढ़ोला बजाने वालों का भी उल्लेख मिलता है। अविवाहित कन्याओं द्वारा किए जाने वाले नत्य का भी वर्णन मिलता है। सामाजिक समारोह और उत्सवों में पुरूष और स्त्री दोनों की नत्य में भाग लेते थे। कीथ नामक विद्वान के अनुसार इस काल में धार्मिक नाटकों का भी प्रचलन था। इसके अतिरिक्त रथदौड़ और घुड़दौड़ मनोरंजन का एक महत्वपूर्ण साधन था। चौपट तथा जुआ खेलने के प्रमाण भी ऋग्वेद की विभिन्न ऋचाओं से मिलते है। आखेट भी मनोरंजन का एक महत्वपूर्ण साधन था।

वर्णव्यवस्था

वर्णसमाज की रूपरेखा ऋग्वैदिक काल के अंतिम चरण मे आंरम्भ हो गई थी जिसे पुरूष सूक्त (x.60) में देखा जा सकता है। इसमें उल्लेख है कि देवताओं ने आदि पुरूष के 4 भाग किए; ब्राह्मण उसका मुख, राजन्य बाहु तथा जंघा वैश्य हो और शुद्र की उत्पति उसके पैरों से हुई। प्रथम तीनों वर्णो की उत्पति आदि पुरूष से नही हुई बल्कि वे उसके मुख, बाहु और जंघा के समान बताए गए है जबकि शुद्र की उत्पति पैरों से होने का अर्थ यह हुआ कि उसका जन्म तीनों वर्गो की सेवा करने के लिए हुआ है। प्रारंभ में शायद वर्ग विभाजन मुख्यतः आर्य और अनार्यो के बीच हुआ होगा क्योंकि दोनों की संस्कृतियां भिन्न थी। ऋग्वेद में 'दास' और 'दस्यु' वर्ग का उल्लेख भी मिलता है जिनके साथ आर्यो के संघर्ष का भी उल्लेख मिलता है। दास और दस्यु इस क्षेत्र में आदिम निवासी थे जिनसे आर्यो का संघर्ष हुआ। संभवतः युद्ध में हारे जाने पर अनार्यो का बंदी बना कर सेवा कार्य लिया जाता होगा। संस्कृत में वर्ग लिए वर्ण शब्द का प्रयोग किया जाता है। यही वर्ण शब्द विभिन्न रूप–रंगों और विजातीय संस्कृतियों के लोगों के साथ आर्यो के संपर्क के परिणामस्वरूप चार वर्णो के उद्भव की ओर इशारा करता है। इस काल के अंतिम दौर में समाज चरा वर्णो में बट गया था, लेकिन जात–पात का बखेड़ा खड़ा नहीं हुआ था इस व्यवस्था में लचीलापन था। ऋग्वेद में एक उदाहरण मिलता है कि एक व्यक्ति कहता है। मेरे पिता पुरोहित है माता अनाज पीसती है और पुत्र चिकित्सक है। इससे पता चलता है कि व्यवसाओं को अपनाने की स्वतंत्रता थी।

आर्थिक स्थिति (Economic Condition)

वैदिक युग में भारतीय समाज में कई महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए, क्योंकि इस काल में लोहे के प्रयोग ने भारत के उतरी मैदानों को कृषि योग्य बना दिया जिसके परिणामस्वरूप कृषि प्रणाली एवम् उससे जुड़ी स्थायी जीवन व्यवस्था स्पष्ट तौर पर उभर कर सामने आई

जिसने अन्य पहलूओं – (सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और धार्मिक) को भी प्रभावित किया। इन परिवर्तनों के परिणामस्वरूप वैदिक युग को मुख्यतः दो भागों में विभाजित किया जा सकता है ; प्रथम जिसमें मुख्यतः पशुपालन पर आधारित आर्थिक व्यवस्था पर जोर दिया गया तथा द्वितीय जिसमें कृषि की ओर झुकाव प्रदर्शित होता है।

प्रारंभिक वैदिक कालीन अर्थव्यवस्था (Rig Vedic Economy)

इस काल की अर्थव्यवस्था में पशु–पालन का सर्वाधिक महत्व था और पशु उनके स्वत्व और संपति के सर्वाधिक मूल्यवान साधन थे। पशुधन की महता की जानकारी पशुओं के लिए की जाने वाली प्रार्थनाओं से मिलती है। पशुओं के लिए बहुधा विभिन्न कबीलों में युद्ध होते थे, युद्ध के लिए विशिष्ट शब्द का प्रयोग किया जाता था जिसका अभिप्राय है गायों की खाज। ऋग्वेद में कई स्थानों पर गाय के लिए अधन्या शब्द का प्रयोग किया गया है, यानि गाय का वध नहीं करना चाहिए, इससे उसके आर्थिक महत्व का बोध होता है। गाय और बैल की इस काल में महत्वपूर्ण पालतू पशु थे, यहीं इस काल का धन थे तथा यज्ञ समापन के बाद दक्षिणा के रूप में इन्हें पुरोहितों का दिया जाता था। गायों को रात के समय तथा दिन की धूप में बाड़ों में रखा जाता था। जबकि अन्य समय में वे स्वतः चरागाहों में चरती रहती थी। शाम के समय गायों को वापिस बाड़ों में लाया जाता था। इन कार्यो के लिए विशेष शब्दों का प्रयोग हमें ऋग्वेद में मिलता है। स्वसर का अभिप्राय सुबह चरगाहों में घास चरने जाने का है जबकि सम्गाव का अर्थ शाम को दूध दोहने के लिए वापिस लाने के लिए प्रयुक्त होता था। लड़कियों के लिए दुहिता शब्द का प्रयोग किया गया है, क्योंकि दूध दोहने का कार्य वे ही किया करती थी। ऋग्वेद में गायों पर आने वाले खतरों का भी उल्लेख मिलता है जैसे गाय का खो जाना, चोरी हो जाना, पैर टूट जाना इत्यादि। इस काल में पशुओं के कानों पर निशान दाग दिए जाते थे। जिससे उनके स्वामित्व की आसानी से पहचान की जा सकती थी। गाय को इस काल में पवित्र नही माना गया क्योंकि भोजन के लिए गाय और बैल दोनों का वध किया जाता था। गाय के अतिरिक्त भेड़, बकरियां तथा घोड़े पालतू पशुओं की श्रेणियों में आते थे। पशुओं का पालन–पोषण सामूहिक रूप से किया जाता था यानि कबीले के सभी सदस्यों का उन पर समान अधिकार था। पशुओं के महत्व का इस बात से भी पता चलता है कि मुखिया का गोपति अर्थात् पशुओं का स्वामी या सरंक्षक कहा जाता था।

इस काल में सीमित कृषि का प्रमाण मिलता है और संभवतः इसका प्रचलन और महत्व अधिक नही था। क्योंकि इस काल में यह पूर्ण रूप से विकसित नहीं हुई थी। ऋग्वेद के प्रथम और दशम् मण्डल से कृषि का उल्लेख मिलता है। प्रथम मण्डल में वर्णन है कि देवताओं ने मनु को हल चलाना और जौ की खेती करना सीखाया। ऋग्वेद के परवर्ती भाग में जुताई, बुआई, कटाई तथा ओसाई और दवाईयों का उल्लेख मिलता है। संभवतः इस काल में यव काल में अर्थात् जौ नामक एक ही प्रकार का अन्न पैदा किया जाता था और जमीन पर कबीले के सदस्यों का समान अधिकार नहीं था। ऋग्वेद ये जमीन तथा उसकी माप–प्रणाली के बारे में विस्तत वर्णन है, लेकिन कही भी किसी व्यक्ति द्वारा जमीन की ब्रिकी, हस्तातंरण, गिरवी अथवा दान का उल्लेख नहीं मिलता। इससे स्पष्ट होता है कि जमीन पर व्यक्तिगत स्वामित्व का अधिक प्रचलन नही था, कृषि सामान्यतः वर्षा पर ही निर्भर थी परन्तु इस काल में सिंचाई व्यवस्था का विकास हो चुका था। ऋग्वेद में कुल्या तथा खनितमा आप शधो का उल्लेख मिलता है जो इससे इस बात का संकेत मिलता है कि कृषि के लिए सिंचाई व्यवस्था का ज्ञान उन्हें था। इसके अतिरिक्त कूपो द्वारा भी सिंचाई व्यवस्था का उल्लेख है। खेतों में हल जोतने के लिए तथा गाडियां खींचने के लिए बैल उपर्युक्त साधन थे।

ऋग्वेद में शिल्प विशेषज्ञों का अपेक्षाकृत कम उल्लेख हुआ है जबकि चर्मकार, बढ़ई, कुम्हार, धातुकर्मियों तथा शिल्पीयों का वर्णन मिलता है। शिल्पी कार्यो से जुड़े इन समूहों में से किसी को भी निम्न स्तर का नही माना जाता था इसका कारण संभवतः यह था कि इनमें से कुछ जैसे :– बढ़ई, धातुकर्मी, चर्मकार आदि की रथों के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका थी, जो युद्ध में सफलता के लिए उतरदायी होते थे। ऋग्वेद में वर्णित अयस, धातु विवादग्रस्त है जिसे तांबे या कांस्य से जोड़ा गया है हांलाकि इसका अर्थ लोहे से भी लगाया जाता है। यह स्पष्ट है कि वे धातु गलाने की कला से परिचित थे। इस काल में बुनाई एक घरेलु शिल्प था, जो महिलाओं द्वारा किया जाता था। इस काल में जुलाहे भी थे तथा कुम्हार के लिए 'कुलान' शब्द का प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद कपास का उल्लेख ना होने से संभवतः ऊनी वस्त्रों का प्रयोग किया जाता था। स्पष्टतः इस काल में हस्तशिल्प छोटे स्तर का था जिसका प्रसार उतर वैदिक काल में बढ़ गया था।

प्रांरभिक काल की व्यापारिक गतिविधियों का उल्लेख ऋग्वेद में हुआ है। इसमें हमें व्यापारियों द्वारा दूर–दराज के क्षेत्रों में जाकर व्यापार कर लाभ कमाने के कई संदर्भ मिलते हैं। व्यापार में मुनाफे के लिए अनेक प्रार्थनाएं और आहुतियां देने के प्रमाण है। ऋग्वेद से आन्तरिक गतिविधियों की जानकारी प्राप्त होती है। इस काल में होने वाली समुद्री व्यापार के संदर्भ में विद्वान मानते हैं कि व्यापारी समुद्र तथा समुद्री व्यापार से अनभिज्ञ थे जबकि मैक्समूलर, जिमर तथा लासेन का मत है कि इन्हें समुद्र का पूरा ज्ञान था। इस काज में सरस्वती नदी को समुद्र में गिरने वाली बताया गया है। ऋग्वेद के दसवें मंडल में पूर्वी तथा पश्चिमी समुद्र का उल्लेख है

तथा इसमें वर्णित भुज्यु की कहानी से हमें समुद्री व्यापारिक गतिविधियों की जानकारी मिलती है। इस काल के लोगों को न केवल समुद्री यातायात की जानकारी थी। अपितु उनके दूसरे देश से व्यापारिक सम्बन्ध भी थे। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में नाव, चप्पुओं, वाली नावों एवम् हजार चप्पुओं वाले जहाज का भी वर्णन मिलता है। इन्हें समुद्र में आने वाले ज्वार–भाटे की भी जानकारी थी। ऋग्वेद में उल्लेखित बातें इनकी समुद्री व्यापारिक गतिविधियों की जानकारी देते हैं।

प्रारंभिक वैदिक कालीन चरण में आर्थिक व्यवस्था विस्तत पैमाने वाली अर्थव्यवस्था नही थी। कबीलाई अर्थप्रणाली थी जिसमें विनिमय–प्रणाली कीमती वस्तुओं के आदान–प्रदान पर आधारित थी। गाय विनिमय की प्रमुख इकाई थी। संभवतः इसके अतिरिक्त भी कई अन्य इकाइयां रही होगी। इस काल के निष्क का प्रचलन भी व्यापार में होने लगा था। विद्वानों के अनुसार प्रारंभ में निष्क उस काल में गले में पहनने वाला सोने का आभूषण रहा होगा। कई स्थानों पर रूद्र द्वारा निष्क पहनने का संदर्भ मिलता है। ऋग्वेद में इस बात का भी उल्लेख है कि एक कवि ने अपने राजा से 100 निष्क और 100 घोड़े दान स्वरूप प्राप्त किए। इस काल में पणि वर्ग द्वारा ऋण लेने और देने की प्रथा का प्रचलन था, जिसकी ऋग्वेद में निन्दा की गई है। लेकिन इस काल की आर्थिक उन्नति में इनके योगदान को नजरअंदाज नही किया जा सकता। प्रांरभिक चरण में बलि कर शक्तिशाली वर्ग के लिए स्वेच्छा से दिया जाने वाला कर था हांलाकि शत्रु समुदायों के लिए यह स्पष्टतः एक उपहार था जो बलपूर्वक वसूल किया जाता था, इसमें पशु तथा अन्न शामिल थे।

ऋग्वैदिक काल की धार्मिक स्थिति (Religions Condition of Rigvedic Period)

ऋग्वेद में देव अथवा देवता शब्द का अनेक बार उल्लेख हुआ है। इस काल के प्रारंभ में 'बहुदेववाद' के दर्शन होते हैं। ऋग्वेद में जिन देवताओं की पूजा की गई है, वे प्राकृतिक शक्तियों के प्रतीक है, जिनका मानवीकरण किया गया है। ऋग्वैदिक देवताओं का वर्गीकरण तीन भागों में किया गयाः (1) पथ्वी के देवता – पथ्वी अग्नि, सोम, हस्पति तथा नदियों के देवता, (2) अंतरिक्ष के देवता – इन्द्र, रूद्र, वायु, पर्जन्य मातरिश्वन आदि, (3) द्युस्थान (आकाश) के देवता – द्यौस, वरूण, मित्र, सूर्य, सविता, पूषन, विष्णु, उषा आदि। इस काल में ऋषियों ने जिस देवता की प्रार्थना की है, उसे ही सर्वोच्च मानकर उसमें सम्पूर्ण गुणों, ज्ञान और सत्य का आरोपण कर दिया। उन्हें प्रसन्न करने के लिए अनेक रचनाएं लिखी गई। विद्वान मैसमूलर ने इस प्रकृति को 'डीनोथीज्म' कहा है। ऋग्वेद से प्रसिद्ध देवता निम्न थे। जैसे ऋग्वेद में सर्वाधिक सूक्त (250) इन्द्र को समर्पित है। इन्द्र को पुरंदर (किले को ध्वस्त करने वाला), जितेन्द्र (विजयी), रथयोद्धा, मधवान तथा शांति का देवता बताया गया है। यह आकाशीय देवता युद्ध, शांति और मौसम का देवता था। इन्द्र के पश्चात् सर्वाधिक सूक्त (200) अग्नि को समर्पित हैं यज्ञों के दौरान अग्नि का विशेष महत्व था। जहां तक कि ऋग्वेद में उसे पुरोहित, यज्ञिय और होता भी कहां गया है। अग्नि के द्वारा यज्ञ में समर्पित आहुति देवताओं तक पहुंचाई जाती थी, इसलिए इसे देवताओं का मुख भी कहां गया है। अग्नि विवाह संस्कार, यज्ञों तथा दाह संस्कार आदि के लिए अनिवार्य थी। ऋग्वेद के मंत्रों में इसे पिता पथ–प्रदर्शक और मित्र भी कहा गया है।

मित्रावरूण ऋग्वेद में वरूण का वर्णन विभिन्न प्रकार से किया गया है। वरूण को आकाश, पथ्वी और सूर्य का निर्माता का गया है। सभी देवता उसकी आज्ञा का पालन करते हैं, नदियां उसी के आदेश से प्रवाहित होती है। वरूण विश्व की प्राकृतिक व्यवस्था का भी रक्षक था। सर्वशक्तिमान होने के बावजूद वह अनियन्त्रित और स्वेच्छाचारी नहीं है।

सूर्य को अंधकार दूर कर रोशनी फैलाने वाला माना गया है। ऋग्वेद के अनुसार सूर्य देवों का अनीक, चर–अचर की आत्मक तथा उनका मित्र और वरूण एवम् अग्नि का नेत्र था। सवित भी सूर्य का ही एक रूप है, और प्रसिद्ध गायत्री मंत्र उसी को समर्पित है। सूर्य मनुष्यों के सत्–असत् कर्मो का दष्टा है तथा वह विश्वकर्मा है।

रूद्र आंधी का प्रतीक है। ऋग्वेद में रूद्र से महामारी और महाविनाश से दूर रखने के लिए अनेक प्रार्थनाएं की गई हैं। यह अनेक जड़ी–बूटियों का भी संरक्षण कर्ता था।

इन्द्र शक्ति का स्वामी था जिसकी उपासना शत्रुओं को नष्ट करने के लिए की जाती थी। वह बादलों का देवता था, उससे समय–2 पर वर्षा के लिए प्रार्थनाएं की जाती थी। बादल और वर्षा शक्ति से संबंधित थे जिसको पुरूष के रूप में मानवीकरण किया गया और जिसका प्रतिनिधित्व इन्द्र करता था। युद्ध का मुखिया के रूप में भी इसका उल्लेख है। इन्द्र की स्तुति में ऋग्वेद में लगभग 250 रचनाएं है। जिसका अभिप्राय है कि इस वेद की सम्पूर्ण रचनाओं का एक चौथाई भाग एकमण इन्द्र की स्तुति से ही भरा है।

ऋग्वेद में अन्य बहुत देवता थे जैसे सोम, वायु, विष्णु, घौस, मरूत। ऋग्वेद में पुरूष देवताओं के अलावा अनेक देवियों का भी उल्लेख है जैसे : उषा, पथ्वी, अदिति अरण्यनी, सावित्री, अप्सरा और पुरामाधि आदि। इनको सम्बोधित करते हुए ऋग्वेद में अनेक प्रार्थनाएं और श्लोक लिखे गए।

ऋग्वैदिक धर्म में बलि और यज्ञों का विशेष महत्व था जो प्रायः देवताओं की उपासना करने, युद्ध में विजय, पशुओं तथा पुत्र की प्राप्ती के लिए किए जाते थे। सामान्यतः पुरोहित यज्ञों के सम्पन्न कराते थे। इस काल में यज्ञों में बलि का विस्तत उल्लेख है, जिस कारण पुरोहतों के महत्व में वद्धि हुई। बलिदान अनुष्ठानों के कारण गणित और पशु शरीर संरचना ज्ञान के विकास में भी वद्धि

हुई। यज्ञों के दौरान उसमें घी, दूध चावल और सोमरस आदि वस्तुओं की आहुति दह जाती थी। इस काल में देवताओं की उपासना किसी अर्मूत दार्शमिक अवधारणा के कारण नही बल्कि भौतिक लाभों के लिए की जाती थी इस काल के धर्म में बलिदान या यज्ञों के महत्व में काफी वद्धि हुई।

उत्तरवैदिक कालीन राज्य संरचना (Later Vedic State Structure)

उत्तरवैदिक काल ने आर्यो का प्रसार पूर्व में गंगा–यमुना दो आब के क्षेत्र में हो चुका था। अथर्थवेद में बहलीक प्रदेश से लेकर मगध तक का उल्लेख हैं इसके अतिरिक्त पूर्वी तथा पश्चिमी समुद्री तट के बारे में भी उत्तरवैदिक साहित्य में वर्णन है। इस काल में क्षेत्रीय राज्यों की स्थापना हो चुकी थी तथ कहीं–कहीं गणराज्यों का भी वर्णन मिलता है।

उत्तरवैदिक काल में राज्य और साम्राज्य अस्तित्व में आए क्योंकि इस काल में छोटे–2 कबीलें आपस में मिल गए थे। साम्राज्य का संस्थापक सम्राट कहलाता था, जिसके अधीन अन्य छोटे–2 राज्य भी थे। राजा शब्द का प्रयोग यद्यपि छोटे स्वतंत्र राज्य का द्योतक है। परन्तु इसे अधिकतर अधिन सामंत राजा के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। इस काल में राजा का दैवीक उत्पति का सिंद्धात भी प्रचलन में आया क्योंकि एक स्थान पद पुरू राजा अपने आपको इन्द्र तथा वरूण के समान बताता है और उनके द्वारा प्रदान की गई शक्तियों का जिक्र करता है। संहिताओं तथ ब्राह्मण ग्रंथों में भी वाजपेय तथा राजसूय यज्ञ करने के उपरान्त राजा समीकरण प्रजापति से किया गया है। शतपथ ब्राह्मण में इसी प्रकार का उल्लेख है। इस काल में अश्वमेघ तथ राजसूय यज्ञ सम्पन्न करा कर राजा अपने विशाल राज्य का प्रमाण देता था। परन्तु कीथ नामक विद्वान का मत है कि यद्यपि इस काल में ऋग्वैदिक कालीन कुछ राज्य नहीं था। अथर्ववेद मे राजा को अपने चचेरे भाइयों से लड़ते दिखाया गया है तथा अनार्यो से युद्धों का भी उल्लेख है।

परन्तु एतरेस ब्राह्मण में पूर्व के शासकों का सम्राट, दक्षिण के शासकों को भोज, उत्तर के विराट तथा मध्य देश के शासकों को केवल राजन कहा गया है। इसी प्रकार ऐसरात तथा सार्वभौम राजा उसे कहा गया है जिसने चारों दिशाओं में शत्रुओं पर विजय हासिल की हो। विजय के उपलक्ष्य में बाद में अश्वमेघ यज्ञ सम्पन्न किया जाता था। राजसूय यज्ञ के दौरान घोषणाओं द्वारा राला की उपलब्धियों की जानकारी दी जाती थी। इन बातों से हमें इस काल में बड़े–बड़े साम्राज्य होने की जानकारी मिलती है।

उत्तरवैदिक कालीन साक्ष्यों से पता चलता है कि राजा का पद पैतक या वंशानुगत था। शतपथा तथा ऐतरेय ब्राह्मण से पता चलता है कि कई राज्य दस पीढ़ीयों से स्थापित थे। इसके अतिरिक्त राजपुत्र शब्द का अर्थ राजा के पुत्र के रूप में भी इस व्यवस्था का द्योतक है। परन्तु अथर्ववेद के एक पथ में राजा के चयन का भी उल्लेख हैं, जिसमें प्रजा राजा का चुनाव करती है विश या क्षेत्रीय इकाइयों की अपेक्षा। परन्तु यह चुनाव राजपुत्रों था राजपरिवार से ही अपातकाल में होता होगा। इस काल में हमें जनता द्वारा कई अत्याचारी राजा को हटाने के भी प्रमाण मिलते हैं।

इस काल की समस्त रचनाओं में निरंकुश शासकों की घोर आलोचना की गई है। अथर्ववेद में अधार्मिक राजा के राज्य में वर्षा न होने तथा उसे समिति और मित्रवर्ग का सहयोग न प्राप्त होने का उल्लेख है। जो राजा निरंकुशतापूर्वक राष्ट्र के साधनों का दुरूपयोग करता था उसे शतपथा ब्राह्मण मे राष्ट्री कहा गया है। इस काल में राजा को धर्मानुकूल व्यवहार करने वाला बताया गया है। इसके अतिरिक्त राजा को राज्याभिषेक के समय शपथ लेनी पड़ती थी, कि वह नियमों का पालन करेगा, कोई हिंसा नहीं करेगा, प्रजा का पालन करेगा इत्यादि। राजा इन सभी बातों का व्यवहार में पालन करता था। इस कारण भी राजा निरंकुश नहीं हो सकता था। इसके अतिरिक्त उसे राज्य के एक महत्वपूर्ण अंग रत्नियों के प्रति भी सम्मान प्रकट करना पड़ता था और उनका सहयोग तथा अनुमोलन प्राप्त करना आवश्यक समझा जाता था। शतपथ ब्राह्मण में इनकी संख्या 11 दी गई है जो इस प्रकार है 1. सेनानी 2. पुरोहित 3. युवराज 4. महिषी (प्रमुख रानी) 5. सूत (सारथी) 6. ग्रामणी 7. क्षता (प्रतिहारी) 8. संग्रहीता (कोषाध्यक्ष) 9. भागदुध (कर संगहकर्ता) 10. अक्षज्ञप (शंतरल खेल में राजा का साथी) तथा पालागल (राजा का मित्र)।

सभा और समिति

अथर्ववेद में सभा और समिति को प्रजापति की दो पुत्रियां कहा गया है। जो हमेशा राजा को मदद करती थी। प्राप्त साक्ष्यों के अनुसार राजा अपनी शक्तियों की प्राप्ति इन्हीं से करता है। इस प्रकार राजतंत्र तथा ये दैविक संस्थाए एक ही धरातल पर है। अथर्ववेद में इस बात का वर्णन है कि राजा इनकी सहायता लेने की कोशिश करता था। यदि इनका विश्वास राजा पर ना रहे तो राजा पर विपति आने का उल्लेख है। लेकिन इस काल में राजा की शक्तियों में वद्धि होने के कारण इस काल में सभा और समिति का महत्व कम हो गया था।

इस काल में सभा के कार्यो तथा कार्य शैली का स्पष्ट उल्लेख नही मिलता । अथर्ववेद के वर्णन से पता चलता है कि सभा ग्राम संस्था थी तथा ग्राम के समस्त स्थानीय विषयों की देखभाल करती थी। एक स्थान पर इसे नरिष्ठा कहा गया है जिसका अभिप्राय है कि यहां वाद–विवाद के बाद निर्णय होते थे। मैत्रायणी संहिता के अनुसार स्त्रियां सभा की बैठकों में भाग नही लेती थी। सभासद, समाचार इत्यादि शब्दों से सभा के सदस्यों का वर्णन मिलता है। सभा का अध्यक्ष सभापति होता था इस प्रकार हम देखते है कि

सभा एक ऐसी संस्था थी जहां राजनैतिक कार्य सम्पन्न किए जाते थे। परन्तु प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर सभा एवं समिति में भेद नही किया जा सकता, न ही उनके कार्यो और क्षेत्रों का स्पष्ट उल्लेख है। डा. अल्तेकर के अनुसार उत्तरवैदिक काल में सभा संस्था नही रह गई थी बल्कि वह राज्य संस्था हो गई थी। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार राजा सभा में उपस्थित रहता था। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार सभा के सदस्यों का पद अत्यन्त सम्मान का था।

समिति राज्य की केन्द्रीय संस्था प्राप्त होती है अथर्ववेद में उल्लेख है कि ब्राह्मण सम्पति का हरण करने वाले राजा को समिति का सहयोग नही मिलने का उल्लेख हैं एक अन्य स्थान पर राजा के लिए इसके चिर सहयोग की शुभाकांक्षा प्रकट की गई है। प्रत्येक सदस्य समिति के वाद–विवाद में हिस्सा ले कर ख्याति प्राप्त करने का इच्छुक रहता था। जिससे पता चलता है कि समिति में निर्णय वाद–विवाद के पश्चात् ही लिए जाते थे।

राज्य की आय (State Income)

ऋग्वेद में हमें कर के रूप में सिर्फ बलि शब्द का वर्णन मिलता है। परन्तु इस काल में राज्य द्वारा निश्चित करों के प्रावधान का प्रमाण मिलता है। राजकोष के अधिकारी को संग्रहिता कहा जाता था और कर लेने वाले अधिकारी को भागदुध कहा जाता था सामान्यतः कर वैश्यों से लिए जाते थे। ब्राह्मण साहित्य में उसे बलिकृत कहा गया है। राजकर उन्न तथा पशुओं के माध्यम से वसूल किया जाता था। आय का 1/6 भाग राज्य को कर के रूप में मिलता था। प्रजा राजा को करों के अलावा विशेष अवसरों पर उपहार इत्यादि भी भेंट करती थी तथा युद्ध में लुट का हिस्सा भी राजकोष में जाता था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्तरवैदिक काल में राज्य की संरचना हो चुकी थी और बड़े–बड़े क्षेत्रीय राज्यों की स्थापना हो गई थी। इस काल में राज्य के सातों महत्वपूर्ण अंगों का वर्णन हमें मिलता है। राजा मंत्रीमण्डल के रूप में रतमिन, क्षेत्र संसाधन (करों द्वारा) सेना, सहयोगी सभी का इस काल में सजन हो चुका था।

उत्तरवैदिक कालीन समाज (Later Vedic Society)

उत्तरवैदिक काल में कृषि प्रणाली, उत्पादन की मात्रा बढ़ने एवम् आर्यो के जीवन में स्थायीत्व अपने से राज्य के स्वरूप में भी परिवर्तन आया। कबीलाई व्यवस्था छिन्न–भिन्न हो गई और इस काल में छोटे–छोटे जन आपस में मिलकर नगर और जनपद का रूप धारण करने लगे। जैसेः पुरू और भरत कबीला मिलकर कुरू जनपद बना तथा तुर्वश और क्रिवी मिलकर पांचाल जनपद कहलाए। इस काल में गंगा–यमुना दोआब के क्षेत्र में आर्यो ने विस्तार कर लिया था। इस काल के साहित्य के कुरूक्षेत्र, हस्तिनापुर, काशी, अयोध्या, पुष्कलावती और तक्षशिला जैसे नगरों का उल्लेख मिलता है। नगरों और जनपदों के उदय के कारण ऋग्वैदिक कालीन कबीलाई संरचना नष्ट हो गई। इस काल की संस्कृति के बारे में विस्तत जानकारी नष्ट हो गई। इस काल की संस्कृति के बारे में विस्तत जानकारी हमें सामवेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद से मिलती है। ऋग्वेद के पश्चात् सामवेद की रचना हुई क्योंकि बहुत सी रचनाएं जिनका उल्लेख ऋग्वेद में किया गया है, वे सामवेद में पुन लिखी गई है। कालक्रम के अनुसार सामवेद के बाद यर्जुवेद की रचना हुई, इसमें कृष्ण यर्जुवेद और शुक्ल यर्जुवेद की वाजसेनीय संहिता शामिल है जो अथर्ववेद से पहले की रचना है। तैत्रीय संहिता को भी कुछ विद्वान इसी काल की रचना मानते हैं। इनके पश्चात् ब्राह्मण ग्रंथों की रचना की गया जिनमें शतपथ ब्राह्मण, जैमिनीय ब्राह्मण महत्वपूर्ण हैं। आरण्यकों के रचना ब्राह्मण ग्रंथों के बाद की गयी तथा ये उपनिषद काल के मध्य एक कड़ी थे। आरण्यक तथा उपनिषदों को सामान्यतः वेदान्त कहा जाता है। इन सभी रचनाओं में वर्णित संस्कृति को उत्तर–वैदिक संस्कृति का नाम दिया जाता है।

पारिवारिक जीवन

इस काल में पितसतात्म परिवार थे, लेकिन पहले काल की अपेक्षा अब पिता की शक्तियों में वद्धि हुई। पिता अपने पुत्र को कठोर दण्ड़ दे सकता था और सम्पति के अधिकार में भी वह मनमानी करता था। ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णित एक कहानी से पता चलता है कि पिता का पुत्र पर पूरा नियन्त्रण होता था। इस कहानी में पिता द्वारा अपने पुत्र शुनेहशेप को बेचने का पता चलता है, लेकिन सामान्य रूप से पिता–पुत्र के संबंध स्नेह पर आधारित थे। शांखायन आरण्यक के अनुसार महत्वपूर्ण अवसरों पर पिता व्यस्क पुत्र के सिर को चूम स्नेह का प्रदर्शन करता था। पुत्र ना होने की स्थिति में पुत्र गोद लेने के प्रमाण इस काल में मिलते हैं। परिवार में पहले बड़े भाई या बहन की शादी की जाती थी, तथा बड़ों से पहले छोटों की शादी को अच्छा नही माना जाता था। परिवार में हमें पौत्र तथा प्रौपोत्र होने के भी प्रमाण मिलते हैं। अतिथियों के सत्कार संबंधी विषय में अनेक रचनाएं है। इस काल में हमें कुल शब्द का अर्थ एक वहत परिवार के रूप में मिलता है। कुल का अर्थ सामान्यतः 'घर' या 'परिवार का घर' के रूप में होता है। परिवार में व्यावातार पुत्र की उत्पति की कामना की जाती थी।

वर्ण-व्यवस्था

उत्तरवैदिक काल में वर्ण व्यवस्था पूरी तरह स्थापित हो चुकी थी। इस काल में वर्ण शब्द सामान्य रूप से जाति के लिए प्रयुक्त हुआ

है। ऋग्वैदिक काल के अंतिम चरण में समाज ४ वर्णो में बंट गया था, लेकिन इस काल में वर्ण व्यवस्था जन्म के आधार पर निर्धारित हो गई। इस काल में अनेक उपजातियां तथा दूसरे जाति विभाजन होने लगे जैसे इस काल में विभिन्न श्रेणियां अपने पेशे। व्यवसाय में वंशानुगत होने के कारण अलग जाति में विभक्त हो गए। इसी प्रकार रथकार, लोहे, चमड़े तथा लकड़ी का काम करने वालों की भी अलग जातियां बन गई। इस काल में परिवार में गोत्र का महत्व बढ़ा तथ सगोत्रीय और गोत्र से बाहर विवाह के नियम बनने लगे। इस काल में अपनी ही जाति में विवाह करने के नियम बनने लगे। इस काल में शुद्रों पर अनेक निरयोग्यताएं लगा दी गई जैसे : आर्य वर्ण के लोग शूद्र स्त्री से विवाह नहीं कर सकते थे। लेकिन शूद्र या दस्यु वर्ग के लोग आर्य स्त्री से विवी नहीं कर सकते थे। इसी प्रकार का नियम धीरे–धीरे तीन आर्य वर्णो पर भी लागू होने लगाा। जिसमें एक ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य लड़की से शादी कर सकता था जबकि नीच जाति का पुरूष ऊंची जाति की महिला से शादी नही कर सकता था। इस काल में वैश्य वर्ण जो कि कृषि तथा व्यापारिक गतिविधियों का संचालक था, चौथे वर्ण के अधिक सम्पर्क में आया और यह आर्यो की सांस्कृतिक शुद्रता को सहेज कर नहीं रख सका।

इस काल में प्रत्येक जाति के काम और उनकी प्राथमिकताएं तथा सामाजिक स्तर निशचित कर दिए गए। शतपथ ब्राह्मण में तो चारों जातियों के वर्णानुसार अलग–2 आकार के शमशानों का भी उल्लेख है। शूद्रों की स्थिति सबसे दयनीय थी, उनका कार्य दूसरों की सेवा करना था और उन्हें भू–संपति के अधिकारों से भी वंचित रखा गया।

वैश्य और शूद्र जो इस काल में वास्तविक उत्पादनकर्ता थे, को इन वर्गो को कर देना और इनके सेवा कार्य पड़ते थे। इस वर्ण व्यवस्था में ब्राह्मणों ने उच्च स्थान प्राप्त कर लिया था, क्योंकि इस काल में यज्ञों का महत्व बढ़ गया था। समाज में उच्चाधिकार के लिए हमें ब्राह्मणों और क्षत्रियों के बीच परस्पर संघर्ष के प्रमाण मिलते है। इस काल में कई क्षत्रियों के ब्राह्मण बनने के भी प्रमाण मिलते हैं। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय सामान्यतः दूसरे दोनों वर्णो के मुकाबले प्रभावशाली थी। इस प्रकार का प्रमाण हमें वाजसेनीय संहिता, शतपथ ब्राह्मण तथा पंचविश ब्राह्मण में मिलता है। जबकि शतपथ ब्राह्मण में एक स्थान पर ऐसा भी वर्णन है कि ब्राह्मण राजा पर आश्रित है, तथा यह उसके साथ नीचे के आसन पर बैठता है। इसी तरह शतपथ ब्राह्मण मे कहा गया है कि क्षत्रिय अपनी शक्ति ब्राह्मण के ही कारण पाता है। दूसरी ओर ऐसे भी संदर्भ है, जो क्षत्रिय को सर्वोपरि मानते है जैसा कि काठक संहिता तथा इसी प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण के एक सन्दर्भ में ब्राह्मण को क्षत्रिय से निम्न कहा गया है, जो राजा से दान लेने वाला, और सोम रस पीने वाला है जिसे राजा भी हटा सकता है। इस काल में ऐसे भी सन्दर्भ मिले हैं, जिससे पता चलता है कि कई राजा पढ़े–लिखे थे तथा उन्होंने बहुत सी रचनाओं की रचना भी की थी तथा कई क्षत्रिय ब्राह्मणों के भी शिक्षक रहे थे। इस काल में ब्राह्मण पुरोहित होते थे तथा कुछ राजा के पुरोहित भी थे, जो वंशानुगत होते थे अथर्ववेद से हमें पता चलता है कि कई बार राजा ब्राह्मणों पर अत्याचार भी करते थे और ऐसा राजा कभी फल–फूल नही सकता था। परन्तु आमतौर ब्राह्मणों ने इस काल में अपनी प्रतिष्ठा कायम कर ली थी। इस काल में व्यापारिक गतिविधियों का प्रसार होने के कारण वैश्यों के अनेक वैश्यों के अनेक वर्ग बन गए जो पशुपालन, कृषि और शिल्पकार इत्यादि गतिविधियों में शामिल थे, ये कर भी अदा करते थे। शतपथ ब्राह्मण में वर्णन है कि यज्ञ करने वाले व्यक्ति का शूद्रों से बात नही करनी चाहिए। ऐतरेय ब्राह्मण में उल्लेख है कि उच्चवर्ग के लोगों को शूद्रों को पीटने का अधिकार है। ब्राह्मण ग्रंथों में शूद्रों के स्पर्श से बचने लिए जो नियम बनाए थे, बाद में उन्ही से समाज में अस्पश्यता की शुरूआत हुई थी।

विवाह एवम् महिलाओं का स्थिति

इस काल में जाति–प्रथा के उद्भव के साथ ही कई सामाजिक मानदंड प्रकट हो गई। एक ही गोत्र के सदस्यों के विवाह पर रोक लगा दी गई और यह बात विशेष तौर पर ब्राह्मण वर्ग पर लागू हुई, जो अब एक असगोत्रीय विवाह का सर्मथन करने वाले दलों में विभाजित हो चुका था। इस काल में सामान्यतः व्यस्क होने पर विवाह किया जाता था और विवाह गोत्र से बाहर किया जाता था। विधवा विवाह की अनुमति तथा बहुपत्नी विवाह भी प्रचलन में था। मैत्रायणी संहिता में मनु की दस पत्नियों का वर्णन है तथा एक राजा की भी चार पत्नियों का उल्लेख है। अथर्ववेद में ऐसी कन्याओं का उल्लेख है जो अविवाहित थी और अपने माता–पिता के घर रहती थी। परन्तु सामान्यतः अविवाहित रहने की प्रथा नही थी। अविवाहित पुरूष को यज्ञ करने की अनुमति नहीं थी, बिना स्त्री के उसे स्वर्ग प्राप्ती नही थी। क्योंकि पुरूष को पत्नी के बिना पूर्ण नही माना गया। इन सबसे पता चलता है कि एक पुरूष को एक से ज्यादा पत्नी रखने का भी अधिकार था, लेकिन एक स्त्री के एक से ज्यादा पति नही हो सकते थे। ऐतरेय ब्राह्मण में तो राजा हरीशचन्द्र की सौ पत्नियों का उल्लेख है। लेकिन बहु–पत्नी विवाह के सन्दर्भ ज्यादातर राजाओं तथा अन्य धार्मिक वर्ग तक ही सीमित थे। साधारणतः एक –पत्नी विवाह ही प्रचलन में था।

इस काल में पिता द्वारा पुत्री बेचने के भी प्रमाण है, जिन्हें अच्छा नही माना जाता था। विवाह के समय दहेज देने की प्रथा थी। ऋग्वैदिक काल की भांति इस काल में भी वधु परिवार से मधुर संबंध रखती थी। पत्नी शब्द का प्रयोग ब्राह्मण साहित्य में हुआ है,

जो उसके अपने पति के साथ सामाजिक एवम् धार्मिक कार्यो में समान अधिकारों का द्योतक है। शतपथ ब्राह्मण में उसे पति की अर्धागनि भी कहा गया है। इस काल में पहले के काल की अपेक्षा स्त्री की स्थिति में गिरावट आई मैत्रायणी संहिता में तो स्त्री को जुआ और शराब के साथ तीसरी बुराई के रूप में गिना गया है। इसी तरह के संदर्भ तैतिरीय तथा काठक संहिताओं में भी मिलते हैं।

इस काल में स्त्रियों को राजनीतिक कार्यो में भाग लेने की आज्ञा नही थी। सभाओं और वाद– विवाद प्रतियोगिताओं में वे हिस्सा नही ले सकती थी। स्त्रियों पर ऋग्वैदिक की काल की अपेक्षा ज्यादा अकुंश लगा दिए गए। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार अच्छी स्त्री वह है जो पलट कर जवाब ना दे। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार स्त्री को अपने पति के बाद ही भोजन करना चाहिए। इस काल में लड़की के जन्त पर दुःख अभिव्यक्त किया जाने लगा तथा पुत्र कामना के लिए अनेक प्रार्थनाएं की गई। अथर्ववेद में भी कन्या के जन्म को बुरा माना गया। इस काल के समाल में पर्दा–प्रथा नहीं थी, अथर्ववेद असंकृता नारी के सभा में जाने का उल्लेख करता है। इसी प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण में पुत्र वधु का अपने श्वसुर को समक्ष ना आने का उल्लेख है जिसे हम पर्दा प्रथा नही मान सकते। स्त्रियों के अधिकारों और उनकी स्थिति में पहले की अपेक्षा गिरावट आई। इस काल में गर्गी और मैत्रेयी जैसी मंत्र दष्टा स्त्रियों का वर्णन यह दर्शाता है कि प्रारंभिक वैदिक काल में सभी संतो और ऋषियों की जो परम्परा चली वह कुछ हद तक इस काल में भी विद्यमान थी।

शिक्षा

इस काल में रचित साहित्य यज्ञो, बालियों इत्यादि के मंत्रों से संबंधित है, जो श्रुति के रूप में था। शिष्य अपने गुरू से मौखिक रूप से शिक्षा ग्रहण करते थे। अथर्ववेद में ब्रह्मचारिन शब्द वैदिक विद्यार्थी का द्योतक है, जिसे अग्निपूजा के लिए लड़कियां तथा गुरू के लिए भीख मांग कर भोजन लाने वाला कहा गया है। इस काल में उपनयन संस्कार पद्धति के बाद शिक्षा शुरू की जाती थी। ब्राह्मणों के अतिरिक्त क्षत्रियों की भी शिक्षा ग्रहण करने का अधिकार था। राजा जनक न केवल वेदों के ज्ञाता थे बल्कि उस काल के प्रसिद्ध दार्शनिक भी थे। तीनों उच्च वर्णो को उपनयन संस्कार प्रणाली का अधिकार था, लेकिन शूद्र इस अधिकार से वंचित थे। शतपथ ब्राह्मण से हमें उपनयन संस्कार का वर्णन मिलता है। अन्य साहित्य में गुरू सेवा को धर्म माना गया है। तैतीरीय आरण्यन में विद्यार्थियों के अन्य कार्य भी बताए गए है जैसे बारिश में ना भागना तथा बिना वस्त्रों के स्नान ना करना आदि।

स्त्री शिक्षा

इस काल में समाल के बौधिक में स्त्रियां भाग लेती थी, यजुर्वेद में शिक्षित स्त्री–पुरूष के विवाह को उपयुक्त माना गया है। अथर्ववेद में उल्लेख है कि ब्राह्मचर्य द्वारा कन्या पति प्राप्ति करती है। इस विवरण से पता चलता है कि लड़कों की भांति कन्याएं भी ब्रह्माचर्याक्षय में रहकर शिक्षा प्राप्त करती थी। संहिताओं और ब्राह्मण ग्रंथों में स्त्रियों द्वारा संगीत और नत्य की शिक्षा प्राप्ति के प्रमाण मिलते है। तांडप ब्राह्मण के अनुसार गणित, व्याकरण और काव्य इत्यादि की शिक्षा दी जाती थी और भाषा के ज्ञान पर भी जोर दिया जाता था। शतपथ ब्राह्मण में सामगान को स्त्रियों का विशेष कार्य बताया गया है। स्त्रियां गान–विद्या के अतिरिक्त मंत्रों को भी समझती थी। अथर्ववेद के अनुसार वे पति के साथ यज्ञ में सम्मिलित होती थी। इस काल के ग्रंथों से पता चलता है कि अनेक विदुषी स्त्रियां भी थी जो वाद–विवाद प्रतियोगिताओं में हिस्सा लेती थी। जनक की सभा में गार्गी और याज्ञवल्या के वाद–विवाद का उल्लेख है। याज्ञवल्या की पत्नी मैत्रेयी स्वयं एक विदुषी थी। इनके अतिरिक्त स्त्रियां गहशिक्षा के प्रति भी जागरूक थी। गहस्थ जीवन में भोजन पकाना नारियों का विशेष कार्य था, शतपथ ब्राह्मण के एक सन्दर्भ से प्रकट होता है कि ऊन और सूत की कताई–बुनाई का कार्य मुख्यतः स्त्रियां करती थी। इस काल में राज्य द्वारा शिक्षा व्यवस्था की सुविधा नहीं करती थी। ब्राह्मण ही ऊपरी तीन वर्णो के विद्यार्थियों को अपने घरों या गुरूकुलों में पढ़ाया करते थे। इसके बदले विद्यार्थी गुरू की सेवा करते तथा फीस के रूप में गुरूदक्षिणा देते थे। इस प्रकार की व्यवस्था में न केवल साहित्यक ज्ञान दिया जाता था बल्कि अस्त्र शस्त्र और शारीरिक शिक्षा व नैतिक ज्ञान भी दिया जाता था।

मनोरंजन के साधन

इस काल में वाद्य तथा गायन दोनों तरह का संगीत प्रचलित था; सामवेद में गायन संगीत विज्ञान का एक ग्रन्थ माना जाता था। इस काल में बहुत से पेशेवर गायक थे जिनमें बांसुरी वादक, शंखवादक तथा ढोलकिए इत्यादि शामिल हो अथर्ववेद में अघाटी नामक यंत्र का उल्लेख है जिसे अन्य यन्त्रों के साथ नत्य में प्रयोग किया जाता था। स्टेज और ड्रामें का भी इस काल में प्रचलन था। सैलूश एक एक्टर तथा नतक का रूप था। संगीत के अतिरिक्त रथदौड़ तथा घुड़दौड इस काल के मनोरंजन के मुख्य साधन थे। राजसूय यज्ञ के दौरान इस प्रकार की रथों तथा घुड़दौड़ों का आयोजन किया जाता था। जुआ खेलना भी इनके मनोरंजन में शामिल था। यजुर्वेद में नटों का भी उल्लेख मिलता है।

खान-पान

इस काल में शाकाहारी तथा मांसाहारी दोनों प्रकार के भोजन का उल्लेख है। अपूप चावल या जौं की घी मिश्रित रोटी थी। ओदन

खिचड़ी या दलिया था, जिस दूध के साथ सेवन किया जाता था। यवागु जौं से बना भोजन था, करम्य एक प्रकार का अनाज का दलिया था। सेतु खाने की जानकारी भी इस काल के लोगों को थी। दूध से निर्मित वस्तुओं में पनीर, दही, ताजा मक्खन तथा एक प्रकार के पेय जो फटे दूध में ताजा दूध मिलाकर बनाया जाता था जिसे पयस्थ कहा जाता था। इस काल में मांसाहारी भोजन काफी लोकप्रिय था। शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख है कि अतिथि को बैल या बकरी का मीट खिलाना चाहिए।

सूरा एक प्रकार का नशीला पेय था जिसे समारोह के दौरान पीया जाता था। अथर्ववेद में इसे झगड़ों की जड़ तथा अच्छे लोगों को जुआ खेलने की आरे ले जाने के अर्थो में प्रयुक्त किया गया है। विशेष अवसरों के लिए एक विशेष प्रकार की सुरा सौत्रामणी का वर्णन है, जो अनाज और पौधों के मिश्रण से बनाई जाती थी। यजुर्वेद में मासर नामक एक पेय का उल्लेख है जो चावल और भुने जौ से बनता था। इस काल में शहद का भी सेवन किया जाता था, लेकिन कुछ अवसरों पर इसका सेवन विद्यार्थियों और स्त्रियों के लिए वर्जित था।

उत्तरवैदिक अर्थव्यवस्था (Later Vedic Economy)

उतरवैदिक काल में उत्पादन की ओर झुकाव की स्थिति स्पष्ट सामने आई, जिसमें खेती आजीविका का मुख्य साधन हो गई और धीरे–धीरे भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व की भावना मजबूत हो गयी। अथर्ववेद, वाजसेनिय, मैत्रयवी, तैतिरीय तथा काष्ठ संहिता और शतपद ब्राह्मण में खेती के विभिन्न कार्यों से संबंधित अनुष्ठानों और हल द्वारा जुताई का विस्तत विवरण दिया गया है। 6,8,12 और 24 बैलों द्वारा जुताई से पता चलता है कि हलों से गहरी जुताई की जाती थी। यद्यपि यह सन्दर्भ इसी रूप में हम न लें तो भी यह स्पष्ट है कि कृषि विस्तत और गहन दोनों तरह से की जाती थी। बैलों पर जूलों की सहायता से हल जोता जाता था। हल संभवतः लकड़ी के थे। जिनके नाम उदम्बर या खदीरा थे। हलों में लोहे के फाल का प्रयोग पहले की अपेक्षा अधिक प्रभावकारी था। खेती के बढ़ते महत्व के कारण उतरी मैदानों को लोहे की कुल्हाड़ी एवम् अग्नि की सहायता से साफ किया गया और गंगा–यमुना दोआब का क्षेत्र कृषि के लिए अत्याधिक उपर्युक्त था। इस काल की साहित्यिक संहिता (शतपथ ब्राह्मण) में कृषि कर्म पर एक पूरा अध्याय लिखा गया है जिसमें इस बात का वर्णन है कि बीजों की बुवाई कितनी गहरी और किस प्रकार करनी चाहिए। कृषि की उपज बढ़ाने के लिए पशुओं से प्राप्त खाद का उल्लेख अथर्ववेद में है। शकृत् (गोबर), करीश (उपले) इत्यादि का उल्लेख साहित्य में यदा–कदा मिलता है। हल चलाने वाले के लिए कीनाश शब्द का उल्लेख हुआ हैं। शतपथ ब्राह्मण में कृषि संबंधी कई कार्यों का उल्लेख है जैसे हल जोतना, बीज बोना, फसल काटना, दाने अलग करना इत्यादि पकी हुई फसल को दराती से काटा जाता था। तैंतरीय संहिता में वर्णन है कि जौ सर्दियों में बोए जाते थे और गर्मियों में पकाई के बाद उनकी कटाई की जाती थी। चावल बरसात के दिनों में खेतों में बोए जाते थे तथा बीन और तथा तेल वाले पौधे गर्मियों में बोए जाते थे जो सर्दियों में पकते थे। अथर्ववेद में सिंचाई के लिए नई नालियाँ और नहरें खेदने का वर्णन है, तथा फसलों की विभिन्न बीमारियों से छुटकारा पाने के लिए बनेक मंत्र दिए गए है। देवताओं से कृषि में समद्धि, अच्छी फसल और धन की वद्धि के लिए अनेक प्रार्थनाए की गई है। यव(जौ) के अतिरिक्त गेहूँ इस काल की मुख्य फसल थी। व्रीही (चावल) का उल्लेख पहली बार हुआ है। दो प्रकार के धान व्राक्रि तथा तण्डुत का वर्णन है। यजुर्वेद में उडद (माष), मूंग और मसूर की दालों का उल्लेख है इनके अतिरिक्त तिल और सरसों की भी खेती के प्रमाण मिलते है। कृषि कार्यों में वद्धि होने से पूर्ववर्ती पशुपालन युग की अर्थव्यवस्था छिन्न–भिन्न हो गयी, क्योकिं वह बढ़ती हुई जनसंख्या के भोजन को पूरा करने में असमर्थ थी।

पशुपालन भी कृषि–कर्म के साथ–साथ होता था। अथर्ववेद में गाय के प्रति आदर भाव का उल्लेख है तथा बलि वेदी के बाहर गाय को मारने पर मत्यु दण्ड दिया जाता था, इस तरह इस काल में गाय की पवित्रता शुरु हुई और गाय को अदिति या धरती माँ के समान माना जाने लगा। शतपथ ब्राह्मण में एक स्थान पर स्पष्अ उल्लेख है कि गाय और बैल पथ्वी का धारण करते है अतः उनका मांस न खाया जाए। अथर्ववेद में एक स्थान पर गाय, बैल और घेड़ों की प्राप्ति के लिए राजा इन्द्र को प्रार्थना करते हुए दिखाया गया है। इन पशुओं के अतिरिक्त भैंस, भेड़, बकरी, सूअर इत्यादि का उल्लेख है। अथर्ववेद में हाथी का भी उल्लेख है। गाड़ी खींचने के लिए कभी–कभी गधों को भी प्रयोग किया जाता था जैसा कि ऐतरेय ब्राह्मण में अश्विन की गाड़ी को गधे को द्वारा खींजाना दर्शाता है। ऊँट गाड़ी के प्रमाण मिलते है। मछली एवम् मुर्गा पालन व्यवसाय भी था, इन्हें भेजन के रूप में भी प्रयुक्त किया जाता था।

उद्योग-धन्धे (Business)

कृषि क्षेत्र में विस्तार, जीवन में स्थायीत्व और क्षेत्रीय राज्यों के उदय ने कला–कौशल के क्षेत्र को प्रभावित किया और अनेक शिल्पों को जन्म दिया। संभवतः इस का सबसे महत्वपूर्ण लाहे का उपयोग है। अथर्ववेद में लाहे के लिए श्याम अयस शब्द का उल्लेख हुआ है तथा फसल काटने की दरांती, लोहे के औजार जैसे तीर और भलों की नोकें, चाकू, कुल्हाड़ी, कांटे तथा एक फाल वाले हल इत्यादि विस्तत पैमाने पर मिलते थे। लोहे के अतिरिक्त टीन, सीसा तथा तांबे का भी व्यापक पैमाने पर प्रयोग होता था। अर्थात इा काल

में उन्हें अनेक धातुओं का ज्ञान था और उन्हें पिघलाने की कला से परिचित थे। धातुशिल्प के अतिरिक्त बड़े पैमाने पर हस्तशिल्पियों के बारे में जानकारी मिलती है। धातुकर्मियों (सोना, चोदी, तांबा और लोहे का काम करने वाले) के अतिरिक्त बढ़ई, लौहार, मणिकार, रथकार, ज्योतिष, कुम्हार, सुराकार, नाई, धोबी, चर्मकार, कसाई, रंगारेज, मछुआरा तथा वास्तुकार आदि अनेक शिल्प/व्यवसायों की जानकारी मिलती है। इस प्रकार पहले के चरण की अपेक्षा उतरवैदिक काल में शिल्पों की विशेषज्ञता पर विशेष जोर दिया गया। इस काल में जाति प्रथा के आधार पर अलग–अलग वर्गों के अलग–अलग कार्य बंटे हुए थे, जैसे एवम् पशुपालन का कार्य वैश्यों के हाथों में था, पठन–पाठन, यज्ञ आदि ब्राह्मण, युद्ध एवम् राजम्य संबंधी कार्य क्षत्रिय और सेवा दास का कार्य चौथे वर्ग शुद्र के हाथों में था। परन्तु यह विभाजन इस काल में वंशानुपात अभी भी नही हुआ था, कभी–कभी एक वर्ग/जाति के लोग दूसरा कार्य भी अपना लेते थे। वाजसेनिय तथा तैत्रिरीय संहिता में पुरूषामेघ के उपलक्ष में विस्तत वर्णन है। जिससे हमें विशेष प्रकार के द्वारपालों, रथकारों, अनुचरों, ढोल बजाने वालों, बूचड़, ज्योतिष इत्यादि का उल्लेख है। बढ़ई (तक्षण), चटाई बनाने वाले, पक्षी उड़ाने वाले, पशु चराने वाले, टोकरी बनाने एवम् कढ़ाई करने वाली स्त्रियाँ, सुरा बनाने वाले, हाथी पालक और स्वर्णकार इत्यादि का वर्णन है। अन्य व्यवसायों में नाविक, सूद पर पैसा देने वाले, धोबी (मलाग), कुम्हार, खाना बनाने वाला, दूत, रथों के साथ दौड़नें वालों का भी वर्णन है। उतरवैदिक काल में सोने का उल्लेख काफी मिलता है। आर्य हिरण्य को पवित्र मानते थे। अथर्ववेद तथा संहिताओं में सोने के गहनों का विस्तत वर्णन है। वस्त्र–निर्माण का कार्य भी बड़े पैमाने पर होता था। कपास का स्पष्ट उल्लेख नही मिलता लेकिन ऊन (ऊर्णा) तथा शण (सन्) का प्रयोग वस्त्र और बोरियां बनाने के लिए किया जाता था। ब्राह्मवारी एवम् तपस्वी खाल और धर्म के वस्त्र धारण करते थे। शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख है कि सूत कातने का कार्य स्त्रियाँ करती थी। करघे के लिए 'वेमन' शब्द का उल्लेख हुआ है। वस्त्र बुनने वाली स्त्री को वयत्री कहा जाता था, वस्त्रों पर कढ़ाई का कार्य पेशस्कारी स्त्रियाँ करती थी। अनेक शिल्पों के प्रसार से व्यापार और वाणिज्य का विकास हुआ और पहले की विनिमयऔर पूनर्वितरणकी पद्धति में भी परिवर्तन हुआ और व्यपार में विकास हुआ। इस काल के ब्राह्मण साहित्य और संहिताओं में 'वाणिज' शब्द का उल्लेख हुआ है जिसका अर्थ व्यापारी था। अथर्ववेद के अनुसार देश के व्यापारी साम्रगी लेकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते थे। साहित्य में (श्रेष्ठिन) अमीर वैश्यों का वर्णन है, जिन्होंने व्यापार और कृषि कर्म द्वारा संपति एकत्रित की थी। व्यापार सामान्यतः विनिमय पद्धति पर आधारित था तथा गाय भी विनिमय का साधन थी। लेकिन मिष्क, शतनाम, कृष्णता पाद नामक सिक्कों के प्रचलन की जानकारी मिलती है। विद्वान इन्हे मुद्रा के रूप में लेते है, परन्तु यह सभी व्यापार में माध्यम के रूप में प्रयुक्त होते थे। ब्याज देना भी इस काल का एक व्यवसाय था। शतपथ ब्राह्मण में कुसीदिन का उल्लेख ब्याज देने वाले तथा तैंतरीय संहिता में कुसीद ब्याज लेने वालों के लिए प्रयुक्त हुआ है। लेकिन ब्याज दर का उल्लेख नही मिलता। व्यापारियों का व्यवसाय वंशानुगत था जोकि हमें वणिज शब्द (जिसका अर्थ वाणिज का पुत्र था) के प्रयोग से मिलता है। व्यापारियों में चीजों के भव पर वाद–विवाद आम बात थी। इस काल में समुन्द्री व्यपार का स्पष्ट वर्णन मिलता है। वस्तुएँ एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने के लिए बैलों एवम् घोड़ों की गाड़ियों का प्रयोग किया जाता था। 'विपथ' शक का प्रयोग बुरे रास्तों के लिए प्रयुक्त हुआ है जिससे हम सड़कों या रास्तों का अन्दाजा लगा सकते है। किश्ती तथा जहाज नदी और समुंद्र पार सामान ले जाने के लिए प्रयुक्त किए जाते थे। छठी शताब्दी ई०पू० में मध्य भारत में कौंशाबी, अहिधात्र, विदेह, काशी, वाराणसी और हस्तिनापुर से पुरातत्व के अभिलेखों से प्रमाणित होता है कि नगरीय व्यवस्था की शुरुआत हो चुकी थी, जो शिल्प–निर्माण का केन्द्र हाने के साथ–साथ राजनीतिक केन्द्र भी रहे होगें, जो निश्चय ही बढ़ती हुई सामाजिक आर्थिक असामानताओं को दर्शातें है।

उतरवैदिक कालीन धर्म (Religions Condition of Later Vedic Period)

इस काल में हुए सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों के कारण उतरवैदिक काल में भी परिवर्तन हुए। इस काल में एक तो ब्राह्मणों द्वारा प्रतिपादित एवम् पोषित यज्ञ अनुष्ठान एवम् कर्मकांडीय व्यवस्था थी, तो दूसरी तरफ इसके खिलाफ उठाई गई उपनिषदों की आवाज। इस काल में यज्ञों का विकास स्वतंत्र रूप से हुआ और इस काल के प्रमुख देवता ब्रह्मा, विष्णु और महेश थे क्योकिं ये लोगों की उत्पति और उनके पालन–पोषण के लिए जिम्मेदार थे। हाँलाकि ब्राह्मण का इस काल में उतपादन व्यवस्था में कोई भूमिका नही थी, इसलिए समाज में अपनी प्रतिष्ठा बढाने के लिए पुरोहित और क्षत्रिय वर्ग ने बड़े–बड़े यज्ञ करने शुरु कर दिए जैसे : राजसूय, वाजपेय और अश्वमेघ आदि। जिस प्रकार के कर्मकाण्ड इस का ल में उभरें, उनमें ब्राह्मणों का स्वार्थ निहित था। यज्ञों का जन कल्याणकारी अर्थात कृषि उत्पादन बढ़ाने वाले तथा मोक्ष को प्राप्त करने का साधन माना जाने लगा। लेकिन यज्ञों के अवसर पर बलि प्रथा में आई तेजी के कारण लोगों में असंतोष के स्पष्ट प्रमाण उभरने लगे थे। इस फैले असंतोष को कम करने का कार्य उपनिषदों ने किया, जिन्होंने धर्म को सरल शैली से जोड़ कर्मकाण्डों का खण्डन किया। उतरवैदिक काल में यज्ञ मात्र उद्देश्य पूर्ति का साधन नही थे बल्कि यज्ञों के जरिए ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ग के लोग समाज पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने और अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा को मजबूत करने लगे। इस काल में यज्ञों को बढ़ावा देने में शासकों ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, बड़े–बड़े यज्ञों का आयोजन कर राजा जनता पर अपनी सत्ता की वैधता स्थापित करने का प्रयास करता था। ब्राह्म इन यज्ञों के माध्यम से राजा में दैवीय गुणों

का आरोपन करता था। जिसके बदले में राजा पुरोहितों को राजसम्मान और धन–सम्पदा देता था। इस काल के तीन प्रमुख यज्ञ थे; राजसूय, वाजपेय, तथा अश्वमेघ आदि। ऐसे धार्मिक अनुष्ठान राजा के लिए भी महत्वपूर्ण थे। वस्तुतः ये सारी बातें राजा के पद को वैधता प्रदान करने के लिए ही थी। इस काल की प्रसिद्ध रचना यजुर्वेद, से हमें यज्ञों की विधि और नियमों की विस्तत जानकारी मिलती है। इस काल में सम्पन्न हुए धार्मिक अनुष्ठान पहले के काल की अपेक्षा अधिक पेचिदा और खर्चीले हो गए थे।

उतरवैदिक काल में होने वाले राजसूय यज्ञ का सम्बन्ध राजा के राज्यारोहण से था। जो कि प्रतिवर्ष चलता रहता था। इस यज्ञ के अवसर पर ही राजा की घोषणा की जाती थी और इसमें कई आनुषंगिक कर्मकांड हुआ करते थे। इस तरह ये बहुत खर्चीले होते थे क्योंकि प्रत्येक क्रिया की दक्षिणा देनी पड़ती थी। इस यज्ञ में पूरे वर्ष चलने वाले अनुष्ठानों का अंत ऐसे यज्ञ से होता था, जिसकी अध्यक्षता 'इन्द्रशुनासीर' अर्थात् हलयुक्त इन्द्र करता था और जिसका उद्देश्य 'पस्त प्रजनन शक्ति का पुनः जागत करना होता था। दूसरा महत्वपूर्ण यज्ञ वाजपेय था, जो सत्रह दिन से एक वर्ष की अवधि तक चलता था। राजा इस यज्ञ का आयोजन राजसूय यज्ञ के बाद करता था इस यज्ञ का लक्ष्य था, राज्य और शासक की समद्धि। इस यज्ञ में रथों की दौड़ होती थी, जो एक प्रथा थी। इसका उपयोग शारीरिक शक्ति के आधार पर शासक का चुनाव करने के लिए किया जाता था। इस यज्ञ के दौरान जिन लगभग एक दर्जन रत्निनों के घर राजा जाता था, उनमें से चार स्त्रियां होती थी। यह इस बात की संकेत करता है कि अनार्य जातियों के मातकुलीय रिवाजों को नजरअंदाज नही किया गया था। इस प्रकार कमकांडो ने बहतर समुदाय के संगठन में सहयोग दिया।

अश्वमेघ यज्ञ के लिए एक वर्ष पूर्व तैयारियां शुरू की जाती थी, लेकिन यह यज्ञ तीन दिन तक चलता था। इस यज्ञ में अवसर पर एक विशेष घोड़े का अभिषेक करके उस एक वर्ष घूमने के लिए छोड़ दिया जाता था। इसके साथ कुछ सैनिक भी होते थे। वर्ष के अंत में विधिपूर्वक यज्ञ करके उस घोड़े की बलि दी जाती थी। इसमें विशिष्ट लोगों की उपस्थिति के अलावा सामान्य जन भी हिस्सा लेते थे। अश्वमेघ के अवसर पर पौराणिक गाथाओं का पाट होता था। अश्वमेघ यज्ञ का एक उद्देश्सय शासक के प्रभुत्व को कायम रखना भी था। उपयुक्त यज्ञों की महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि इनमें कृषि उत्पादन में वद्धि के लिए भी अनुष्ठान होता था। जैसे वाजपेय यज्ञ तो खाद्य और पान से जुड़ा था और राजसूय यज्ञ के अंत में ऐसी ध्वन क्रिया थी जिसका उद्देश्य भूमि की कम हुई उर्वरा शक्ति का पुन बढ़ाना था।

विशाल यज्ञों के अतिरिक्त अथर्ववेद में अन्य यज्ञों का भी उल्लेख है, जिन्हें लोग अपने घरों में ही विधिपूर्वक करते थे। इन यज्ञों का मुख्य उद्देश्य धन में वद्धि तथा स्वर्ग की प्राप्ति था। यज्ञ सम्पन्न होने पर पुरोहित को दक्षिणा स्वरूप गाय, बैल, बछड़े, सोना तथा अनाज आदि दान दिया जाता था।

अथर्ववेद से पता चलता है कि यज्ञ विधि पहले के काल की अपेक्षा अधिक पेचीदा और जटिल हो गई थी और इनमें रहस्यवाद का भी समावेश हो गया था। ब्राह्मण इस काज में मनुष्यों और देवताओं के बीच मध्यस्थ बन गया, जो उनकी प्रार्थनाएं देवताओं तक पहुंचाने का कार्य करता था। इसलिए समाज में ब्राह्मण वर्ग का वर्चस्व कायम हो गया, क्योंकि कोई भी यज्ञ उनके बिना सम्पन्न नहीं हो सकता था। हांलाकि ब्राह्मणों के बढ़ते प्रभुत्व के खिलाफ प्रतिक्रिया उपनिषदों में शुरू हो गई थी।

उत्तरवैदिक कालीन धर्म की दूसरी धारा उपनिषदीय अद्धेत सिंद्धात में स्पष्ट होती है। उस काल में यह ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड पर एक गहरा आघात था। उपनिषदीय विचारकों में नए रूप से सिंद्धातों का प्रतिपादन किया। जिनमें कर्म, पुनर्जन्म और मोक्ष मुख्य थे। पुरोहितों की कर्मकाण्डिय व्यवस्था के विरोध का मुख्य कारण विस्तत पैमाने पर होने वाली कृषि थी, क्योंकि यज्ञों में पशुबलि से कृषि को काफी नुकसान पहुंचता था। यज्ञ प्रक्रिया चूंकि काफी खर्चीली हो गई थी जो आम आदमी की पहुंच से बाहर थी इसलिए इस धार्मिक प्रक्रिया के खिलाफ आवाज उठनी शुरू हुई और यज्ञापि कर्मकाण्डों के खिलाफ पांचाल, विदेह और पूर्वी भारत में जबरदस्त प्रतिक्रिया भी हुई थी। इस काल में रचे गए उपनिषदों ने इन कर्मकाण्डों को नकार दिया और इन्होंने ब्रह्मा और आत्मा के बीच उद्धेत का मत प्रतिपादित किया। इन्होंने मोक्ष प्राप्ति के लिए सद्कर्मो, चार पुरुषार्थो और आत्मिकज्ञान पर बल दिया। इसमें यद्याविद कर्मकाण्डों का कोई स्थान नहीं था। ज्ञान प्राप्ति के लिए नैतिकता पर गल दिया गया। लेकिन यह इतना गूढ़ ज्ञान था कि उस काल की जनता इसे समझ नहीं सकी। छन्योग्य उपनिषद और वहदारण्यक उपनिषदों में जीवन, मरण, पुनर्जन्म के विषसय में दार्शनिक चिन्तन बहुत व्यापक और स्पष्ट है। इसमें मनुष्य और परमात्मा के बीच के संबंध को समझने की कोशिश थी जिसकी परिणती अद्धेत में हुई, अर्थात् अस्तित्व की एकात्मकता में विश्वास व्यक्त किया गया।

अथर्ववेद से स्पष्ट प्रमाण है कि धर्म में स्थानीय लोक परम्पराओं और विश्वासों का समावेश किया गया। जैसे विभिन्न बिमारियों में वद्धि और उन्हें दूर करने के लिए अथर्ववेद में मंत्र है, अपने शत्रु का नाश करने तथा स्वयं लाभ की प्राप्ति के लिए अलग–2 मंत्र थे। इस काल में प्रचलित विश्वासों और अंधविश्वासों को भी धर्म में शामिल किया गया। देवताओं का इस काल में लौकिकरण किया गया और सामान्य जनता के साथ इस काल के देवताओं को जोड़ा गया। जैसे सूर्य देवता इस काल में भूत–प्रेत भगाता थो और पूषण जो ऋग्वैदिक काल मे कृषि का देवता था, इस काल में सौहाद्य की स्थापना और बच्चों के सरक्षित जन्म के लिए पूजा जाने लगा।

स्पष्ट है कि उत्तरवैदिक काल मे अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे थे। यह कृषि विस्तार, सामाजिक विभेदीकरण, राजतंत्र के उद्भव तथा धार्मिक विश्वासों और कृत्यों में परिवर्तन से प्रमाणित होता है। यह वह काल था जब उत्तरी भारत में इतिहास में आगे और भी विकास की नींव डाली गयी थी, जो ईसा पूर्व छठी शताब्दी से स्पष्ट होती है।

अध्याय-2

जनपद एवं महाजनपद

2 A.

प्रारम्भिक वैदिक काल में लोहे के प्रयोग का स्पष्ट वर्णन नही है परन्तु उत्तर वैदिक काल में कृष्ण अयस का संदर्भ निश्चय ही लोहे का द्योतक है। लोहे का प्रयोग औजार बनाने के लिए होता है जोकि पहले से प्रयुक्त ताम्बे से कहीं मजबूत है। प्रारम्भ में गंगा घाटी में लोहे के प्रयोग से हथियारों का निर्माण हुआ। इससे जंगलों की कटाई में सुविधा हुई तथा खेती के लिए नई भूमि उपलब्ध हुई। दूसरे हल के फालों (Plough Share) के रूप में इसके प्रयोग से न केवल जमीन को जोतना आसान हुआ अपितु गहराई तक खुदाई भी संभव हुई। गंगा प्रदेश के पानी की सुविधा के कारण चावल की खेती आसान हुई जो कि पारम्परिक गेंहुँ, जौ इत्यादि से अधिक लाभकारी है। इस कृषि में परिवर्तन के कारण एक नए प्रकार के समाज का प्रारम्भ हुआ जो मूलभूत रूप में वैदिक समाज से भिन्न था। समकालीन ब्राह्मण, बौद्ध इत्यादि ग्रन्थों से हमें इस काल का ज्ञान होता है। इस काल में (1000 ई०पू० से 600 ई०पू०) में जनपद तथा महाजनपदों का वर्णन है। वैसे तो कुछ जनपदों का उत्तरवैदिक काल में में भी वर्णन है। ये जनपद सामान्यतः वैदिक जनों के नाम पर थी जैसे कुरु जनपद, पांचाल जनपद, इत्यादि। पहली बार भिन्न प्रकार की मानव बस्तियों को क्षेत्र विशेष प्रकार के भौगोलिक नामों पर देखा गया है। इस काल के ग्रन्थों में विभिन्न क्षेत्र तथा भौगोलिक विभाजनों का स्पष्ट उल्लेख है जैसे अहिछत्रा, हस्तिनापुर, कौशान्दी, उज्जैन, श्रावस्ती, वैशाली इत्यादि क्योकिं जनपदों तथा महाजनपदों पर एक राजा के द्वारा शासन किया जाता था तथा उनके आधीन क्षेत्र में एक ही जन या कबीले के लोग न होकर विभिन्न जन समुदायों के लोग थे। आपस में इन जन पदों का अपना अधिकार क्षेत्र बढाने के लिए संघर्ष चलता रहा तथा महाजनपदों के शक्तिशाली राजाओं के बीच दूसरे जनपदों को मिलाने की होड़ लगी रही जो अन्त में मगध साम्राज्य के उत्कर्ष में जाकर सम्पन्न हुई। दूसरी ओर इस काल में कुछ गणराज्यों की स्थापना भी इस काल में हो चुकी थी जो गणतन्त्र रुप में शासित के इन लच्छिवी, वज्जी इत्यादि थे। जहां पर राज्य एक शासक के हाथ में होकर पूरे समुदाय के अधिकार में थे। कभी–2 उन्हे राजा की उपाधि भी दी जाती थी। एक गणराज्य में 7007 राजा (सदस्य) थे।

इसके अतिरिक्त इस काल के समाज में एक अन्य मूलभूत परिवर्तन भी देखने को मिलता है वह है कि बहुत से लोगों का मूल रुप से कृषि पर आधारित न होना। वह संभव हुआ आवश्यकता से अधिक उत्पादन के कारण। इससे लोगों में कृषि उपज से अतिरिक्त अन्य चीजों की मांग बढी। इससे एक नए वर्ग का उदय हुआ जो वस्तुओं के विनिमय करता था। विभिन्न व्यक्तियों एवं क्षेत्रों के बीच वस्तुओं के आदान प्रदान की प्रक्रिया के कारण व्यवसायिक मध्यस्थों और व्यापारियों का यह वर्ग श्रेष्ठिन (या सेठों) था जो काफी धनी भी हो गए थे। प्रथम बार इस काल में हमें न केवल पशुधन के अतिरिक्त अनाज का धन के रुप में देखा जाने लगा। इसी कारण धनी व्यापारियों का महत्व समाज में बड़े–2 भूस्वामियों की भांति हो गया। व्यापार में अधिकता होने के कारण विनिमय की दिक्कतों को दूर करने के लिए धातु का विनिमय के माध्यम के रुप में प्रयोग होने लगा। कालान्तर इनकी शुद्धता परखने के लिए इन पर व्यापारियों की इन श्रेणियों ने अपने चिन्ह लगाने शुरु कर दिए। इस तरह इस काल में धातु के सिक्कों की शुरुआत हो गई। भारत के प्रारम्भिक सिक्कों में 'नेगम' प्रकार के सिक्के इन्ही व्यापारिक श्रेणियों के चलाए हुए थे। व्यापार के कारण ही कस्बों एवं नगरों का उदय हुआ तथा भारत का द्वितीय नगरीकरण भी इसी काल में हुए परन्तु अधिकतर लोग गांवो में रहते थे तथा कृषि कार्य में खाद्य उत्पादन में लगे थे। वैदिक चर्तुवर्ण व्यवस्था इस काल में भी सैद्धान्तिक रूप से चल रही थी परन्तु इस काल में सभी सामाजिक समुहों का वर्णन इस व्यवस्था में परिभाषित नही है जैसे दासों का होना, उनकी स्थिति इत्यादि। इस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था का उदय गंगा घाटी में हुआ तथा यहीं पर जनपद, महाजनपद इत्यादि बने।

स्त्रोत :-

इन जनपदों एवं महाजनपदों के बारे में हमें अधिकतर जानकारी वैदिक तथा बौद्ध साक्ष्यों से प्राप्त होती है। वैदिक ग्रन्थों में उस काल के उपनिषद हैं। यद्यपि ये प्रमुखतः दार्शनिक (Philosphy) से सम्बन्धित है परन्तु इनमें जहाँ–तहाँ पर कृषक समुदायों की बस्तियों के बारे में विविध जानकारी है। इसके अतिरिक्त बौद्ध ग्रन्थों में विनयपिटक, सुत्तपिटक तथा जातक कथाएं इत्यादि भी हैं। इन ग्रन्थों में तथा अन्य साक्ष्यों में विभिन्न भौगोलिक विभाजनों जैसे अहिक्षेत्र, हस्तिनापुर, कौशाम्बी, श्रावस्ती, वैशाली इत्यादि का वर्णन है। इसके अतिरिक्त इस काल के पुरातात्विक साक्ष्य उत्तरीय कृष्ण पालिशदार (North Black Polished Ware) मदभांड तथा उनका संस्कृति के रूप में मिलती है। लोहकाल की इस मदभांड संस्कृति में लाहे का प्रचुर प्रयोग, सिक्कों का प्रयोग तो मिलता ही है तथा साथ ही अन्य वस्तुओं, घरों, इमारतों, गाँवों, कस्बों, तथा शहरों के बारे में पता चलता है।

जनपद :-

समकालीन साहित्य में हमें बहुत सी सुव्यवस्थित बस्तियों जैसे ग्राम, नगर, जनपद, महाजनपद इत्यादि का उल्लेख मिलता है। इनमें

जनपद तथा महाजनपद महत्वपूर्ण है। जनपद का शाग्दिक अर्थ है ''जहाँ लोग पैर रखते हैं'' वैदिक साहित्य में जन का वर्णन 'एक कुल के सदस्य' के रूप में मिलता है। ऋग्वैदिक काल में तो जन के सदस्य मुख्यतः पशुपालक थे तथा थोड़ी बहुत कृषि करते थे। ये जन हमेशा ही घुमक्कड़ थे तथा चारागाहों की तलाश में घुमते थे परन्तु उत्तरवैदिक काल में जन के लोगों ने एक स्थान पर रहकर कृषि कार्य शुरु कर दिया। इस तरह की कृषि बस्तियां जनपद कहलाई। प्रारम्भ में इनका नामकरण जनों के नाम पर था जैसे कुरु जनपद, पांचाल जनपद इत्यादि। परन्तु बाद में लोहे के प्रयोग, मध्य गंगा में धान की कृषि, जनसंख्या में वद्धि इत्यादि के कारण ये जनपद आकार में बढ़ते चले गए। इसके साथ ही आपसी संघर्ष तथा दूसरे जनपदों को अपने जनपद में मिलाने से न केवल जनपद का आकार ही बढ़ा बल्कि इसमें सामाजिक परिवर्तन भी हुए। अब जनपद में एक जन या वंश के लोग न होकर विभिन्न जन या जनपदों के लोग होने लगे। दूसरे कृषि उत्पाद के अतिरिक्त परस्पर युद्धों के दौरान लूटपाट से धन की प्राप्ति भी होने लगी। इससे प्रारम्भिक काल के जनपद में स्वेच्छा से राजा या मुखिया का भाग, भोग, बलि इत्यादि के अतिरिक्त जनपद के दूसरे जनों से कर लेना भी प्रारम्भ हो गया। इससे जनपदों में छोटी–छोटी जनजातियों का विलय हुआ जैसे पांचाल में अनेक छोटी–छोटी जनजातियां थी। साथ ही इन जनपदों की आंतरिक सामाजिक, राजनैतिक संरचना में भी परिवर्तन हुए। आर्थिक क्षेत्र में अब पशु के साथ भूमि को भी सम्पति के रूप में मान्यता मिली।

नए समुदायों का उदय :-

इन मूलभूत परिवर्तनों के कारण तत्कालीन समाज में कई नई श्रेणियों एवं समुहो का उदय हुआ इनमें भूसम्पन्न पारिवारिक इकाई का मुखिया गहपति था। कई गहपति तो काफी समद्ध हो गए थे जिनके पास अपार भूमि थी। भूमि इस काल में कुल की सम्पति मानी जाती थी। प्रारम्भ में भूमि पर क्षत्रियों या शासक वर्ग तथा अन्य सामाजिक समुहों (जैसे ब्राह्मण) ने अपना कब्जा कर लिया। यद्यपि ये लोग उत्पादन कार्य में नही लगे थे इसलिए इन्हें उत्पादन का एक भाग प्राप्त होता था।इस प्रकार कर प्रणाली तथा संग्रहण कर सम्पति बढ़ाने की प्रवति का उद्भव हुआ। इन समुहों से गहपति का उदय हुआ जो अपनी भूमि पर शुद्रों, कर्मकारों एवं युद्धबन्दी दासों से कृषिकर्म करवाते थे। जिनके श्रम से अतिरिक्त खाद्य उत्पादन कर गहपति बड़े व्यक्तिगत भूस्वामी बनने लगे।

व्यापारी वर्ग :-

दूसरा महत्वपूर्ण वर्ग इस काल में व्यपारी या श्रेष्ठिन (सेठ या सेठी) वर्ग का था। बौद्ध साहित्य में सेट्ठी शब्द बहुत बार प्रयुक्त हुआ है। ये लोग व्यपार एवं विनियम लगे थे। ब्राह्मण ग्रन्थों में सामान्यतः व्यापारिक वर्ग को वैश्य में रखा गया है परन्तु इस काल में व्यपारिक एवं आर्थिक गतिविधियों का एक अलग रूप बन चुका था। अपने व्यापार एवं श्रेणी के सदस्यों के लिए इन्होंने अपनी अलग–अलग श्रेणियो बना रखी थी तथा नियम बनाए हुए थे। जिनके नियमों को शासक वर्ग भी मान्यता देता था। ये स्वतन्त्र व्यापारी थे जो सामान्यत शहरों में रहते थे। इस तरह इस काल में स्वतन्त्र व्यापार एवं कृषि के कारण निजी सम्पति का अस्तित्व सामने आया।

शासक एवं शासिक वर्ग :-

इस प्रकार के सामाजिक एवं आर्थिक विकास के कारण राजनैतिक परिवर्तन होना प्रारम्भ हो गया। जनपदों के राजनैतिक स्वरूप में भी परिवर्तन हुए। पहले राजा शब्द एक कुल के मुखिया के लिए प्रयुक्त होता था अब वह एक विशेष स्थान पर राज्य करने वाला, नियमित कर वसूलने वाला तथा अपनी स्वयं की सेना का मालिक था। इस सेना को वह कर से प्राप्त धन से वेतन देता था। कृषक से कर लिया जाता था। यही नही बल्कि कर वसूली के लिए नियुक्त कर्मचारियों का वर्णन भी इस काल में हमें मिलता है। कृषि उत्पादन से भाग वसूली के लिए भगदुध नाम से कर्मचारी होता था। एक अन्य अधिकारी राजुगाहक था जो कृषि भूमि का सर्वेक्षण करता था। जातकों में तो हमें राजा के गोदामों, वहाँ नियुक्त कर्मचारियों इत्यादि का भी उल्लेख मिलता है।

इस काल में जनपद तथा महाजनपदों के नाम किसी कुल के नाम पर नही होते थे क्योकिं अब जनपदों के आपस के युद्धों के कारण एक बड़े जनपद या महाजनपद में अनेक जनों के विलय के कारण इस तरह के नाम तर्कसंगत नही थे। इस तरह काशी, वत्स, मगध, अवन्ती इत्यादि नाम किसी जन विशेष के कारण नही थे बल्कि क्षेत्रीय आधार पर थे। ये जनपद आपस में संघर्षरत थे तथा शत्रु पर आक्रमण कर लूटपाट करते थे तथा माल राजा के कोष में जाता था न कि उसका आपस में बंटवारा होता था। इसके अतिरिक्त कर वसूलने तथा एक सेना होने के कारण राजा का गौरव तथा शक्ति बढ़ने लगी। राजा किसानों एवं से कर वसूलने के कारण उनकी सुरक्षा करता था। वह आन्तरिक एवं बाहरी दोनों तरह की हो सकती थी। इस प्रकार धीरे–धीरे राजनैतिक–भौगोलिक ईकाइयां बड़ी होती चली गई तथा महाजनपद बनी। छठी शताब्दी ई०पू० तक पहुँचते–पहुँचते कई महाजनपद तो पूर्व काल के स्वायत्त जनपदों को शक्ति से जीत कर मिलाने से बने।

महाजनपद :-

छठी शताब्दी ईसा पूर्व तक भारत में कोई भी सर्वभौम शक्ति नही थी अपितु पूरा भारत तथा विशेषकर उत्तर भारत में काफी मात्रा में स्वतन्त्र शक्तियां राज्य कर रही थी। इनमें चार तो बड़े शक्तिशाली महाजनपद थे जिनमें मगध, कौशल, वत्स तथा अवन्ति थे।

इसके अतिरिक्त बहुत से छोटे महाजनपद थे जिनमें काशी, कुरु, पांचाल, मिथिला, शूरसेन, अंग, कलिंग, अश्मक, गांधार, कम्बोज इत्यादि थे। पुराणों में हमें हैहेय तथा वितिहोत्र जनपद का भी वर्णन मिलता है परन्तु ये कहाँ स्थित थे इसकी जानकारी नही मिली है। प्राचीन भारतीय साहित्य में सोलह महाजनपदों का उल्लेख मिलता है इनमें बौद्ध ग्रन्थों में बार–बार इनका वर्णन मिलता है इसके अतिरिक्त जैन ग्रन्थ भी हमें इनके होने का प्रमाण देते है यद्यपि दोनो में दी गई सूची कुछ भिन्न है।

बौद्ध साक्ष्यों में हमें सोलह तहाजनपदों (षोडस महाजनपद) का वर्णन मिलता है जो बुद्ध के काल में फल–फूल रहे थे। अंगुत्तरनिकाय (Anguttara Nikaya), जो कि सुत्तपिटक (Sutta Pitaka) का एक भाग है, में निम्नलिखित महाजनपदों का वर्णन है।

(1) अंग (2) मगध (3) काशी (4) कौशल (5) वज्जि या वज्जि (6) मल्ल (7) चेदी या चेती (8) वत्स (वंश) (9) कुरु (10) पचाल (11) मत्स्य (मच्छ) (12) शूरसेन (13) अश्वक (अश्मक या अस्सक) (14) अवन्ति (15) गांधार (16) काम्बोज महावस्तु में भी सोलह जनपदों की सूची है लेकिन इनमें गांधार तथा कम्बोज के नाम के स्थान पर सिबी तथा मध्य भारत का नाम जोड़ा गया है।

जैन ग्रन्थ भगवती सूत्र या व्याख्या प्रज्ञाप्ति में भी सोलह महाजनपदों का वर्णन है परन्तु इसमें कुछ भिन्न नाम दिए गए हैः– (1) भंग (2) वंग (3) मगह (4) मलय (5) मालव (6) अच्छ (7) वच्छ (8) कोच्छ (9) पढ़ (10) लाढ (या राढ) (11) बज्जि, वज्जि (12) मोली (13) काशी (14) कोशल (15) अवाह तथा (16) सम्भुत्तर (Sambhuttara)

ब्राह्मण ग्रन्थों में भी हमें महाजनपदों का वर्णन है जैसे महागोविन्द सुत्तांत (Mahagovinda Suttanta) में राजा रेणु के साम्राज्य को सात अलग–अलग राज्यों बांटा गया है तथा उनकी राजधानियों के नाम भी दिए हुए है, ये हैं

1. कलिंग राजधानी दन्तपुर
2. अस्सक राजधानी पोतन या पोटन
3. अवन्ति राजधानी महिष्मति (महिस्सति)
4. सोवीर राजधानी रोरूक
5. विदेह राजधानी मिथिला
6. अंग राजधानी चम्पा
7. काशी राजधानी वाराणसी

यद्यपि पौराणिक तथा बौद्ध साक्ष्यों में काफी समानता है तथापि इनमें भेद भी है जिसका कारण है कि यह सूचियां अलग–अलग समय में बनाई गई थी। इसके अतिरिक्त बहुत से गणतनत्रतात्मक राज्य भी इस काल में थे परन्तु पुराणों में इनका वर्णन नही हैं। बौद्ध साक्ष्यों से हमें इनका अच्छा वत्तान्त मिलता है, ये निम्नलिखित हैं :–

1. कपिलवस्तु के साकिय या शाक्य
2. वैशाली के लिच्छवी
3. मिथिला के विदेह
4. पावा तथा कुशीनारा के मल्ल
5. रामगाम के कोलिय
6. अल्लकप्प के बुलि
7. केशपुत्त के कालाम
8. पिप्फलीवन के मोरिय
9. सुंसमार पर्वत क्षेत्र के भग्ग

बौद्ध साहित्य के इन गणराज्यों का प्रमाण हमें पाणिनी के व्याकरण से भी मिलता है जहां इन्हें संघ या गण का नाम दिया गया है। इनमें क्षुद्रक, मालव, अम्बस्थ, हास्तिनायन, प्रकण्व, माद्र, आप्रीत, वसाति, भग्ग, शिबी, आश्वायन तथा आश्वाकायन इत्यादि है। इनमें से कुछ तो सिकन्दर के आक्रमण के समय भी थे।

इस प्रकसर हम देखते हैं कि ईसा से छठी शताब्दी पूर्व न केवल राजतन्त्र (महाजनपद) विद्यमान थे साथ ही गणराज्य भी विद्यमान थे।

(1) अंग :-

अंग महाजनपद को, जैन ग्रन्थ प्रज्ञापना, वंग के साथ आर्य लोगों की प्रथम श्रेणी में रखते हैं। महाभारत के विवरण के आधार पर आज का भागलपुर तथा मुंघेर जिले इसका क्षेत्र थे। यह मगध के पूर्व में चम्पा नदी के बीच का क्षेत्र था जिसकी उत्तरी सीमा गंगा थी। इसकी राजधानी चम्पा उस काल के बड़े नगरों में से एक थी जो कि उस समय का व्यापारिक केन्द्र थी तथा दिघ निकाय

के अनुसार यह उस समय के 6 व्यापारिक एवं वाणिज्यिक केन्द्रों में से एक थी। यहां के व्यापारी दूर–दराज स्वर्णभूमि तक समुन्द्री मार्ग से व्यापार करते थे। इसके अतिरिक्त दो अन्य महत्वपूर्ण नगर, भद्दिय (Bhaddiya) तथा अस्सपुरा भी इस महाजनपद में थे। अंग की मगध में भी राजनैतिक संघर्ष था तथा अंत में यह मगध साम्राज्य में शामिल कर लिया गया। भागलपुर में चम्पा नामक स्थल पर करवाई गई उत्खनन से भी इसके छठी शताब्दी ई०पूर्व में होने के प्रमाण मिलते हैं। यहां करवाए गए उत्खनन में उत्तरी कृष्ण पालिश वाले मदभांड (Northen Black Polished Ware) संस्कृति के प्रमाण प्राप्त हुए हैं।

(2) काशी :-

इस काल में काशी एक बहुत समद्ध महाजनपद था। जातकों (Jatakas) में इसका क्षेत्रफल 300 लीग (Leagues) था। काशी की राजधानी के एक तरफ वरुणा तथा दूसरी तरफ असी नदी बहती थी। इसी कारण इसका नाम वाराणसी पत्र था। जातकों में काशी और कोशल में संघर्ष का वर्चस्व के लिए था। इसके अतिरिक्त काशी और अंग तथा काशी और मगध में भी खींचातानी रही है, जिसे महात्मा बुद्ध के काल में कोशल ने अपने राज्य में मिला लिया था।

वाराणसी जो काशी की राजधानी था सूती कपड़े तथा घोड़ों की मण्डी के रूप में विख्यात था। बुद्ध के समय इस शहर के उदित होने के प्रमाण हैं परन्तु राजघाट नामक स्थल से उत्खनन में तो इसके इतने बड़े व्यपारिक केन्द्र होने के प्रमाण नही मिले। परन्तु साहित्य में प्रमाण इसके विपरीत मिलते हैं। दशरथ जातक में दशरथ तथा राम के वंश को काशी का राजा बताया गया है। साथ्र ही जैन साक्ष्य श्री पार्श्वनाथ के पिता को बनारस का राजा बताते हैं। महात्मा बुद्ध ने भी अपना पहला उपदेश बनारस के पास सारनाथ में दिया था।

(3) कोसल :-

कोसल महाजनपद आज के अवध क्षेत्र को ही माना जा सकता है जिसके पश्चिम में गोमती, पूर्व में सदानीरा, दक्षिण में स्यान्दिका (साई) नदी थी जबकि उत्तर में नेपाल की पहाड़ियां थी। साहित्य में हमें प्रमाण मिलते है कि कोसल दो भागों में विभाजित था उत्तरी तथा दक्षिणी जिनके मध्य सरयु नदी बहती थी। दक्षिणी कोसल की राजधानी कुशवती तथा उत्तरी कोसल की राजधानी श्रावस्ती थी। इसके अतिरिक्त अन्य महत्वपूर्ण नगर साकेत तथा आयोध्या थे। कुछ छोटे नगर सेतव्या, उक्कटठा तथा कीटागिरी थे।

काशी की विजय के पश्चात् कोसल एक शक्तिशाली राज्य बन गया था तथा इनका प्रभुत्व कपिलवस्तु के शाक्यों पर भी हुआ तथा साथ के क्षेत्र केसपुत्त (Kesaputta) के कालमों (Kalamas) इत्यादि पर भी हुआ। कोसल का राजा प्रसेनजित महात्मा बुद्ध के समकालीन था तथा अपने समय के चार प्रमुख राजाओं में से एक था। मगध के राजा अजातशत्रु के साथ इसका संघर्ष चलता रहा। कोसल के राजा ने ब्राह्मणवाद तथा बौद्ध दोनों को प्रोत्साहन दिया। यह तो स्पष्ट रूप से नही कहा जा सकता कि प्रसेनजित बौद्ध मतवालम्बी हो गया था परन्तु वह महात्मा बुद्ध का प्रशंसक तथा मित्र था। बौद्ध साहित्य में दोनों के परस्पर वार्तालापों का वर्णन है। प्रसेनजित का शाक्यों से भी स्नेह था, जिस कुल में महात्मा बुद्ध पैदा हुए। एक बार उसने शाक्य राजकुमारी से विवाह करने की इच्छा की। शाक्य इतने शक्तिशाली राजा को न तो नाराज कर सकते थे और न ही अपने अपने स्वाभिमान से समझौता कर सकते थे। उन्होंने चालाकी से एक दास लड़की को शाक्य प्रमुख की बेटी बताकर उसकी शादी प्रसेनजित से कर दी। इस विवाह से एक पुत्र का जन्म हुआ। विढुढाव जब अपने नाना के यहां गया तब उसे अपनी माता के बारे में सच्चाई का ज्ञान हुआ। गुस्साए प्रसेनजित ने अपनी रानी तथा पुत्र दोनों को घर से निकाल दिया परन्तु महात्मा बुद्ध के समझाने पर उसने उन दोनो को पुनः स्वीकार कर लिया। इस कहानी में कितनी सच्चाई है यह तो कहा नही जा सकता परन्तु इतना जरूर है कि उसके काल के अन्त में उसे आन्तरिक कठिनाईयों का सामना करना पड़ा। एक बार जब वह महात्मा बुद्ध से इस बारे में बातचीत कर रहा था तो उसके मंत्री ने विढुढाव को राजा घोषित कर दिया। उसकी खुद प्रजा ने उसका साथ नही दिया तो वह सहायता के लिए मगध के राजा अजातशत्रु से सहायता मांगने गया परन्तु शहर के द्वार पर ही उसकी मत्यु हो गई।

मज्झिम निकाय में यह वर्णन है कि विढुढाव ने शाक्यों को नष्ट कर दिया। इसके बाद कोसल का नियन्त्रण कई छोटे–छोटे राजाओं के हाथ में आया जिसके बाद मगध ने इस को अपने क्षेत्र में मिला लिया।

(4) वज्जि :-

वज्जि या व्रज्जि आज के वैशाली क्षेत्र का एक महाजनपद था जिसमें आज के बसाढ़ तथा उत्तरी बिहार का क्षेत्र था। वज्जि शब्द का अर्थ है पशुपालक समुदाय। इसके संघ में आठ या नौ कुलों का समुह था जिनमें विदेह, लिच्छवी, ज्ञात्रिक तथा वज्जि प्रमुख थे। लिच्छवियों की राजधानी वैशाली इस संघ का प्रमुख केन्द्र थी। रामायण में इसे एक बहुत ही समद्ध शहर बताया गया है। विदेह प्रारम्भ में राजतन्त्र था जिसकी राजधानी मिथिला थी, जिसके पूर्व में कौशिकी, दक्षिण में गंगा, पश्चिम में सदानीरा तथा उत्तर में हिमाचल पर्वत थे। कनिंकम ने आज के जनकपुर (नेपाल स्थित) पुर का समीकरण मिथिला से किया है। जैन साहित्यों के अनुसार भगवान महावीर ज्ञात्रिक संघ से थे जिनकी राजधानी कण्डपुरा या कुण्डग्राम थी जो वैशाली के समीप ही है। इसके अतिरिक्त जो

अन्य गणराज्य इस संघ में सम्मिलित थे उनके बारे में हमें अधिक ज्ञान नही है। इन सभी गणराज्यों का संचालन लोगों द्वाराचुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा होता था। ये लोग अपने मामले आपसी सभाओं में तय करते थे। एक जातक कथा के अनुसार वज्जियों पर अनेक वंशो के सरदार शासन करते थे। छठी शताब्दी में यह एक प्रमुख महाजनपद था परन्तु न तो इसके पास सेना थी तथा न ही कृषि राजस्व प्राप्त करने की कोई व्यवस्था थी।

कुछ विद्वानों का मत है कि लिच्छवी विदेशी उत्पत्ति के थे परन्तु साक्ष्य इसके विपरीत हैं। भारतीय साहित्य में इन्हे क्षत्रिय माना गया है। छठी शताब्दी में इनके संघ को उनकी एकता, शक्ति तथा गणतन्त्रत्मक (Republican) ढ़ाचें के कारण जाना जाता था। कोसल के राजा प्रसेनजित से इनके घनिष्ठ सम्बन्ध थे तथा अपने पड़ौसी मल्लों के साथ भी अच्छे सम्बन्ध थे। ऐसा कहा जाता है कि इन्होंने बिम्बिसार (Bimbisara) के काल में अपनी सेना मगध पर आक्रमण करने को भेजी। निरयावली सूत्र (Nirayavali Sutra) के कथनानुसार बिम्बिसार ने लिच्छवी राजकुमारी चेल्लना से शादी की थी जो वैशाली के राजा चेटक (Chetaka) की पुत्री थी। डा० भण्डारकर के अनुसार यह वैवाहिक सम्बन्ध दोनो शक्तियों के बीच शान्ति समझौते के स्वरूप सम्पन्न हुआ परन्तु यही इस संघ के अन्त का कारण बना। बिम्बिसार के पुत्र अजातशत्रु ने इस वज्जि संगठन को नष्ट कर दिया परन्तु इसमें उसे बहुत कठिनाई हुई क्योकिं इस संघ की आपसी एकता ही इसकी बड़ी शक्ति थी। इालिए अजातशत्रु ने अपने मंत्री वस्सकार को इनमें बैर के बीज बो एकता खत्म करने का जुम्मा सौंपा। कई वर्षो की मेहनत के बाद ही यह कार्य संभव हुआ तब अजातशत्रु ने लिच्छवियों पर आक्रमण कर हराया।

(5) मल्ल :-

बौद्ध तथा जैन साहित्य में मल्ल का वर्णन पूर्वी भारत के एक शक्तिशाली संघ के रूप में दिया गया है। भीमसेन को मल्ल के प्रमुख पर विजय करने वाला बताया गया है। महाभारत की भीष्म पर्व में भी इसके पूर्वी भारत के अंग, वंग तथा कलिंक के साथ वर्णन किया गया है। प्राचीन ग्रन्थों में मल्ल एक क्षत्रिय राजवंश के रूप में दर्शाया गया है। ऐसा कहा गया है कि मल्लों की नौ क्षेत्र तथा प्रत्येक का एक अलग क्षेत्र था। बुद्ध के काल में इनके दो प्रमुख केन्द्र थे। एक का प्रमुख केनद्र कुशीनारा में तथा दूसरे का पावा में था। कुशीनगर उत्तरप्रदेश के गोरखपुर जिले में कसिया क्षेत्र माना जाता है जबकि पावा के बारे में विद्वानों के मतभेद हैं। इन दो के अतिरिक्त कई अन्य शहर भी थे जैसे भोगनगर, जो जम्बुग्राम तथा पावा के बीच था, अनुपिया जो अरोमा नदी तथा उरूवेलकप्प के मध्य स्थित था।

लिच्छवियों की तरह ही मल्लों को भी मनु व्रात्य क्षत्रिय मानते है। महापरिनीब्बान सुत्तान्त (Mahaparinibbana Suttanta) में इन्हे वशिष्ठ या वासेटठ कहा गया है। विदेहों के समान ये भी प्रारम्भ में एक राजतन्त्रात्मक प्रणाली वाले थे। कुस जातक में इक्ष्वाकु को मल्ल का राजा बताया गया है परन्तु बाद में मल्लों ने गणतन्त्रात्मक प्रणाली अपना ली जिसके प्रत्येक सदस्य को राजा कहा गया है। मल्ल तथा लिच्छवियों ने अपना एक संघ बना रखा था जबकि भद्दसाल जातक इनके मध्य लड़ाइयों के भी संदर्भ देता था। महात्मा बुद्ध के काल तक मल्ल एक स्वतन्त्र ईकाइ थे जिन्होंने महात्मा बुद्ध के अवशेषों में अपना अधिकार जताया था परन्तु बुद्ध की मत्यु के कुछ समय बाद ही इन्होंने अपनी स्वतन्त्रता खो दी तथा मगध ने इन्हे अपने साम्राज्य में मिला लिया।

(6) चेदी या चेती :-

इनकी दो अलग–अलग बस्तियां थी इनमें एक तो नेपाल की पहाड़ियों में तथा दूसरी आज के बुन्देलखण्ड में साक्ष्यों के अनुसार इनका क्षेत्र यमुना के समीप कुरु तथा वत्स महाजनपद के बीच स्थित था। इनकी राजधानी सोत्थिवतीनगर थी जिसको महाभारत की शुक्ती या शुक्तिमती से जोड़ा जा सकता है जो उत्तरप्रदेश के बान्दा जिले स्थित है। इनके अन्य प्रमुख नगर सहजाति तथा त्रिपुरी थे। चेदी एक बहुत ही प्राचीन गण था। इनकी एक शाखा ने कलिंग में साम्राज्य बनाया था जिनका बाद में हाथीगुम्फा अभिलेख में भी वर्णन है।

(7) वत्स :-

वत्स का क्षेत्र बहुत ही समद्ध क्षेत्र था तथा उच्चकोटि के सूती कपड़ों के लिए प्रसिद्ध था। इसकी राजधानी कोशाम्बी थी जो आज के इलाहाबाद जिले का गाँव कोसल है। महात्मा बुद्ध के समय में यहां का राजा उद्‌यन (Udayana) था जो कि एक शक्तिशाली राजा था। अवन्ति के राजा प्रद्योत (Pradyota) से इसका संघर्ष था। नाटककार भास ने अपने नाटकों के द्वारा वत्स के राजा उद्‌यन तथा अवन्ति की राजकुमारी वासवदत्ता के बीच प्रेम सम्बन्धों का वर्णन किया है। इनमें मगध, वत्स, अवन्ति जैसे शक्तिशाली तहाजनपदों के बीच संघर्ष का उल्लेख है। उद्‌यन की बहुत सी रानियां थी उनमें एक थी मगध के राजा दर्शक की बहन। कथासरितसागर में इसकी दिग्विजय का वर्णन है। प्रियदर्शिका (हर्ष द्वारा रचित) इसने कलिंग को जीता। अपने श्वसुर दधिवाहन को अंग जीतकर भेंट कर दिया।

बौद्ध साक्ष्यों के अनुसार प्रारम्भ में तो उद्‌यन बौद्ध धर्मावलम्बी नही था। उसने बौद्ध संघ के एक सदस्य पिन्डोला को यातनाएं भी दी परन्तु बाद में इसी ने उसे बुद्ध का अनुयायी बनाया। बुद्ध की मत्यु के पश्चात् भी उद्‌यन राज्य करता रहा। उसके पश्चात् उसका

पुत्र बोधीस्या राज्य करता रहा। इसके बारे में बौद्ध साहित्य में अधिक वर्णन नही है। एक जातक के अनुसार बोधी संसुमारगिरी पर्वत पर विचरण करता बताया गया है जिससे पता चलता है कि उसके काल में भग्ग (या भर्ग) वत्स की आधीन क्षेत्र था। मगध के साथ संघर्ष में अन्त में वत्स की पराजय हुई क्योकिं बाद में वत्स मगध का अंग बन गया।

(8) कुरु :-

जातकों के अनुसार कुरु महाजनपद की राजधानी इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली के समीप) थी। युधिस्ठिर इसी परिवार से सम्बन्धित थे। अर्थशास्त्र तथा अन्य ग्रन्थों में इन्हे राजशब्दोंपजिविनह अर्थात राजा की पदवी रखने वालों की संज्ञा दी गई है। लेकिन महाराजा बुद्ध के काल में कुरु जनपद कोई महत्वपूर्ण महाजनपद नही था और इस क्षेत्र में एक कम महत्व का नाममात्र का राजा था जिसका नाम कोरव्य था। जैन उत्तराध्ययन सुत्र में राजा इसुकार का संदर्भ है जो कि प्राचीन वैभवशाली सुन्दर शहर इसुकार(तीर बनाने वाले) का राजा था। कुरु राजवंश के यादवों से वैवाहिक सम्बन्ध थे तथा भोज एवं पांचालों से भी निकट सम्बन्ध थे। काफी स्थानों पर तो कुरु और पांचाल को इक्कठा भी सम्बोधन किया है जो इनकी घनिष्ठ निकटता या संघ का द्योतक है। जातकों में युधिष्ठिर के राजवंश के एक राजा का वर्णन है।

(9) पांचाल :-

प्रारम्भिक काल में पांचाल का क्षेत्र दिल्ली के उत्तर तथा पूर्व में था। जिसका विस्तार हिमालय की तलहटी से चम्बल नदी तक। गंगा नदी इसे उत्तर तथा दक्षिण पांचाल दो भागों में बांटती थी। इसका क्षेत्र आज के उत्तरप्रदेश के फरुखाबाद तथा आस–पास के क्षेत्र में था। महाभारत, जातकों एवं दिव्यावदान में भी उत्तर तथा दक्षिण पांचाल का वर्णन है। उत्तर पांचाल की राजधानी अहिछत्रा थी तथा दक्षिण पांचाल की राजधानी काम्पिलय थी। पांचाल के राजा चूलनी ब्रह्मदत्त (Chulani Brahmadatta) का वर्णन रामायण एवं तहाउम्भग जातक, उत्तराध्ययन सूत्र एवं स्वप्नवासव्दत्त में मिलता है। कान्यकुब्ज (कन्नौभ) इसी पांचाल के राज्य में स्थित था। पहले यहां राजतन्त्रात्मिक शासन था परन्तु ईसा से छठी शताब्दी पूर्व यहां गणराज्य की स्थापना हो गई थी।

(10) मत्स्य :-

मत्स्य या मच्छ का क्षेत्र जयपुर, भरतपुर तथा अलवर क्षेत्र में था। इसकी राजधानी विराट नगर (आज का वैराट) थी जो इसके संस्थापक विराह के नाम पर रखा गया था। पाली साहित्य में मत्स्य का वर्णन शुरसेन के साथ किया गया है। अपर मत्स्य या पश्चिमी मत्स्य शायद चम्बल के आसपास का क्षेत्र था। इसी तरह रामायण में इस तरह के वीर मत्स्य का संदर्भ है। ऐसा माना जाता है कि इनकी एक शाखा बाद के दिनों में विशाखापट्टनम में बस गई। महात्मा बुद्ध के काल में इनका कोई राजनैतिक महत्व नही था। इस समय यह चेदी महाजनपद का अंग बन गया था क्योकिं राजा सहज को मत्स्य तथा चेदी दोनों पर राज करता बताया गया है।

(11) सूरसेन :-

सूरसेन जनपद की राजधानी यमुना पर स्थित मथुरा थी जिन्हें युनानी लेखक सौरसेनोइ (Sourasenoi) नाम से जानते हैं। बुद्ध के प्रारम्भिक शिष्यों में यहां का राजा अवन्ति पुत्र था जिसने मथुरा क्षेत्र में बौद्ध धर्म को फैलाया। पाणिनी की अष्टाध्यायी में अंधक तथा वष्णि संघ को मथुरा में राज्य करते बताया गया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी इन्हे संघ ही कहा गया है। इनका मुखिया वासुदेव कृष्ण था। मैगस्थनीज (Megasthanese) के समय में भी शुरसेन की राजधानी मथुरा कृष्ण की पूजा का केन्द्र था। छठी शताब्दी ईसा पूर्व शुरसेन का राज्य मगध साम्राज्य में मिला लिया गया।

(12) अश्वक :-

अश्वक, अस्सक या अश्मक प्रारम्भ में सिन्धु नदी पर स्थित एक राज्य था। बौद्ध साहित्य में अस्सक को एक महाजनपद कहा गया है जिसकी राजधानी पोतन या पोताली (महाभारत का पौण्डय) था। बौद्ध साहित्य में इसे दक्षिण भारत का एक राज्य बताया गया है। गोदावरी नदी अस्सक तथा मूलक महाजनपदों को अलग करती थी। मूलकों की राजधानी प्रतिस्थान (आज का पैठन) अस्सक के दक्षिण में थी। सुत्तनिपात के टीका के अनुसार अस्सक तथा मूलक दो आन्ध्र राज्य थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इसे महाराष्ट्र से समीकृत किया गया है। बौद्ध साक्ष्यों के अनुसार भी यह गोदावरी के आसपास स्थित था। अश्मक एवं मूलक इक्ष्वाकु वंश से सम्बन्धित थे। अस्सक राजा ब्रह्मदत्त, अंग तथा काशी के राजा धतराष्ट्र (धतरत्थ) का समकालीन था। अस्सक के एक अन्य राजा अरून ने कलिंग के राजा को हराया था। बुद्ध के काल में यहां पर जो राजा राज्य कर रहा था उसके का नाम सुजात था।

(13) अवन्ति :-

अवन्ति पश्चिमी भारत का एक महत्वपूर्ण महाजनपद था तथा ईसा से छठी शताब्दी पूर्व की चार महान शक्तियों में से एक था। वेतरावती नदी इसे उत्तर तथा दक्षिण दो भागों में बांटती थी। महिष्मति नामक नगर अवन्ति की राजधानी थी परन्तु पाली साहित्य

में यहां की राजधानी उज्जेनी (आज का उज्जैन) थी तथा महात्मा बुद्ध के काल में यहां का राजा चण्ड प्रद्योत था। डा० डी० आर० भंडारकर का कहना है कि ऊपरलिखित विवरण में इस कारण से दोष है कि अवन्ति दो भागों में बंटा था। एक दक्षिणापथ में जिसकी राजधानी महिष्मति थी तथा दूसरा उत्तरी साम्राज्य जिसकी राजधानी उज्जेयनी थी। बौद्ध तथा जैन साक्ष्य ईसा से छठी शताब्दी में अवन्ति के दो अन्य नगरों का वर्णन करते है एक कुररघर तथा दूसरा सुदर्शनपुर।

पुराणों के अनुसार पुलिक (या पुणिक) ने अपने राजा की हत्या कर उसके स्थान पर अपने पुत्र प्रद्योत (Pradyota) को राजा बना दिया जो बुद्ध के समकालीन था। इस काल में वत्स मगध तथा कोशल से अवन्ति का संघर्ष चल रहा था। प्रद्योत (प्रद्‌योत) के कौशाम्बी के राजा उद्‌यन से सम्बन्ध थे। बौद्ध साक्ष्य के अनुसार मगध नरेश अजातशत्रु को प्रद्योत के भय के कारण अपनी राजधानी राजगह की किलाबन्दी करनी पड़ी थी। पुराणों के अनुसार प्रद्‌योत ने अपने आसपास के क्षेत्रों को विजत कर लिया तथा 23 वर्ष तक राज्य किया। बौद्ध साक्ष्य महावग्ग में प्रद्योत को बहुत निर्दयी राजा कह इसे चण्ड तथा महासेन की संज्ञा दी। पुराणों में भी इसे चण्ड प्रद्योत महासेन नाम दिया गया था। इसके बाद चार अन्य राजाओं पालक, विशाखयुज, अजक तथा नन्दिवर्धन ने क्रमशः 24,50,21 तथा 20 वर्ष तक राज्य किया। अन्तिम राजा को शिशुनाग ने पराजित कर राज्य को मगध साम्राज्य में मिला लिया।

(14) गांधार :-

गांधार (या गार्न्धव विषय) उत्तर पश्चिमी भारत में आज के पेशावर, रावलपिण्डी तथा काबुल के मध्य का क्षेत्र था। इसकी राजधानी तक्षशिला थी जो कि व्यापार एवं शिक्षा का एक महत्वपूर्ण केन्द्र था। छठी शताब्दी ई०पूर्व यहां के राजा पुक्कुसाती (Pukkusati) या पुष्करसारिन ने मगध के राजा बिम्बिसार के पास एक दूत के हाथ पत्र भेज मित्रता का संदेश भेजा। छठी शताब्दी ईसा पूर्व के उत्तरार्ध में गांधार पर फारस ने विजय प्राप्त कर अपने साम्राज्य में मिला लिया।

(15) कम्बोज :-

प्राचीन साहित्य में कम्बोज को गांधार के साथ वर्णित किया गया है। अशोक के अभिलेखों में भी ऐसा ही वर्णन है। इनका क्षेत्र पाकिस्तान के हजारा तथा उत्तर पश्चिमी क्षेत्र में काफिरिस्तान तक था। इनकी राजधानी द्‌वारिका थी। जिसके सही स्थान का पता नही चल सका है। सातवीं शताब्दी ईसा पूर्व में कम्बोजों को ब्राह्मण ग्रन्थों में असभ्य लोगों की संज्ञा दी गई है। अर्थशास्त्र में भी इन्हे वर्त्सशास्त्रपजीविन संघ अर्थात कृषकों, चरवाहों, यौद्धाओं इत्यादि का संघ कहा गया है।

स्वशासी अथवा गणतन्त्रात्मक संघ (Autonomous Clavs)

ईसा से छठी शताब्दी पूर्व में राजतन्त्रों के अतिरिक्त बहुत सी छोटी गैर राजतान्त्रिक, स्वशासी एवं अर्द्ध स्वतन्त्र राज्य भी थे। इनमें से बहुत से गणराज्य भी थे जिनका वर्णन हमें बौद्ध साक्ष्यों से प्राप्त होता है। महात्मा बुद्ध ने तो अपने संघ का संविधान भी इन्ही गणतन्त्र संघो के संविधान पर ही आधारित बनाया था। इन राज्यों में से निम्नलिखित महत्वपूर्ण है :–

1. कपिलवस्तु के शाक्य
2. वैशाली के लिच्छवी
3. पावा तथा कुशीनारा के मल्ल
4. रामग्राम के कोलीप
5. मिथिला के विदेह
6. पिप्लिवन के मोरिय
7. संसुमार पर्वत क्षेत्र के भग्ग
8. कोसपुत्त के कालाम
9. अलक्रप्प के बुलि

शाक्य :-

इनमें शाक्य सबसे महत्वपूर्ण थे। महात्मा बुद्ध का जन्म भी इसी कुल में हुआ था। राजनैतिक तौर पर उनका इस काल में इतना महत्व नही था। अन्त में विढुढाव ने इन्हे हरा कर इनका राजनैतिक वजूद समाप्त कर दिया। शाक्य अपने आप को सूर्य वंशी मानते थे तथा कोसल के निवासी मानते थे। इसी कारण से राजा प्रसेनजित भी अपने आप को गौतम बुद्ध की तरह ही शाक्य का नागरिक मानते थे। शाक्यों का राज्य उत्तर में हिमालय, पूर्व में रोहिणी नदी, पश्चिमी तथा दक्षिण में राप्ती नदी के बीच का क्षेत्र था। इनकी राजधानी कपिलवस्तु थी जिसे कुछ विद्यमान नेपाल तराई का आज का तिलौराकोट मानते हैं परन्तु आज कल इसे बिहार में स्थित माना जाता है। बौद्ध साहित्य में इनके कई नगरों का भी वर्णन है। ऐसा बताया गया है कि इनके 80,000 परिवार थे।

शासन व्यवस्था :-

शाक्य गण का संविधान गणतन्त्रात्मक या जनतन्त्रात्मक था। इसमें सत्ता 80000 कुलीन परिवारों के प्रमुखों के हाथ में थी। इन्ही में से एक को अपना मुखिया चुना जाता था। महात्मा बुद्ध के पिता इसी तरह निर्वाचित एक मुखिया या राजा थे। इन्हाने अपने राज्य के संचालन के लिए एक परिषद का चुनाव किया हुआ था जो राजा या प्रमुख को महत्वपूर्ण मामलों में परामर्श देती थी। यहां तक कि काई भी कार्य इस परिषद की सहमति के बिना नही होता था। बौद्ध साक्ष्यों में वर्णित कपिलवस्तु की संथागार यही परिषद थी। ललितविस्तार में इसके सदस्यों की संख्या 500 दी गई है। राज्य के प्रत्येक नागरिक को राष्ट्र सेवक माना जाता था तथा इसकी रक्षा के लिए वे हमेशा तत्पर रहते थे। इसी कारण महात्मा बुद्ध के काल में शाक्य गण एक मजबूत एवं स्वतन्त्र संघ था परन्तु प्रसेनजित के पुत्र विढुढाव (विरूद्धक) ने इस पर आक्रमण कर इसे अपने राज्य में मिला लिया। इस आक्रमण के समय में भी इनकी संथागार में यह वाद–विवाद चलता रहा कि क्या आक्रमण के लिए नगर के द्वार खोले जाए या नही।

लिच्छवी :-

इस संघ का क्षेत्र आज के उत्तरी बिहार में था तथा इनकी राजधानी वैशाली (बसाढ) थी। ललित विस्तार में इस नगर का एक वैभवशाली एवं समद्ध नगर बताया गया है जो कि वज्जि संघ की भी राजधानी था। लिच्छवी संघ के शासक अपने आप को क्षत्रिय बताते है। महाबीर के पिता सिद्धार्थ ने लिच्छवी कन्या से विवाह किया था। अपने क्षत्रिय होने के कारण ही इन्होंने महात्मा बुद्ध के अवशेषों में अपना हिस्सा मांगा था।

शासन पद्धति :-

लिच्छवी संघ की राजनैतिक व्यवस्था भी शाक्यों की तरह गणतन्त्र थी। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में इस को राजशब्दोपजीवी संघ का नाम दिया गया है जिसका अर्थ ललित विस्तार में वर्णित है कि इस संघ के हर सदस्य को राजा कहा जाता था। यहां न कोई बड़ा था न छोटा तथा सब बराबर थे। इन्ही में से योग्य व्यक्तियों का चुनाव इस संघ की सभा के लिए किया जाता था। इसी प्रतिनिधि सभा के प्रत्येक सदस्य को राजा की उपाधि दी गई थी। इनकी बैठक संथागार में होती थी ऐसा कहा जाता है कि यहां 7707 राजा थे। इसके अतिरिक्त उपराजाओं एवं सेनापतियों की संख्या भी इतनी ही थी। चुल्लकलिंग जातक तथा अट्ठकथा में ऐसा वर्णन है। राज्य में इनका एक प्रमुख होता था जिसका चुनाव किया जाता था। राज्य में अपराधों के मुकद्दमों के लिए 8 न्यायालय थे तथा अपराधों के लिए सजा तथा नियम कठोर थे। राज्य में एक विनिश्चय महापात्र हुआ करता था जो अपराध की जांच करता था। इसके अतिरिक्त व्यवहारीक नामक अधिकारी था, जिसे हम आजकल के मैजिस्ट्रेट के समान मान सकते है, जिसके सामने अपराधी का प्रस्तुत किया जाता था। इसके बाद उसे सूत्रधार नामक कर्मचारी अभियुक्त को प्रस्तुत किया जाता था। यदि अपराध सिद्ध हो जाता था तो उसे अट्ठकुलक के सामने लाया जाता था। इसके अतिरिक्त अन्य अधिकारियों, भाण्डागारीक, सेनापति, उपराजा तथा राजा के सामने प्रस्तुत होना पड़ता था। दण्ड केवल अपराध सिद्ध होने पर ही दिया जाता था जिसका आधार पवेणियोत्थक नामक एक पूर्व–दष्टांत संहिता था।

गणराज्य के प्रशासन में राजसत्ता समस्त परिवारों के हाथों में थी जो कि यहां के मूल कुलीन परिवार थे। इनकी एक प्रतिनिधि सभा चुनी जाती थी जिसे संथागार कहा जाता था जो राज्य की व्यवस्थापिक सभा थी। इसकी मीटिंग के लिए एक निश्चित संख्या में सदस्यों का होना (Quorum) आवश्यक था। जो भी मामला सभा में लाया जाता था उस पर प्रत्येक सदस्य अपना मत व्यक्त करता था। जो सदस्य प्रस्ताव के पक्ष में होते थे वे मौन रहते थे तथा जो विरोध करते थे वे बोलते थे। विवादाग्रस्त प्रशन पर मत (छन्द) विभाजन होता था। एक अन्य समिति उव्वाहिक भी थी जो कभी–कभी विवादाग्रस्त प्रश्न पर निर्णय ले सकती थी। अधिवेशन की पूरी कार्यवाही को लिख लिया जाता था जो काम लिपिक किया करते थे। संथागार ही राजा, उपराजा, सेनापति एवं अन्य पदाधिकारियों की नियुक्ति करती थी। राजा की सहायता के लिए एक परिषद या मंत्रिमंडल होता था जिसकी संख्या नौ होती थी। इस तरह की शासन पद्धति अन्य गणराज्यों में भी थी।

रामग्राम के कोलिय :-

ये शाक्यों के पूर्वी पड़ोसी थे जो रोहिणी नदी के दूसरी ओर रहते थे। बौद्ध साक्ष्यों के अनुसार इनका शाक्यों से निकट खून का सम्बन्ध था। यद्यपि कभी–कभी आपस में इनके झगड़े भी हुआ करते थे। कोलियों की राजधानी तथा व्यग्घपज्ज (Vyagghapajja) तथा कई नगर थे। इनका एक उपनाम था जैसे शाक्यों का गौतम था। कोलियों का पुलिस बल का हमें विशेष वर्णन मिलता है जिनकी अपनी एक वर्दी थी। आज की पुलिस के समान ये भी हिंसा पर उतर आते थे तथा लोगों से जबरन वसूली करते थे। इनका संघ भी गणतन्त्रात्मक प्रणाली पर आधारित था।

भग्ग :-

इस काल की यह गौण शक्ति थी जो शायद एतरेय ब्राह्मण में वर्णित भार्गायण ही होगी। पाणिनी की अष्आध्यायी (Astadhyayi) में भी इसका वर्णन है। महाभारत तथा हरिवंश के अनुसार इसका तथा वत्स का निकट का सम्बन्ध था।

मोरिय :-

इस काल के इस गणराज्य का क्षेत्र आज के कुशीपगर के आसपास था तथा इनकी राजधानी पिप्फलीवन थी।

इन छोटे–छोटे गणराज्यों का गणतन्त्रात्मक संविधान था तथा अपनी एक केन्द्रीय सभा हुआ करती थी जिसमें प्रत्येक सदस्य राज्य के कामों में भाग लेता था। शाक्य तथा लिच्छवी संविधान की तरह इनका संचालन होता था तथा केन्द्रीय संथागार के अतिरिक्त एक मंत्रिमंडल भी हुआ करता था जिसमें सदस्यों की संख्या गणराज्य के विस्तार पर हुआ करती थी जैसे लिच्छवियों के यहां यह संख्या नौ थी जबकि मल्लों के यहां यह संख्या केवल चार थी।

परन्तु ये गणराज्य अधिक देर तक राजतन्त्रात्मक शक्तियों के सामने टिक नही सके जिनमें एक कारण इनकी आन्तरिक कलह भी था क्योकिं निरन्तर वादविवाद से फूट पड़ना स्वाभाविक था। इसी कारण अजातशत्रु के मंत्री वस्सकार को सफलता प्राप्त हुई।

(a) मगध साम्राज्य का उत्कर्ष (Rise of Magadha Imperialism)

बिहार के दक्षिण भाग में पटना तथा गया के आसपास का क्षेत्र प्रारम्भिक मगध महाजनपद का क्षेत्र था। पूर्व में छोटा नागपुर पठार पश्चिम में सोन, पूर्व में गंगा के मध्य का क्षेत्र जो अंग जनपद से चम्पा नदी द्वारा बंटा था की राजधानी गिरीव्रज थी जिसे राजगह भी कहा जाता था। पहाड़ियों से घिरे इस क्षेत्र में आने का एक ही रास्ता था। यहां पर प्रारम्भिक काल में ही किसे बन्दी कर अमेद्य बना दिया था। क्योंकि इस क्षेत्र में बौद्ध मत का प्रचार अधिक हुआ इसी कारण ब्राह्मण ग्रन्थों में मगध की जनता को मिश्रित और हीन बताया गया है।

छटी शताब्दी ई. पूर्व में पाए गए सोलह महाजनपदों में मगध ही एक बड़ा साम्राज्य बनाने में सफल हुआ, इसकी शक्ति का वर्णन ब्राह्मण, जैन तथा बौद्ध ग्रन्थों में मिलता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में तो यहां के आठ राजवंशो का न केवल वर्णन है बल्कि सभी राजाओं तथा उनके राज्यकालों का भी वर्णन किया गया है। परन्तु पुराणों में मगध के बार्हद्रर्थ (Barhadratha) वशं के पश्चात् का विवरण बहुत कम है। इनके अनुसार इस वंश के बाद प्रद्योत (Pradyota) वशं का राज्य रहा तथा इसके पश्चात् शिशुनाग तत्पश्चात् उसके तीन उत्तराधिकारी हुए। जिनके बाद बिम्बिसार (Bimbisara) का राज्य आया। इस तरह के इतिहास को कई विद्यवान तो मानते है परन्तु बहुत से विद्यवानों के अनुसार इसमें बहुत सी त्रटियां है जैसे प्रद्योतो (Pradyotas) का राज्य अवन्ति में था मगध में नहीं तथा अन्तिम ब्रहद्रर्थ राजा रिपुजय (Ripunjaya) के तुरन्त बाद हुआ। इसके अतिरिक्त शिशुनाग बिम्बिसार से कई पीढियां (generations) बाद हुआ न कि पहले इसीलिए मगध का सही इतिहास जानने के लिए हमें बौद्ध साक्ष्यों का ही सहारा लेना पड़ता है।

बौद्ध ग्रन्थ महावंश से पहले हुए राजाओं में बिम्बिसार, अजातशत्रु, उदयमद्र, अनुरुद्ध, मुण्ड, नाग दर्शक, शिशुनाग, कालाशोक या काकवर्ण तथा उसके बाद इसके दस पुत्रों के नाम देते है जबकि पुराणों में हमें पहले शिशुनाग फिर काकवर्ण, क्षेमधर्मन, क्षत्रीजस्, बिम्बिसार, अजातशत्रु, दर्शक, उदायिन(Udayin), नन्दि वर्धन तथा महानन्दिन इत्यादि के नाम दिए गए है।

बिम्बिसार (545-495ई.पुर्व) : बौद्ध ग्रन्थों में वर्णन मिलता है कि बिम्बिसार ने किसी नए वंश की स्थापना नहीं की। महावशं के अनुसार जब वह 15 वर्ष का था तब उसके पिता ने उसे राजा स्थापित किया। परन्तु इस ग्रन्थ में उसके पिता का नाम नहीं दिया गया जबकि कुछ साक्ष्यों में उसके नाम मट्टिय या महापदम दिया गया है। डा. भण्डारकर (Bhandarkar) उसे नाग वंश का मानते है परन्तु अश्वघोष के वैवाहिक सम्बंध बुद्धचरित में इसे हर्यंक (Haryanka) कुल का बताया गया है। बिम्बिसार के राजनैतिक के उत्थान में उसके वैवाहिक सम्बन्धों का काफी हाथ रहा। महावग्ग के अनुसार इसकी 500 पत्नियां थी। यह कहां तक सच है कहा नहीं जा सकता परन्तु इसकी पत्नी कोसल के राजा प्रसेनजित की बहन थी जिसने इसे दहेज में एक लाख के राजस्व वाला गांव काशी दिया। लिच्छवी प्रमुख चेटक (Chetaka) की पुत्री चेल्लना (Chellana) इसकी दूसरी पत्नी थी। इसकी तीसरी पत्नी का नाम वैदेही वासवी था जिसने अपने पति की सेवा उस समय की जब इसे अजातशत्रु ने कैद कर लिया था। इनकी चौथी पत्नी पंजाब के मद्र (Madra) के राजा की पुत्री रवेमा थी। इसकी कई पुत्र थे जिनके आपसी द्वेष के कारण इसे बहुत सी परेशानियों को झेलना पड़ा। जैन साहित्य से हमें इसके कई पुत्रों का नाम मिलता है जिनमें कूणिक अजातशत्रु (Kunika Ajatasatru), हल्ल तथा बेहल्ल (लिच्छवी राजकुमारी चेल्सना उत्पन्न), अभय (नगरवधु अम्बपाली से उत्पन्न), मेघकुमार इत्यादि। कई बौद्ध साक्ष्य अजातशत्रु के कोसल की राजकुमारी से उत्पन्न मानते है। इसके अतिरिक्त दूसरे पुत्र थे विमल कीण्डन (अम्बपाली का पुत्र) तथा वेहल्ल एवं सीलवत्। कई साक्ष्य तो अजातशत्रु का वेदही पुत्र मानते है।

विजयेः गिरीव्रज या राजगह पहले पहल बिम्बिसार की राजधानी था। यह पांच पर्वतों से घिरा हुआ था तथा यहां आने का एक

ही रास्ता था जिसके द्वार शाम को बन्द कर दिए जाते थे। ऐसा कहा जाता है कि इसके बाद राजा तक के लिए भी इन्हे नहीं खोला जाता था। शहर तथा राजप्रसाद का डिजाइन एक प्रसिद्ध वास्तुशास्त्री महागोविन्द ने किया था।

अंग विजय : कुछ साक्ष्यों के विवरण के अनुसार ऐसा माना जाता है कि बिम्बिसार के पिता ब्रह्मदत्त को अंग के राजा ने पराजित किया था तथा इसी हार का बदला लेने के लिए उसने सर्व प्रथम अंग पर आक्रमण किया जिसमें उसे सफलता मिली। इस शक्तिशाली एवं समद्ध महाजनपद को उसने अपने राज्य में मिला लिया। जिसकी राजधानी चम्पा, जो उस समय के छः बड़े नगरों में से एक था, में उसने अपने पुत्र कूणिक को गर्वनर नियुक्त किया। काशी के विलय (दहेज उपरान्त) तथा अगं विजय के पश्चात् मगध के उत्कर्ष का प्रारम्भ हो गया तथा बाद में चल यह इतना बड़ा साम्राज्य बना जो सारे भारत में फैला था।

कूटनीतिक सम्बन्ध : बिम्बिसार ने अपनी सूझबूझ से अपने सम्बन्ध समीप तथा दूर की शक्तियों से बनाए रखे अवन्ति के राजा प्रद्योत से उसकी मैत्री थी जब वह बिमार पड़ा तो इसने अपने वैद्य जीवक को उसके उपचार के लिए भेजा। गंधार के राजा का दूत पुक्कुसाति अपने स्वामी के मित्रता का सन्देश लेकर बिम्बिसार के यहां आया था। पंजाब के मद्र नरेश से भी इसके वैवाहिक सम्बन्ध थे। इस तरह के सम्बन्धों के कारण उसकी आक्रमणकारी नीति काफी सफल भी रही तथा उसने एग बड़ा राज्य बना लिया।

राज्य विस्तार : मगध के राज्य में काशी तथा अंग के विलय के पश्चात् राज्य का विस्तार काफी हो गया। महावग्ग के अनुसार इसके राज्य में 80,000 गांव तथा शहर थे। बौद्ध साक्ष्यों के अनुसार इसके राज्य का विस्तार 300 लीग (leagues) का जिसमें अजातशत्रु ने 200 लीग अपनी विजयों से मिला एक और भी बड़ा साम्राज्य बना दिया। इसके साम्रज्य के कुछ महत्वपूर्ण गांवों एवं नगरों का वर्णन भी मिलता है इनमें सेनानीग्राम, एकनाला (जहां के ब्राह्मण भारद्वाज को बुद्ध ने बौद्ध बनाया), रवानुमत (ब्राह्मण गांव) नालकगाम (जहां सारिपुत्र ने दिया) इत्यादि इसके अजिरिक्त बहुत से गणराज्य तथा अद्धस्वतन्त्र समुदाय भी थे जिनके प्रमुख को राजकुमार कहा जाता था।

शासन प्रबन्ध : बिम्बिसार ने अपने साम्राज्य का प्रशासन बड़े सुचारु ढंग से किया। बौद्ध साहित्य के अनुसार गांव की अपनी एक सभी हुआ करती थी जिसका प्रमुख ग्रामक था। कभी–कभी इन सभी ग्रामकों का एक सम्मेलन भी हुआ करता। महावग्ग में ऐसे ही सम्मेलन का वर्णन है जहां सभी 80,000 गांवो के के प्रमुख एकत्रित हुए थे। राजधानी में महामात्रों की नियुक्ति की जाती थे जो तीन प्रकार के होते थे। प्रशासनिक कार्य करने वाले महामात्र सब्बात्थक (Sabbatthaka) थे जो सभी प्रशासनिक कार्यों की निगरानी करते थे। न्याय सम्बन्धि कार्यों को देखने वाले महामात्र वोहारिक (Voharika) कहलाते थे जो आज के मैजिस्ट्रेट की तरह न्यायिक अधिकारी थे। इस काल में दण्ड विधान काफी कठोर था। विनय पिटिक के अनुसार सजा में कारावास, अंग काट देना इत्यादि थे। तीसरे प्रकार के महामात्र सेना सम्बन्धि काम करते थे जिन्हे सेनानायक कहा जाता था। विजित राज्य (अंग) का प्रशासन करने के लिए राजकुमार को गवर्नर नियुक्त किया गया था। राजा की सहायता के लिए उपराजा भी नियुक्त किया जाता था जैसे अजातशत्रु चम्पा का उपराजा था। माण्डलिक राजा संभवतः सामन्त इत्यादि थे जो राजाज्ञा से एक निश्चित् मण्डल में राज्य करते थे।

धर्म : बौद्ध तथा दोनों ही बिम्बिसार को अनुयायी मानते थे। जैन ग्रन्थ उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार राजाओं में शेर के समान बिम्बिसार अपने सम्बन्धियों, पत्नियों, नौकरों इत्यादि के साथ, एक अन्य अ्णगार सिंह (महावीर) को एक चैत्य में मिलने गया तथा उनका अनुयायी बन गया उनका यह जैन धर्म के प्रति रुझान उसकी पत्नी चेल्लना के कारण। हेमचन्द्र का भी कहना है कि राजा अपनी पत्नी देवी चेल्लना के साथ महावीर की पूजा करने गया था।

दूसरी ओर बौद्ध साक्ष्य बिम्बिसार की बुद्ध के प्रति श्रद्धा को दर्शाते हैं। सुत्तनिपात (Sutta Nipata) के अनुसार राजा गौतम को बुद्ध बनने से 7 वर्ष पहले गिरी व्रज में मिला था तथा प्रभावित भी हुआ। इनका दूसरा मिलन राजगह में हुआ जब गौतम पूर्ण बुद्ध बन गए थे जब उन्होने बौद्ध धर्म अपना लिया तथा इसके उनलक्ष्य में उसने स्वयं बुद्ध तथा उसके अनुयायियों को अपने महल में स्वयं भोजन करवाया तथा बुद्ध तथा संघ को एक पार्क, जिसका नाम वेलुवन था, भेंट किया। विनय पिटिक में कहा गया है कि इसकी पत्नी खेमा बौद्ध धर्म के नियमों की ज्ञाती थी तथा राजा को भी उनके बारे में ज्ञान देती थी। इसके अतिरिक्त बिम्बिसार ने अपने वैद्य जीवक को महात्मा बुद्ध तथा संघ के अन्य सदस्यों के उपचार के लिए भेजा। इसके अतिरिक्त उसने गंगा नदी पार करने के लिए बौद्ध संघ के सभी सदस्यों का किराया माफ कर दिया।

शासन अवधि तथा अन्तिम दिन : महावंश के अनुसार बिम्बिसार ने 52 वर्षों तक राज्य किया जबकि पुराणों में उसके राज्य काल 28 वर्ष दिया गया है। बौद्ध साहित्य के अनुसार बिम्बिसार ने अपने पुत्र अजातशत्रु के हाथों जान गवाई जिसे उसमें चचेरे भाई देवदत्त ने भड़काया था। प्रथम बार उसने तलवार वारा राजा की हत्या की चेष्टा की परन्तु उसका यह प्रयास एक मंत्री ने विफल कर दिया तथा अजातशत्रु ने अपना अपराध स्वीकार कर लिया। मंत्री के कहने पर अन्य षड़यंत्रकारियों की तो हत्या कर दी गई परन्तु अजातशत्रु को माफ कर राजा बना दिया गया जिसके लिए वह बेताब था। परन्तु देवदत्त ने उसे बिम्बिसार को मार कर स्वयं राजा बनने के लिए उकसाया। ऐसा कहा जाता है कि अजातशत्रु अपना यह गुनाह महात्मा बुद्ध के सामने माना था तथा उसे बाद में पश्चातान भी हुआ।

जैन साहित्य अजातशत्रु के प्रति काफी नरम है तथा इसे पितहन्ता नहीं मानते। उनके अनुसार वह राजा बनने को आतुर था परन्तु बिम्बिसार ने कूणिक को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया तब अजातशत्रु ने अपने पिता को बन्दी बना जेल में डाल दिया जहां रानी चेल्लना ने उसकी सेवा की तथा एक बार जब बन्दी राजा की सूजी उंगली के दर्द को रानी अपने मूंह से चूस कर कम कर रही थी तो यह दश्य देख अजातशत्रु द्रवित हो उठा तथा लोहे के मूसल से वह राजा की बेड़िया तोड़ने भागा परन्तु बिम्बिसार समझा कि वह उसे मारने भागा आ रहा है इस डर से बिम्बिसार ने जहर खा आत्महत्या कर ली।

अजातशत्रु (493-461 ई. पूर्व)

बिम्बिसार के पश्चात् अजातशत्रु राजा बना। बौद्ध ग्रन्थ संयुक्त निकाय के अनुसार वह कोसल नरेश प्रसेनजित की बहन का पुत्र था अपनी शक्ति एवं महत्त्वकांक्षा के कारण अजातशत्रु ने मगध के साम्राज्य में और भी वद्धि की।

कोसल से युद्ध : चुंकि इसने अपने पिता की हत्या स्वयं राजा बनने के लिए की थी इसलिए कोसल के महाजनपद से इसका संघर्ष हुआ। कोसल की राजकुमारी बिम्बिसार की पत्नी थी जिसे इसने विधवा बना दिया था शोक में कुछ समय बाद जिसकी मत्यु हो गई थी। कोसल के राजा प्रसेनजित ने दहेज में दिए गए क्षेत्रों काशी को वापिस ले लिए इस तरह दोनों राज्यों में युद्ध छिड़ गया। पहले पहल तो अजातशत्रु को विजय प्राप्त हुई तथा प्रसेनजित को श्रावस्ती तक खदेड़ दिया परन्तु शीघ्र ही पासा पलट गया तथा अजातशत्रु को एक लड़ाई में बन्धक बना लिया गया और उसकी सारी सेना को भी प्रसेनजित के सम्मुख आत्मसमर्पण करना पड़ा। अन्त में दोनों में आपस में सन्धि हो गई। प्रसेनजित ने अजातशत्रु तथा उसकी सेना को स्वतन्त्र कर न केवल काशी क्षेत्र वापिस कर दिया गया अपितु प्रसेनजित ने अपनी पुत्री वजिरा की शादी अजातशत्रु से कर दी। इस तरह काशी अब अजातशत्रु को दहेज के रुप में भेंट हुआ।

वैशाली से युद्ध : जैन साक्ष्य भगवती सूत्र के अनुसार ने पूर्वी भारत की एक महत्त्वपूर्ण शक्ति जिसमें 36 गणराज्य नीहित थे को हराया। इनमें 9 मल्लकी, 9 लिच्छवी तथा 18 गणराज्य काशी और कोसल के थे। इस संघ को उसने लिच्छवी गणराज्य को हराने के बाद हराया था। वैशाली के लिच्छवियों के संघ के मगध के सम्बन्ध हमेशा ही सशंकित रहे थे। इस समय परस्पर संघर्ष के कारण विभिन्न साक्ष्य भिन्न–2 देते है। जैन साहित्य के अनुसार बिम्बिसार के वैशाली की राजकुमारी से हल्ल तथा बेहल्ल दो पुत्र उत्पन्न हुए। बिम्बिसार ने इन्हें अपने राज्य का हाथ तथा रत्न जड़ित कंठहार (necklace) उपहार में दिया। अजातशत्रु ने राजा बनते ही उसने ये उपहार वापिस पाने चाहे परन्तु राजकुमार हल्ल तथा बेहल्ल उन्हें लेकर अपने नाना चेटक के पास पहुँच गए तथा वहां सुरक्षा प्राप्त थी। इस लिए गुस्साए अजातशत्रु ने वैशाीली पर आक्रमण कर दिया। दूसरी ओर बौद्ध साक्ष्य इस लड़ाई का एक अन्य कारण बताते हैं। उनके अनुसार गंगा की नदी पर एक बन्दरगाह पर रत्न मणियों की एक खान (mine) प्राप्त हुई। क्योंकि गंगा नदी दोनों राज्यों के बीच बहती थी इसलिए यह समझौता हुआ कि अजातशत्रु तथा लिच्छवी दोनों को यहां से प्राप्त रत्न इत्यादि समान रुप से मिलेगें। ऐसा कहा गया है कि इस समझौते का उल्लंघन लिच्छवियों ने किया इस तरह संघर्ष प्रारम्भ हुआ। लिच्छवियों के संघ को पराजित करना आसान नहीं था क्योंकि उनकी शक्ति वज्जि संघ की एकता थी। चेटक ने इस संघ की सभा बुलाई जिसमें काशी तथा कोसल के गणराज्य अध्यक्ष भी सम्मिलित हुए। यहां यह फैसला करना था कि क्या अजातशत्रु के सम्मुख आत्मसमर्पण कर चाहिए या युद्ध कर चाहिए। मगध नरेश पूर्वी भारत पर अपना अधिकार जमाना चाहता था। इस समय महात्मा बुद्ध भी अपने धार्मिक कार्यों से हट कर राजनीति की ओर झुके क्योंकि वह स्वयं संघात्मक शासन में रहे थे तथा उन्होने बुद्ध संघ का संविधान भी इसी प्रकार का बनाया था। उन्होने लिच्छवियों को आश्वास्त किया कि जब तक वे अपनी सभाओं का आयोजन कर शासन चलाते रहेंगे तथा अपने बजुर्गों पुरातन संस्थाओं, पुजा स्थलों (Shrives), साधु सन्तो तथा स्त्रियों का आयर करते रहेंगे तब तक उन्हे कोई हरा नहीं सकता। इस युद्ध के लिए अजातशत्रु ने विवेश उपाय किए। प्रथम तो उसने वैशाली के निकट गंगा तट पर एक बड़ा दुर्ग बनाया जहां से लिच्छवियों पर आक्रमण किया जाए तथा उनके आक्रमण को विफल किया जा सके। अपनी सैनिक तैयारी ठीक प्रकार से की तथा दो नए प्रकार के युद्ध में प्रयोग होने वाले वाहनों को बनवाया। प्रथम रथमूसल जो रथ में लगे थे तथा पहिए के साथ घूम कर मूसलों से शत्रु सेना पर प्रहार करते थे। दूसरा महाशिलाकण्टक या बड़ी–2 शिलाओं को फैंकने वाला यंत्र।

दूसरी ओर इस संघ के प्रमुख ने काशी तथा कोसल के अतिरिक्त अपने अन्य साथियों को भी आमंत्रित किया। चेटक के सिन्धु सौ वीर, वत्स, अवन्ति इत्यादि से वैवाहिक सम्बन्ध थे जहां इसकी पुत्रियों की शादी कर रखी थी। संभवतः यहां से भी उसे सहायता प्राप्त हुई।

जो सबसे महत्त्वपूर्ण काम अजातशत्रु ने किया था वह था इस संघ में फूट डालने का। इसके लिए उसने अपने महामन्त्री वस्साकार को भेजा। उसने वज्जि संघ में फूट उत्पन्न कर दी। जिससे वे अजातशत्रु के आक्रमण का सम्मिलित एवं संगठित हाकर न कर सके और वे पराजित हो गए। जैन साहित्य के अनुसार यह युद्ध 16 वर्ष तक चलता रहा। गोसाल जो उस समय के एक धार्मिक गुरु थे तथा महावीर के समकालीन थे ने यह युद्ध होते देखा दे। उनकी मत्यु 484 ई. पूर्व हुई तथा महावीर की मत्यु 468 ई. पूर्व में भी वज्जि संघ डर कर अजातशत्रु का मुकाबला कर रहा था जैन ग्रन्थ निरयावली सूत्र के अनुसार महावीर की मत्यु के समय उन्होने

सामुहिक रुप से रौशनी प्रकाशितमान की जो महावीर रुपी रौशनी के उनके बीच के जाने के उपलक्ष में की गई थी इस तरह भी हम देख सकते है कि यह युद्ध कम से कम सोलह साल तक चलता रहा। अन्त में अजातशत्रु ने विजय हासिल हुई परिणामस्वरुप अजातशत्रु ने वैशाली को अपने राज्य में मिला लिया। काशी तथा अंग के बाद साम्राज्य विस्तार में उसका यह तीसरा कदम था। आर्यमंजु श्री मूलकल्प के अनुसार अजातशत्रु के राज्य में मगध, काशी, अंग तथा वैशाली के प्रदेश थे।

इन विजयों के बाद अजातशत्रु ने अपना साम्राज्य पूर्वी भारत में फैला लिया इससे उसकाल के एक अन्य शक्तिशाली राजा, अवन्ति के प्रद्योत (Pradyota) के में ईर्श्या हुई। मज्झिम निकाय (Majjhim Nikaya) के अनुसार प्रद्योर राजगह पर आक्रमण करने वाला था इस लिए अजाशत्रु नें यहां किलेबन्दी करवाई। परन्तु प्रद्योत अजातशत्रु के विरुद्ध कुछ भी करने में सफल नहीं हो पाया। इस प्रकार अजातशत्रु ने एक बड़े साम्राज्य की नींव रखी।

धर्म : बिम्बिसार के समान ही अजातशत्रु का जैन साहित्य में इसे धर्मावलम्बी मानते है जब कि बौद्ध ग्रंथ इसे बौद्ध मानते हैं। जैन धर्म के प्रति इसके झुकाव के कई उदाहरण है प्रथम जैन साहित्य इसे बौद्ध साहित्य के अनुसार पितहन्ता नहीं मानते। ऐसा भी कहा गया है कि वह अपनी रानियों के साथ अकासर महावीर को मिलने जाते थे। जैन ग्रन्थ औपपातिक सूत्र (Aupapatika Sutra) के अनुसार उसने महावीर के सम्मुख खुले रुप भी धर्म स्वीकार किया था। दूसरी ओर अपने चचेरे भाई देवदत्त के कारण प्रारम्भ में वह महात्मा बुद्ध से ईर्श्या रखता बताया गया है परन्तु बाद में वह बौद्ध हो गया ऐसा बौद्ध ग्रन्थ मानते है। महापरिनिर्वाण सुत्र के अनुसार महात्मा बुद्ध के दाह संस्कार के पश्चात् अजातशत्रु ने उनके अवशेष प्राप्त कर राजगह में एक भव्य स्तूप बनवाया। भारतहुत से प्राप्त एक लेख से भी यह पता चलता है कि वह उसकी भेंट महात्मा बुद्ध से हुई थी।

अजातशत्रु के उत्तराधिकारी

बौद्ध साहित्य के अनुसार अजातशत्रु के पश्चात बनने वाले चारों राजा पितहन्ता थे। पुराणों के अजातशत्रु के पश्चात दर्शक मगध का राजा बना जबकि बौद्ध तथा जैन साक्ष्य उदायिन (461-45 ई. पूर्व) को उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी मानते हैं। जो कि अपने पिता के समय चम्पा का गवर्नर था महावंश के अनुसार इसने अपने पिता की हत्या कर राज्य प्राप्त किया। जैन साक्ष्य उदयमद्र या उदायिन को ऐसा नहीं मानते गार्गी संहिता, परिशिष्ट पर्वन तथा वायु पुराण के अनुसार उदायिन ने नई राजधानी पाटलीपुत्र बनवाई जो गंगा तथा सोन के संगम पर थी। दूसरे राजगह की अपेक्षा यहां अवन्ती महाजनपद से यहां खतरा अपेक्षाकृत कम था। उदायिन भी अपने पिता के समान साम्राज्यवादी था। स्थविरावलिचरित के अनुसार उसने अपने पड़ौसी राज्य पर आक्रमण कर वहां के राजा का वध कर दिया तथा राजकुमार ने अवन्ती की राजधानी उज्जैनी में शरण ली बाद में उस राजकुमार ने जैन साधु का वेश धारण कर पाटली पुत्र जाकर सोते हुए उदायिन की हत्या कर दी। दूसरी ओर अवन्ती के राजा पालक ने वत्स को अपने आधीन कर मगध के लिए खतरा खड़ा कर दिया। इस समय मगध और अवन्ति में कोई निर्णायक युद्ध नहीं हुआ। पुराणों के अनुसार उदायिन ने 33 वर्ष तक राज्य किया जबकि महावंश इसका काल 16 वर्ष बताते हैं। वह संभवतः जैन मतावलम्बी थी क्योंकि उसने अपनी राजधानी में एक जैन चैत्यगह बनवाया था।

उदायिन के बाद के दो राजा अनुरुद्ध तथा मुण्ड थे। अंगुत्तर निकाय में मुण्ड को पाटलीपुत्र में रहता बताया गया है तथा जब इसकी महारानी मद्दा की मत्यु हुई तो सारा शहर शोक में डूब गया तथा उसका दाह संस्कार तब तक नहीं करने दिया गया जब तक कुक्कुटाराम नामक विहार में रहने वाले नारद नाम थेर उसे सांत्वना देने नहीं आए।

अगले राजा नागदर्शक का समीकरण पुराणों में वर्णित दर्शक से किया जाता है। संस्कृत ड्रामा स्वप्न वासवदत्ता (भास द्वार लिखित) में इसे उदायिन का समकालीन माना है।

शिशुनाग वंश (412-345 ई. पूर्व)

बौद्ध साहित्य की सूचि के अनुसार नागदर्शक के बाद शिशुनाग राजा बना। पुराणों के अनुसार शिशुनाग प्रद्योतो को नष्ट कर राजा बना उसने गिरीव्रत पर निवास प्रारम्भ कर दिया तथा अपने पुत्र को वाराणासी का प्रशासक नियुक्त किया। परन्तु बौद्ध साक्ष्यों के अनुसार शिशुनाग तो अजातशत्रु के बाद में ही राजा बना था।

महावंश के अनुसार शिशुनाग पहले अमात्य था तथा पौरो, आमात्यों और मन्त्रियों ने नागदर्शक को सिंहासन से हटा शिशुनाग को राजा बनाया। मालंकर वत्यु के अनुसार उसका सम्बन्ध वैशाली से था इस लिए इसने वैशाली को अपनी राजधानी बनाया।

अवन्ति से युद्ध : पुराणों के अनुसार शिशुनाग ने प्रद्योतो की शक्ति का अन्त किया। संभवत प्रद्योत की मत्यु के पश्चात् कोई प्रतिभाशाली राजा अवन्ति को न मिल सका तथा गहयुद्ध के कारण अवन्ति की शक्ति कम हो गई। इसी कारण अवन्ति मगध का सामना न कर सका। हेमचन्द्र राय चौकरी का मत है कि शिशुनाग ने अवन्हि के राजा अवन्तिवर्धन को हराया। इस विजय के बाद मगध उत्तरी भारत का सबसे शक्तिशाली राज्य बन गया।

कोसल पर अधिकार : अवन्ति के पश्चात कोसल की विजय भी शिशुनाग ने की। डा. भण्डारकर का यह मत है। इस तरह उसका राज्य विस्तार बंगाल से मालवा तक हो गया। शिशुनाग न 412 से 394 ई. पूर्व तक राज्य किया।

कालाशोक या काकवर्ण (394-366 ई. पूर्व)

कालाशोक शिशुनाग का पुत्र एवं उत्तराधिकारी था जो पुराणों में वर्णित काकवर्ण ही था। इसी के काल में द्वितीय बौद्ध संगति (Second Buddhist Council) का आयोजन किया गया था। कालाशोक ने वैशाली के स्थान पर पुनः पाटलीपुत्र को अपनी राजधानी बनाया। दीपवंश तथा महावंश के अनुसार कालाशोक ने 28 वर्षों तक राज्य किया। बाण के हर्षचरित (Harsacharita) से पता चलता है कि काकवर्ण शिशुनाग की हत्या गले में छुरा घोप कर हुई।

काकवर्ण के पश्चात उसके दस पुत्रों ने राज्य किया। बौद्ध साहित्य में उन्होने सम्मिलित रुप से 22 वर्ष का राज्य किया। अन्तिम राजा का वध नन्दवंश के संस्थपक ने किया।

(b) बौद्धिक क्रांति का युग (Age of Reason & Revolt)

परिचय :-

भारत में उतरवैदिक काल में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे थे। इनमें कृषि विस्तार, सामाजिक विभेदीकरण, राजतंत्र के उद्भव तथा धार्मिक विश्वासों और कृत्यों में परिवर्तन से प्रमाणित होता है। यह वह काल था जब उतरी भारत के इतिहास में आगे और भी विकास की नींव डाली गयी थी, जो ईसा पूर्व छठी शताब्दी से स्पष्ट होती है।

ई० पू० छठी शताब्दी का काल धार्मिक दष्टि से क्रान्ति अथवा महान परिवर्तन का काल माना जाता है। इस समय परम्परागत वैदिक धर्म एवं समाज में व्यापक कुरीतियों, पाखण्डों, छुआ–छात आदि के विरूद्ध आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। यह आन्दोलन कोई आकस्मिक घटना नहीं थी, वरन् चिरकाल से संचित हो रहे असंतोष की परिणति थी। वैदिक धर्म के कर्मकाण्डों तथा यज्ञी विधि–विधानों के विरूद्ध प्रतिक्रिया प्रस्तुतः उतर वैदिक काल में ही प्रारम्भ हो चुकी थी। वैदिक धर्म की व्याख्या एक नये सिरे से की गई तथा यज्ञ एवं कर्मकाण्डों की निन्दा करते हुए धर्म के नैतिक पक्ष पर बल दिया शरीर को मिथ्या बताकर आत्मा की अमरता के सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ।

राजनीतिक क्षेत्र में मगध अपने आस पड़ोस के अन्य राज्यों पर अपनी श्रेष्ठता स्थापित कर रहा था। एवं एक विशासल साम्राज्य के रुप में उभर रहा था। उसी समय धार्मिक क्षेत्रों में हो रहे परिवर्तनों का केन्द्र भी यहीं बना। इस समय भारत में ही नहीं बल्कि विश्व के अन्य देशों में भी प्राचीन मान्यताओं को चुनौती दी जा रही थी। जो काम यूनान में हैरक्लीटस पाईथागोरस, ईरान में जेरूथष्ट और चीन में कन्फयूशियस व लाओत्से (ताओ) कर रहे थे, वही काम इस समय भारत में महावीर स्वामी, महात्मा बुद्ध कर रहे थे। इस मानवतावादी विचारधारा ने भू–मध्य सागर से प्रशान्त महासागर तक मानव मस्तिष्क में खलबली मचा रखी थी। यह विचारधारा स्पष्ट रुप से तत्कालीन धर्म–दर्शन के विरूद्ध असन्तोष को प्रकट कर रही थी। यह स्पष्ट करना कठिन है कि विश्व–भर के इस समाज–सुधारकों में आपस में कोई सम्बन्ध था या नहीं। परन्तु यह स्पष्ट है कि सभी ने प्रचलित धर्मो की उन पुरानी मान्यताओं का विरोध किया जो मानव के विकास में बाधक थी।

इस बौद्धिक क्रान्ति के लिए तात्कालिन सामाजिक व आर्थिक कारण भी कम उतरदायी नहीं थे। समाज में वर्ग–व्यवस्था का विकृत स्वरूप 'जाति' के रुप में विकसित हो चुका था। ब्राह्मण विशेषधिकार युक्त तथा शुद्र अधिकार विहिन वर्ग बने हुए थे। किन्तु लोहे के प्रयोग ने कृषि में क्रान्ति ला दी, जिससे उत्पादन बढा, उद्योग धन्धें बढ़े। फलस्वरुप एक शक्तिशाली व्यापारी वर्ग का उदय होता है। दूसरी ओर क्षत्रियों की राजनीतिक शक्ति में वद्धि हुई। अब क्षत्रिय व वैश्य दोनों ने ब्राह्मणों से सामाजिक प्रतिस्पर्धा शुरू कर दी तथा ब्राह्मणों का विरोध किया। फलतः समाज में नयी विचारधारा का प्रवेश हुआ। कृषि की उपयोगिता बढ़ जाने से पशुओं का महत्व भी बढ़ गया तथा बलि प्रथा एवं अश्वमेघ यज्ञ आदि का विरोध किया गया। परिणामस्वरूप नये सुधारवादी विचारों वाले धर्म का मार्ग प्रशस्त हो गया, जिसकी सफलता ने लोगों को बड़ी शीघ्रता से आकर्षित कर लिया। ये नए सुधारवादी धर्म थे – 'जैन एवं बौद्ध धर्म'।

1. जैन धर्म :-

छठी शताब्दी ईसा पूर्व के धर्म–सुधार आन्दोलन में जैन धर्म का विशिष्ट स्थान हैं। जिसके संस्थापक महावीर स्वामी थे। जैन श्रुतियों के अनुसार, जैन धर्म की उत्पति एवं विकास के लिए 24 तीर्थाकर उत्तरदायी थे। इनमें से पहले बाईस की ऐतिहासिकता संदिग्ध है। परन्तु अन्तिम दो तीर्थाकर पार्श्वनाथ तथा महावीर की ऐतिहासिकता को बौद्ध ग्रन्थों ने प्रमाणित किया है। जैन सम्प्रदाय के अनुयायियों का विश्वास है महावीर स्वामी 24 वें तथा अन्तिम तीर्थकर थे। किन्तु कुछ जैन अनुयायी प्रथम तीर्थकर ऋष्भदेव को जैन धर्म का संस्थापक मानते हैं। जो भी हो इतना सत्य तो अवश्य है कि जैन धर्म के 24 वें तीर्थकरों में महावीर स्वामी के काल में जैन धर्म का काफी प्रचार–प्रसार हुआ। ऋष्भदेव का नाम ऋग्वेद में भी आता है। महावीर स्वामी 24 वें तथा अन्तिम तीर्थकर थे। 23 वें तीर्थकर पार्श्वनाथ थे।

पार्श्वनाथ :-

जैन श्रुतियों के अनुसार 23 वें तीर्थकर पार्श्वनाथ बनारस के राजा अश्वसेन एवं रानी वामा के पुत्र थे। उनका काल महावीर स्वामी से 250 वर्ष पहले माना जाता है। उन्होंने 30 वर्ष की आयु में सिंहासन का परित्याग कर दिया और सन्यासी हो गए। 83 दिन की घोर तपस्या के बाद इन्हें ज्ञान की प्राप्ति हुई। जैन श्रुतियों के अनुसार इन्होंने 70 वर्ष तक धर्म का प्रचार किया। पार्श्वनाथ 'पदार्थ' की अन्नतता में विश्वास करते थे। इनके अनुयायियों को निर्ग्रथ कहा जाता था। पार्श्वनाथ के समय मे निर्ग्रथ संप्रदाय सुसंगठित था। निर्ग्रथों के चार गणों (संघों) में से प्रत्येक गण एक गणधर के अंतर्गत था। पार्श्वनाथ भी वैदिक धर्म के कर्मकाण्ड तथा देववाद के कुअ आलोचक थे। इन्होंने जाति प्रथा पर भी प्रहार किया। प्रत्येक व्यक्ति को ये मोक्ष का अधिकारी मानते थे चाहे वह किसी जाति का हो। नारियों को भी इन्होंने अपने धर्म में प्रवेश दिया था। उनकी मूल शिक्षा थी प्राणियों की हिंसा न करना, सदा सत्य बोलना, चोरी न करना तथा संपति न रखना। महावीर स्वामी के माता–पिता पार्श्वनाथ के अनुयायी थे।

महावीर स्वामी :-

महावीर स्वामी का मूल नाम वर्धमान था। इनका जन्म वैशाली के पास कुड़ीग्राम में जातक नामक किुल के राजा सिद्धार्थ के घर 540 ई० पू० हुआ। इनकी माता त्रीशला लिच्छवी राजा गणराज्य के मुखिया चेटक की पुत्री थी। महावीर का बचपन एक राजकुमार का रहा तथा हर प्रकार की सुविधाओं से पूर्ण था। इनकी पत्नी का नाम यशोदा तथा पुत्री का नाम प्रियदर्शनी था। 30 वर्ष की आयु तक इनके माता–पिता की मत्यु हो चुकी थी एवं महावीर स्वामी गहस्थ जीवन से ऊब चुके थे। फलतः इन्होंने परिवार के सभी सदस्यों के समक्ष घर त्यागने का प्रस्ताव रखा जो अन्नतः स्वीकार कर लिया गया तथा इन्होंने अपने बड़े भाई नन्दीवर्धन से आज्ञा लेकर घर त्याग दिया। पहले उन्होंने एक वस्त्र धारण किया और फिर उसका भी तेरह मास के उपरान्त परित्याग कर दिया तथा बाद में 'नग्न भिक्षु' की भान्ति भ्रमण करने लगे। घोर तपस्या करते हुए 12 वर्ष तक एक सन्यासी का जीवन व्यतीत किया। लोगों ने अन पर पत्थर फैंके तथा कुत्ते छोड़े, लेकिन महावीर स्वामी अपने तप मार्ग पर अटल रहे। अपनी तपस्या के 13 वें वर्ष में, 42 वर्ष की आयु में आधुनिक बिहार में ऋजुपालिका (केवालिन) नदी के तट पर जम्भिभय ग्राम (जम्भिका ग्राम) में उन्हें ज्ञान केवलिन की प्राप्ति हुई। बाद में उनकी प्रसिद्धि ''महावीर (सर्वोच्च यौद्धा)'' या ''जिन'' (विजयी) के नामों से हुई। उनको ''निग्रंथ'' (बन्धनों से मुक्त) के नाम से भी जाना जाता था।

अगले 30 वर्षों तक वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करते रहे और कोसल, मगध तथा अन्य पूर्वी क्षेत्रों में अपने विचारों का प्रचार किया। वह एक वर्ष में आठ माह विचरन करते थे औश्र वर्षा ऋतु के चार माह पूर्वी भारत के किसी प्रसिद्ध नगर में व्यतीत करते। इनकी पत्नी यशोदा, पुत्री प्रियदर्शनी, दामाद जमाली के अतिरिक्त इनके शिष्यों में वैशाली का शासक चेटक, अवन्ति का शासक प्रद्योत, मगध नरेश बिम्बिसार, कौशाबी व वैशाली के मतल शासक अपने परिवारों सहित थे। इस धर्म प्रचार के चलते हुए 72 वर्ष की अवस्था में पावापुरी (नालन्दा जिला) में 486 ई० पू० में इन्हें निर्वाण की प्राप्ति हुई।

जैनधर्म के सिद्धान्त (Principle of Janisim)

जैनधर्म में संसार दुखःमूलक माना गया है। मनुष्य जरा (वद्धावस्था) तथा मत्यु से ग्रस्त है। व्यक्ति को सांसारिक जीवन की तष्णाएं घेरे रहती हैं। संपति संचय के साथ ही मनुष्य की कामना रुपी पिपासा बढ़ती जाती है। जिसका कोई अन्त नहीं है। काम–भोग विष के समान है। जो अततः दुःख को ही उत्पन्न करते हैं। संसार–त्याग तथा सन्यास ही व्यक्ति को सच्चे सुख की ओर ले जा सकता है। जैन धर्म के अनुसार सष्टिकर्ता ईश्वर नहीं हैं। किन्तु संसार को एक वास्तविक तथ्य माना गया हे जो अनादि काल से विद्यमान है। जैन धर्म में भी सांसारिक तष्णा–बंधन से मुक्ति का 'निर्वान' कहा गया गया है। महावीर स्वामी द्वारा जो बातें कही गई हैं वे किसी गूढ़ दर्शन को इंगित नहीं करती बल्कि आम व्यक्ति उस चिन्तन को बड़ी सरलता से समझझ सकता था। इनमें एक अन्य बात यह भी है कि उनका यह सारा चिन्तन–दर्शन उनका मौलिक नहीं है। बल्कि अच्छे विचारों का संयोजन है जो उस समय की समाज में व्याप्त थे। महावीर के उपदेश समाज में फैली उन बुराईयों का विरोध कर रहे थे जिनके कारण समाज का विकास अवरूद्ध हो रहा था। इनका वर्णन इस प्रकार है–

(1) त्रिरत्न :

महावीर स्वामी ने मानव जीवन में अठारह पायों का वर्णन किय है – (i) झूठ (ii) चोरी (iii) मैथून (iv) क्रोध (v) हिंसा (vi) द्वतव मूर्छा (vii) लोभ (viii) माया (ix) मान (x) मोह (xi) कलह (xii) द्वेष (xiii) दोषारोपण (xiv) चुगली (xv) निंदा (xvi) असंयम (xvii) माथा मशा (xviii) मिथ्या–दर्शन

रूपी शतय

निवार्ण की प्राप्ति के लिए इनसे बचना अनिवार्य है। इनसे बचने के लिए निम्नलिखित तीन आदर्श वाक्यों को जीवन मेंं अपनाना अनिवार्य है। 1. यही आदर्श वाक्य त्रिरत्न के नाम से जाने जाते हैं।

(i) सत्य विश्वास– मनुष्य का अपने ऊपर तथा जैन मत के सभी तीर्थकरों पर विश्वास होना चाहिए।

(ii) सत्यज्ञान– मनुष्य का ज्ञान मिथ्या पर आधरित न होकर सत्य की खोज की ओर होना चाहिए।

(iii) सत्य कर्म– मनुष्य का कर्म महाव्रतों पर आधारित होना चाहिए, उसे ऐसा कुछ नहीं करना चाहिए जो वह अपने लिए नहीं चाहता।

(2) पांच महाव्रत या अणुवत :

महावीर स्वामी ने गहस्थ के जीवन का पवित्र एवं सुखमय बनाने के लिए पांच महाव्रत बताए :

(i) **अहिंसा :-**

यह जैन धर्म का सबसे महत्वपूर्ण सिद्धान्त है, जिसका संबंध मन, वचन व कर्म तीनों से है। जैन धर्म के अनुसार सभी जीवन समान हैं। किसी जीव को मारने या हानि पहुंचाने का विचार मन में उत्पन्न होना भी हिंसा है।

किसी को छेड़ना, चिढ़ाना, कठोर शब्द बोलना, मारना या पीड़ा देना भी हिंसा का ही रुप हैं। पैदल चलने या भोजन करने से भी किसी जीव की हत्या नहीं होनी चाहिए।

(ii) अमषा (सत्य वचन) :-

मनुष्य के वचन सदा सत्य एवं मधुर होने चाहिए। सत्य बोलने से आत्मा शुद्ध होती है। क्रोध व मोह की स्थिति में मनुष्य को मौन रहना चाहिए।

(iii) अस्तेय (चोरी न करना) :-

चोरी करना पाप है तथा असत्य भी, बिना किसी की अनुमति के किसी की वस्तुओं का संग्रह अनुचित है। यह संग्रह मोह–माया को बढाता है। यह दूसरे अर्थो में हिंसा भी है।

(iv) अपरिग्रह (संग्रह न करना) :-

जैन धर्म भौतिक वस्तुओं का त्याग व सम्पति का संग्रह न करने पर बल देता है।

(v) ब्रह्मचार्य :-

मनुष्य को भोग वासना से दूर रहकर संयमपूर्ण जीवन व्यतीत करना चाहिए।

(3) कठोर तपस्या :

महावीर स्वामी ने तपस्या के मार्ग को महत्वपूर्ण बताया है। उनके अनुसार तपस्या से शरीर को जितना कष्ट होगा, लक्ष्य को प्राप्त करना अतना ही आसान होगा। उनके अनुसार कष्ट व समस्याएं मनुष्य को परिपक्व बनाती हैं। व्यक्ति जितने अधिक कष्ट उठाएगा, उनका जीवन उतना ही अधिक सन्तुलित होगा।

(4) तीर्थकरों में विश्वास :

जैन अनुयायी 24 वें तीर्थकरों में अटूट विश्वास रखते थे। वे इन्हें सर्वशक्तिमान तथा सर्वज्ञ मानते थे। तीर्थकरों में महावीर स्वामी को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था।

(5) आत्मा, मोक्ष व कर्म सिद्धान्त :

ब्रह्ममण धर्म (वैदिक धर्म) की भांति महावीर स्वामी भी आत्मा के अस्तित्व में विश्वास रखते थे। यह छोटी अथवा बड़ी नहीं होती तथा इसका अस्तित्व शरीर के साथ समाप्त नहीं हो जाता। उनके चिन्तन में कर्म सिद्धान्त को भी महत्व दिया गया है। जिसके अनुसार कर्म की मनुष्य के भविष्य को निर्धारित करते हैं तथा वर्तमान के आधार पर ही अगले जन्म का निर्धारण होता है।

(6) ईश्वर के बारे में :

महावीर स्वामी ने अपने चिन्तन में ईश्वर के अस्तित्व को नकारा है, वे कहते हैं कि संसार में ऐसा कोई नियन्त्रक नहीं है जो इस पूरी व्यवस्था की देखभाल करता हो। इसलिए ईश्वर व अन्य किसी दैवी–देवताओं की उपासना का कोई औचित्य नहीं है। बल्कि मनुष्य के कर्म व आत्मा की पूर्ण शक्ति रखती हैं।

(7) ब्राह्मणों की सर्वोच्चता का विरोध :

महावीर स्वामी ने समाज के सभी वर्गो को समान बताया है। उनके अनुसार ब्राह्मण भी समाज के अन्य लोगों की तरह सामान्य व्यक्ति थे। वे देव पुरूष नहीं हैं। उन्होंने ब्राह्मणों की नीति का विरोध किया।

(8) वेदों व संस्कृत के बारे में :

जैन धर्म ने इस बात को पूरी तरह से मिथ्या बताया है कि वेद मानव कृत नहीं हैं। उन्होंने वेदों की पवित्रता का भी विरोध किया।

महावीर स्वामी ने इन्हें सामान्य पुस्तकों के समान बताते हुए स्पष्ट किया है कि धर्म विशेष क लोगों ने अपने स्वार्थ की पूर्ति हेतु इनकी छवि बना दी। उन्होंने संस्कृत को भी पवित्र भाषा स्वीकार नहीं किया। उनके अनुसार यह मुठ्ठी भर लोगों की भाषा है। जो उस समय तक सम्मान नहीं पा सकती जब तक सर्व–साधारण इसको अच्छी तरह समझ न लें।

(9) यज्ञ, बलि व अन्धविश्वासों का विरोध :

जैन धर्म में इन सभी को महत्वहीन बताया गया है। समाज में प्रचलित इस प्रकार की सभी मान्यताओं का विरोध करते हुए उसने लोगों को सरल जीवन जीने के लिए कहा, क्योंकि खर्चीले यज्ञ, बलि व कर्मकाण्ड मनुष्य की आर्थिक स्थिति को न केवल खराब करते हैं, बल्कि समाज में कुछ लोगों के व्यवसाय का साधन भी बनते हैं।

(10) ज्ञान सिद्धान्त :

जैन धर्म में पांच प्रकार के ज्ञान पर बल दिया गया था। ये ज्ञान सिद्धान्त थे – मतिज्ञान, श्रुतिज्ञान, अवधिज्ञा, मन पर्याय एवं कैवलय ज्ञान। ज्ञान के प्रति जैन धर्म का दष्टिकोण स्यादवाद का है। स्यादवाद को अनेकान्तवाद भी कहा जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान को ऐकागिक दष्टि से न अपनाकर उसके सभी विविध पक्षों को देखना चाहिए।

जैन धर्म का विस्तार (The Growth of Jainism)

महावीर स्वामी ने अपने संघों को ग्यारह गणों में बांटा तथा पावा में चर्तुविध संघ की स्थापना की। महावीर के ग्यारह शिष्य थे जिनको गन्धर्व था सम्प्रदायों का प्रमुख कहा जाता था। आर्य सुघर्मा अकेला ऐसा गन्धर्व था जो महावीर की मत्यु के पश्चात भी जीवित रहा औश्र जो जैन धर्म का प्रथम 'थेरा' या मुख्य उपदेशक हुआ। राजा नंद के काल में जैन धर्म के संचालन का कार्य दो 'थेरों' (आचार्यों) द्वारा किया जाता था :–

(i) सम्भूताविजय और (ii) भद्रबाहू (i) छठे थेरा (आचार्य) भद्रबाहू मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के समकालिन थे।

धीरे–धीरे महावीर के समर्थक सारे देश में फैल गए। जैन धर्म को शाही संरक्षण की कृपा भी रही। जैन अनुश्रुतियों के अनुसार, अजातशत्रु का उत्तराधिकारी उदयन, जैन धर्म का अनुयायी था। सिकन्दर के भारत पर आक्रमण के समय जैन भिक्षुकों को सिन्धु नदी के किनारे भी पाया गया था। पहली सदी ई० में मथुरा एवं उज्जैन जैन धर्म के प्रधान केन्द्र बन गए।

बौद्ध धर्म की तुलना में जैन धर्म की सफलता शानदार थी। इसकी सफलता का एक मुख्य कारण था कि महावीर एवं उसके अनुयायियों ने संस्कृत के स्थान पर लोकप्रिय भाषा (प्राकृत, धार्तिक साहित्य को अर्ध–मगधी में लिखा गया) का प्रयोग किया। जनता के लिए सरल एवं घरेलू निर्देशों ने लोगों को आकर्षित किया।

जैन सभायें

चन्द्र गुप्त मौर्य के शासन की समाप्ति के समीप दक्षिण बिहार में भंयकर अकाल पड़ा। यह बारह वर्षों तक चला। भद्रबाहू और उनके शिष्यों ने कर्नाटक राज्य में श्रावण बेल गोला की और विस्थापन किया। अन्य जैन मुनि स्थूलबाहुभद्र के नेतत्व में मगध में ही रह गए। उन्होंने पाटलीपुत्र में 300 ई० पू० के आस–पास सभा का आयोजन किया। इस सभा में महावीर स्वामी की पवित्र शिक्षाओं को 12 अंगों में विभाजित किया गया।

दूसरी जैन सभा का आयोजन 512 ई० में गुजराज में वल्लभी नामक स्थान पर देवर्धिमणी क्षमा श्रमण की अध्यक्षता में किया गया। इसका मुख्य उद्देश्य धार्मिक शास्त्रों को एकत्र एवं उनकों पुनः क्रम से संकलित करना था। किन्तु प्रथम सभा के संकलित बारहवां अंग इस समय खो गया था। शेष बचे हुए अंगों की अर्धमगधी में लिखा गया।

सम्प्रदाय

जैन धर्म में फूट पड़ने का समय लगभग 300 ई० पू० माना जाता है। महावीर के समय में ही एक वस्त्र धारण करने को लेकर मतभेद स्पष्ट होने लगे थे। श्रावण बेल गोल से मगध वापस लौटने के बाद भद्रबाहु के अनुयायियों ने इस निर्णय को मानने से इन्कार कर दिया कि 14 पर्व खो गए थे। मगध में ठहरने वालों तथा प्रस्थान करने वालों में मतभेद बढ़ते ही गए। मगध में ठहरने वाले सफेद वस्त्रों को धारण कने के अभ्यस्त हो चुके थे और महावीर की शिक्षाओं से दूर होने लगे जबकि पहले वाले नग्न अवस्था में रहते और कठोरता से महावीर की शिक्षाओं को अनुसरण करते। जैन धर्म का प्रथम विभाजन दिगम्बर (नग्न रहने वालों) और श्वेताम्बर(सफेद वस्त्र धारण करने वालों) के बीच हुआ। अगली शताब्दियों में पुनः दोनों सम्प्रदायों में कई विभाजन हुए। इनमें महत्वपूर्ण वह सम्प्रदाय था जिसने मूर्ति–पूजा को त्याग दिया तथा ग्रंथों की पूजा करने लगे। वे श्वेताम्बर सम्प्रदाय में ''तेरापन्थी'' कहलाये और दिगम्बर सम्प्रदाय में समवास कहलाये। यह सम्प्रदाय छठी ईसवीं में अस्तित्व में आया।

जैन धर्म सीमित क्यों रहा? (Why Jainism was Restricted?)

जैन धर्म में तत्कालीन समाज को प्रभावित करने की अच्छी बातें थी जिसके कारण इसका विकास हुआ। इसके साथ–साथ कुछ मौलिक दोष भी थे जो इसके अधिक विकास में बाधक रहें, समय के साथ–साथ इसमें कुछ दोष भी आ गए। जिसके कारण यह पतन की ओर अग्रसर हो गया तथा समाज के सीमित से हिस्से में अपनी जगह बना पाया। जबकि इसका समकालीन धर्म बौद्ध धर्म विश्व के अधिकतर हिस्सों में अपनी जगह बना पाया। इस बारे में समझने के लिए कि यह धर्म सीमित क्यों रहा कुछ कारणों को जानना अनिवार्य है।

जैनधर्म का सबसे प्रमुख सिद्धान्त अहिंसा का सिद्धान्त है जो कि अति कठोर है। यदि इसका पूरी तरह से पालन किया जाता तो मनुष्य द्वारा आजीविका कमाना भी कठिन था। अतः यह सिद्धान्द सभी के लिए व्यावहारिक नहीं था। कठोर तपस्या का सिद्धान्त भी अहिंसा के सिद्धान्त की भान्ति जटिल है। शरीर को अधिकाधिक कष्ट देकर अनुभव प्राप्त करना सामान्य जीवन जीने वाले लोगों के लिए काफी कठिन था। जैन धर्म की कार्य–प्रणाली व चिन्तन आरम्भ में ठीक था, लेकिन बाद में यह अपने को ब्रह्मण धर्म से अलग नहीं कर पाया तो लोगों ने अपने पुराने धर्म की ओर लौटना उचित समझा।

जैन धर्म के सिद्धान्त में जन–सामान्य को कहीं–कहीं विरोधभ्यास भी नजर आया। जिसको समझना उनके लिए आसान न था। जैन धर्म कर्म व आत्मा में विश्वास करता है, परन्तु परमात्मा के अस्तित्व को नकारता है। भले ही जैन मत कर्म व आत्मा की व्याख्या अलग ढंग से की गई हो, परन्तु आम व्यक्ति हो इसमें साफ तौर पर विरोधभ्यास दिखाई देता है। प्रारम्भ में जैन धर्म को राजकीय संरक्षण प्राप्त था जो समय के साथ–साथ कम होता गया और इस धर्म के प्रचार में भी गिरावट आ गई। जैन धर्म का सीमित रहने का एक अति महत्वपूर्ण कारण इसका विभाजन रहा जैन धर्म अपने अन्दा एकता नहीं रख सका। यह दिगम्बर व श्वेताम्बर दो भागों में विभाजित हो गया। इन दोनों मतों ने एक–दूसरे को हीन दिखाने का प्रयास किया जिससे लोगों को इनकी कमजोरियों का भी पता चला। इनकी जीवन–शैली से लोग इस बारे में सोचने लगे, क्योंकि दिगम्बर पुरातन पंथी थे व नग्न रहते थे, जबकि श्वेताम्बर समय के साथ बदलना चाहते थे एवं सफेद वस्त्र धारण करते थे। इस तरह से जैन धर्म समय के बहाव में अपने को उतना बेहतर न रख पाया जैसा कि प्रारम्भ में था।

पार्श्वनाथ तथा महावीर की शिक्षाओं में अंतर :

पार्श्वनाथ ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय तथा 'बहिद्धादाणओं वेरमण' के चतुर्याभ धर्म की व्यवस्था की थी। महावीर ने इसमें पंचम व्रत ब्रहमचार्य की वद्धि की। साथ ही पार्श्वनाथ वस्त्र धारण के विरूद्ध नहीं थे। किन्तु महावीर स्वामी ने सांसारिकता से पूर्णरूपेण अनासक्ति के लिए नग्नता को आवश्यक माना। नग्नता से काया–कलेश तथा अपरिग्रह को प्रात्साहन मिलता है। साथ ही लज्जा आदि अनेक सांसारिक मान्यताओं के भ्रम से भिक्षु मुक्त हो जाता है। आगे चलकर वस्त्र धारण करने तथा निर्वस्त्रता के आधार पर जैन धर्म श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दो सम्प्रदायों में विभक्त हो गया।

2. बौद्ध धर्म (Buddhism)

गौतम बुद्ध और बौद्ध धर्म की उत्पत्ति :-

कौशल देश के उतर में कपिलवस्तु शाक्य क्षत्रियों का एक छोटा–सा गणराज्य था। यहां शुद्धादन नामक एक राजा राज्य करते थे। 563 ई० पू० इन्हीं शुद्धोदन की कोलियवंशीय पत्नी महामाया अथवा मायादेवी के गर्भ से गौतम का जन्म हुआ था। यह जन्म नेपाल की तराई में स्थित लुम्बिनी वन में हुआ था जो कपिलवस्तु से लगभग 14 मील की दूरी पर है। कालान्तर में यहीं पर सम्प्रट अशोक ने एक स्तम्भ स्थापित करवाया था जिस पर आज भी 'हिंद बुझे जाते साक्यगुनिति हिद भगवा जातेति' (यहां शाक्य मुनि बुद्ध उत्पन्न हुए थे यहां भगवान उत्पन्न हुए थे) पढा जा सकता है। जन्म के सातवें दिन इनकी माता का निधन हो गया एवं पालन पोषण सौतेली मां गौतमी ने किया। इसी कारण यं गौतम कहलाए। बालक गौतम को देखकर कालदेव तथा ब्राह्मण कौण्डिन्य ने भविष्यवाणी की थी कि यह बालक चक्रवर्ती राजा अथवा सन्यायी होगा। बालक का नाम सिद्धार्थ रखा गया और बड़े होन पर एक क्षत्रिय राजकुमार को दी जाने वाली शिक्षाएं–पुस्तकीय ज्ञान, युद्ध प्रणाली, घुड़सवारी, मतलयुद्ध, अस्त्र–शस्त्र प्रयोग आदि–उन्हे प्रदान की गई। किन्तु सिद्धार्थ अल्प आयु से ही चिंतनशील थे। वे जम्बू वक्ष के नीचे प्रायः ध्यानमग्न बैठे रहते थे। गौतम के प्रकृत्या चिन्तनशील होने के कारण उनका इन सब सांसारिक विषयों में अनुरक्त न होता था। गौतम का प्रारम्भिक जीवन बड़ी सुख–समद्धि के बीच बीता। उनके रहने के लिए तीन ऋतुओं के अनरूम पथक्–पथक् तीन प्रासाद बनवाये गए थे जिनमें ऐश्वर्य की की समस्त सामग्री एकत्र की गई थी। इस प्रकार राजकुमार के घूमने फिरने के किए अनेक रम्य उपवनों का निर्माण हुआ था। जिनमें अति मनोहरी कुंज और निर्झरादिक थे। नत्य, वाद्य, संगीत के सरस वातारण में सिद्धार्थ संसारिक दुःख की कल्पना न कर सकेंगें, ऐसे पिता शुद्धोधन का विचार था। इसी विचार से 16 वर्ष की आयु में सिद्धार्थ का विवाह यशोधरा (इनके अन्य नाम गोपा, बिंना तथा भद्रकच्छा भी उल्लिखित

हैं) से कर दिया। इनसे एक पुत्र उत्पन्न हुआ। किन्तु सिद्धार्थ प्रसन्न न हुए वरन् उसे मोह–बंधन मानकर 'राहू' कहा और उसका नाम राहूल रख दिया।

त्रिपिटक में अनेक ऐसे दश्यों और घटनाओं का उल्लेख है जिनसे गौतम के वैराग्य प्रधान स्वभाव का उद्धीपन मिला। कहते हैं कि नगर–दर्शन के हेतु भिन्न–भिन्न अवसरों पर बाहर जाते हुए गौतम को मार्ग में पहले जर्जर शरीर वद्ध, फिर व्यथापूर्ण रोगी, फिर मतक और सबसे बाद को वीतराग प्रसन्नचित सन्यासी के दर्शन हुए। राजप्रसाद के वैभवशाली–विलासमय जीवन से विषमता वाले ये दश्यत्रमय निश्चय ही गौतम को सन्यास की ओर मोड़ने वाले थे।

संसार से गौतम का मन उचटता देख कर शुद्धोधन का चिन्ता हुई और उन्होंने एक बार फिर गौतम को विलासिता की ओर उन्मुख करने का प्रयास किया। एक रात वे अति सुन्दर वेश्याओं के मध्य अकेले छोड़ दिये गए। उन रमणियों ने अनेक हाव–भावों से गौतम को रिझाने का प्रयत्न किया। उन्मन गौतम के ऊपर उनका कोई प्रभाव न पड़ा और वे वहीं सो गए। गणिकाएं भी निद्रामग्न हो गई। राजकुमार गौतम की नींद सहसा टूटी तो साफ–श्रंगार विहीन गणिकाएं निद्रावस्था में उन्हें बड़ी विद्रूय तथा भयानक दिखाई दी। किसी के बाल बिखरे थे, लगभग निर्वस्त्र थी और उनमें से कुछ भयावह खर्राटे भर रही थी। गौतम में संसार त्याग की भावना अब दढ़ हो चुकी थी। अन्त में उन्होंने सांसारिक दुःखों से निवति का मार्ग खोजने के लिए अपनी पत्नी तथा शिशु को सोते हुए ही छोड़ कर 29 वर्ष की अवस्था में गहत्याग कर दिया इस घटना को बौद्ध साहित्य में महाभिनिष्कमण कहा जाता है।

सांसारिक दुख उन्मूलन के लिए ज्ञान की खोज की अभिलाषा में सिद्धार्थ अनेक आचार्यों के आश्रम में गए। इनमें एक थे आभार कालाम तथा दूसरे रूद्रक रामपुत्र। यहां सिद्धार्थ ने अनेक प्रकार के कठिन योगाभयास सीखें किन्तु संतोष नहीं हुआ। गौतम उरूवेला पहुँचे। उन्हें वहां कौण्डिन्य आदि 5 ब्राह्मण मिले। तथा उन्होंने घोर तपस्या प्रारंभ की, अन्न–जल ग्रहण न्यूनतम कर दिया। वे सुख कर नर–कंकाल के समान हो गए किन्तु ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई। अतः उन्होंने इस कठिन तपस्या को त्याग दिया और सुजाता नामक कन्या के हाथों भोजन ग्रहण किया।

इस कारण इन 5 ब्राह्मणों ने इनका साथ छोड़ दिया। उखेला के बाद वे गया चले गए और उस स्थान पर एक वट वक्ष (पीपल) के नीचे ध्यान लगाया। आठ दिन की समाधि के उपरान्त 35 वर्ष की आयु में वैसाखी मास की पूर्णिमा की रात्री को उन्हें सच्चे ज्ञान की प्राप्ति हुई। इससे वे बौद्ध (ज्ञानी) अर्थात बुद्ध कहलाए तथा गया 'बौद्ध गया' के रुप में विख्यात हो गया।

ज्ञान–प्राप्ति के बाद उन्होंने पहला उपदेश ऋषिपतन (सारनाथ) में पांच शिष्यों को दिया जो 'धर्म–चक्र परिवर्तन' के नाम से जाना जाता है। यहीं पर प्रथम बुद्ध संघ की स्थापना हुई। सारनाथ के बाद वे मगध गए जहां के शासक बिम्बिसार ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। अजातशत्रु, कौशल नरेश प्रसेनचित, धनी व्यापारी अनाथपिड़क इत्यादि के अतिरिक्त बुद्ध के पिता, मौसी, पत्नी व पुत्र ने भी इस धर्म को स्वीकार कर लिया। 40 वर्ष तक विभिन्न क्षेत्रों में प्रचार करते हुए, कुशीनगर में 80 वर्ष की अवस्था में उन्हें निर्वाण प्राप्त हुआ।

बौद्ध धर्म की शिक्षाएं तथा सिंद्धात (Teaching & Principles of Buddhism)

बुद्ध के महापरिनिर्वाण के तुरंत बाद ही बौद्ध धर्म की पहली संगीति हुई। इसका उद्देश्य बुद्ध वचनों को सुरक्षित करना था। बौद्ध धर्म के बारे में हमें विशाद ज्ञान पालि त्रिपिटक से ही प्राप्त होता है। मूल बौद्ध धर्म कोई पथक् दर्शन नहीं है क्योंकि महात्मा बुद्ध ने सतासंबधी किसी प्रश्न पर कभी अपना विचार प्रकट नहीं किया। वे इस प्रकार के प्रश्नों पर होते वाद–विवादों को अनावश्यक समझते थे। अपने समय के तार्किकों के वाद–विवाद के पचड़े को देख कर महात्मा बुद्ध ने स्वयं अपने अनुयायियों से कहा था कि भिक्षुकों! इसे कहते हैं मतों में जा पड़ना, मतों की गहनता, मतों का कान्तार, मतों का दिखवा तथा मतों का बन्धन। इन मतों के बंधन में बंधा हुआ आदमी जिसने सदधर्म को नहीं सुना वह जनम, बुढ़ापे तथा मत्यु से मुक्त नहीं होता। शोक से रोने–पीटने से, पीड़ित होने से चिन्तित, होने से भी वह मुक्त नहीं होता। मैं कहता हूँ कि वह दुःख से पार नहीं होता। अतः आज जो कुछ भी बौद्ध दर्शन के नाम से प्रख्यात हैं। वह बुद्ध की मत्यु के पश्चात् विकास है। वह विशुद्ध मौलिक बौद्ध धर्म के अन्तर्गत नहीं आता।

बौद्ध धर्म का मूलाधार 'चार आर्य सत्य' है। इस धर्म के सारे सिंद्धात तथा बाद में विकसित विभिन्न दार्शनिक मत–वादों के ये ही आधार हैं।

(i) जीवन में दुःख सत्य है। एवं क्षणिक सुखों को सुख मानना भी अदूरदर्शिता है।

(ii) दुख समुदाय–दुःख का कारण तष्णा है, इन्द्रियों को जो वस्तुएं प्रिय लगती हैं, उनको प्राप्त करने की इच्छा तष्णा है।

(iii) दुःख निरोध–दुःखों से मुक्त होने के लिए उसके कारण के निवारण आवश्यक है। अर्थात् तष्णा पर विषय पाकर दुःखों से मुक्ति पाई जा सकती है।

(iv) दुःख निराध–प्रतिपदा (दुःख निवारक मार्ग) अर्थात् अष्टांगिक मार्ग। दुःखों के निवारण एवं तष्णा पर नियंत्रण पाने तथा निवार्ण प्राप्त करने का मार्ग अष्ट मार्ग (मध्य मार्ग) है।

बुद्ध के अनसार जन्म भी दुःख है, जरा (वद्धावस्था) भी दुःख है, व्याधि भी दुःख है, अप्रिय मिलन भी दुःख है, प्रिय वियोग भी दुःख है। संसार को दुःखमय देखकर ही बुद्ध ने कहा था 'सब्बं दुःख' अर्थात् सभी वस्तुएं दुःखमय है।

अष्टांगिक मार्ग में निम्नलिखित सिद्धान्त समहित हैं।

(i) साम्यक् दष्टि : इसका अर्थ है इच्छा के कारण ही इस संसार में दुःख व्यापक है। इच्छा का परित्याग ही मुक्ति का मार्ग है।

(ii) सम्यक् संकल्प : यह लिप्सा और विलासिता से छुटकारा दिलाता है। इसका उद्देश्य मानवता को प्यार करना और दूसरों को प्रसन्न रखता है।

(iii) सम्यक् वाचन : मनुष्य को झूठ, निन्दा व अप्रिय वचन नहीं बोलने चाहिए तथा वाणी मदु होनी चाहिए।

(iv) सम्यक् कर्म : मनुष्य को हिंसा के कर्म पूर्ण रुप से संयमशील होने चाहिए जिसमें अहिंसा व इन्द्रियां संयम के अतिरिक्त, कर्म, दान, सदाचार, दया इत्यादि का समावेश होना चाहिए।

(v) सम्यक् जीविका : अर्थात् आदमी को ईमानदारी से अर्जित साधनों द्वारा जीवन–यापन करना चाहिए।

(vi) सम्यक् प्रयास : इससे तात्पर्य है कि किसी की भी बुरे विचारों से छुटकारा पाने के लिए इन्द्रियों पर नियंत्रण होना चाहिए। कोई भी मानसिक अभ्यास के द्वारा अपनी इच्छाओं एवं मोह को नष्ट कर सकता है।

(vii) सम्यक् स्मति : इसका अर्थ है कि शरीर नश्वर है और सत्य का ध्यान करने से ही सांसारिक बुराईयों से छुटकारा पाया जा सकता है।

(viii) सम्यक् समाधि : इसका अनुसरण करने से शान्ति प्राप्त होगी। ध्यान से ही वास्तविक सत्य प्राप्त किया जा सकता है।

बौद्ध मत ने कर्म के सिद्धांत पर बल दिया। वर्तमान का निर्णय भूतकाल के कार्य करते हैं। किसी व्यक्ति की इस जीवन और अगले जीवन की दशा उसके कर्मों पर निर्भर करती है। प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्ति अपने भाग्य का निर्माता है अपने कर्मों को भोगने के लिए हम बार–बार जन्म लेते हैं। अगर कोई व्यक्ति किसी भी तरह का पाप नहीं करता है तो उसका पुनर्जन्म नहीं होगा। इस प्रकार बुद्ध के उपदेशों का अनिवार्य तत्व या सार 'कर्म दर्शन' है। बुद्ध के निर्वाण का प्रचार किया। उनके अनुसार यदि प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का अन्तिक उद्देश्य है। इसका तात्पर्य है सभी इच्छाओं से छुटकारा, दुःखों का अन्त जिससे अन्ततः पुनर्जन्म से मुक्ति मिलती है। इच्छाओं की समाप्ति की प्रक्रिया के द्वारा कोई भी 'निर्वान' पा सकता है। इसलिए, बुद्ध ने उपदेश दिया कि इच्छा समाप्त करना ही वास्तविक समस्या है। पूजा और बलि इच्छा को समाप्त नहीं कर सकेंगें। इस प्रकार, वैदिक धर्म में होने वाले अनुष्ठानों एवं यज्ञों के विपरित बुद्ध ने व्यक्तिगत नैतिकता पर बल दिया।

बुद्ध ने न ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकारा और न ही नकारा। वह व्यक्ति और उसके कार्यों के विषय में अधिक चिन्तित थे। बौद्ध मत ने आत्मा के अस्तित्व को भी स्वीकार नहीं किया। बौद्ध धर्म मूलतः अनीश्वरवादी है। सष्टि का कारण ईश्वर को नहीं माना गया है। तर्क यह है कि यदि ईश्वर को संसार का रचियता माना जाए तो उसे दुःख को उत्पन्न करने वाला भी मानना पड़ेगा। वास्तव में बुद्ध ने ईश्वर के स्थान पर मानव प्रतिष्ठा पर बल दिया। महात्मा बुद्ध के अनुसार मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता सवयं है तथा उसे कर्मों का फल मिलता है। इसी आधार पर उसके भविष्य के जन्मों का निर्धारण भी होता है। उनके चिन्तन में आत्मा के अस्तित्व को नकारा गया है। वे स्पष्ट करते हैं कि जन्म आत्मा का नहीं बल्कि अनित्य मानव अंहकार का होता है, जिसका आधार मनुष्य के कर्म होते हैं।

महात्मा बुद्ध ने अपने चिन्तन में नैतिकता, मातभाव व आत्मशुद्धि को संयुक्त रुप से रखा है एवं स्पष्ट किया है कि नैतिकता इसांन व पशु में अन्तर करती है जिससे मातभाव बढ़ता है जो कि मानव समाज की एक आवश्यकता भी है। यह तभी संभव है जबकि व्यक्ति आत्मशुद्धि पर बल दे। महात्मा बुद्ध ने नैतिकता पर बल देते हुए आचरण के बारे में दस बाते अपनाने का सुझाव दिया जिसे दस शील कहा जाता है। अहिंसा, झूठ का परित्याग, चोरी न करना, वस्तुओं का संग्रह न करना, भोग विलासी न बनना, सुगन्धित पदार्थों का परित्याग, सबकी भलाई करना, किसी से घणा न करना, मन को शुद्ध रखना, नशे का सेवन न करना। उनके इस उपदेश का सार बहुजन हितात व बहुजन सुखाय पर आधारित है महात्मा बुद्ध ने समाज में प्रचलित सभी प्रकार के मिथ्या–आडम्बरों का विरोध किया। उनके अनुसार यज्ञ–बलि, तपस्या, मूर्ति–पूजा इत्यादि का खण्डन किया इसके अलावा उतरवैदिक काल में समाज को जिन चार वर्गों में विभाजित किया था, बुद्ध उसमें विश्वास व्यक्त करते हैं। इससे समाज में भेदभाव को बढ़ावा मिला। बुद्ध के अनुसार शूद्र व ब्राह्मण दोनों के लिए समान रुप से अष्ट–मार्ग का सिद्धांत निर्वाण का मार्ग है। कोई भी व्यक्ति जन्म के आधार पर छोटा अथवा बड़ा नहीं होता अपितु उसके कर्म इसका आधार होते हैं।

महात्मा बुद्ध के चिंतन में विश्व के लिए नई व महत्वपूर्ण बात क्षणिकवाद का सिद्धान्त है। जिसके अनुसार संसार की सभी वस्तुएं क्षणिक (नश्वर) व निरन्तर परिवर्तनशील हैं। वे केवल प्रवाह रुप से स्थाई दिखती हैं, जैसे नदी का पानी सदैव बहाव में होता है। परन्तु किनारे से देखने वाले व्यक्ति को वह स्थिर दिखाई देता है। इसी प्रकार संसार भी हर क्षण परिवर्तनशील है। परन्तु हमें क्षण

भर में हो रहे परिवर्तन का आभास नहीं होता है। मनुष्य पदार्थों को स्थायी समझकर अपनी लालसा का हिस्सा बनाने की भूल कर बैठता है अतः मनुष्य को प्रकृति में चल रहे क्षणिक परिवर्तन को समझकर व्यर्थ की उलझनों में नहीं फंसना चाहिए।

बौद्ध मत का विकास (Growth of Buddhism)

बुद्ध के जीवन काल में ही बड़ी संख्या में लोगों ने बौद्ध मत को स्वीकार कर लिया था। उदाहरण के लिए मगध, कौशल और कौसम्बी की जनता ने बौद्ध मत को स्वीकार किया। शाक्य, वज्जि और मल्ल जनपदों की जनमा ने भी इसका अनुसरण किया। अशोक एवं कनिष्क ने बौद्ध मत को राज्य धर्म बनाया और मध्य एशिया, पश्चिम एशिया और श्रीलंका में फैल गया। बौद्ध धर्म जनता के बड़े हिस्सों में लोकप्रिय होन के अनेक कारण थे। व्यावहारिक नैतिकता पर बल देना, मानव जाति की सहज स्वीकृत समाधान और साधारण दर्शन ने जनता को बौद्ध मत की और आकर्षित किया। बौद्ध धर्म उस समय के अनुकूल था। लोहे के व्यापक प्रयोग ने कृषि अर्थव्यवस्था को विकसित किया। कृषि विकास ने पशुधन संरक्षण की आवश्यकता को जन्म दिया। बौद्ध धर्म अपने अहिंसा के सिद्धान्त द्वारा इस आवश्यकता को पूरा करता था।

गौतम बुद्ध के व्यक्तित्व ने भी बौद्ध धर्म को लोकप्रिय बनाया। उनकी बौद्धिकता ने शिक्षित वर्ग को उनके आकर्षक व्यक्तित्व व त्यागमय जीवन ने साधारण जन को अपनी तरफ आकर्षित किया। भिक्षुओं ने बौद्ध मत के विचारों को व्यक्त करने के लिए उस समय की लोकप्रिय भाषा पाली में किया। संस्कृत भाषा के प्रयोग करने के कारण ब्राह्मण धर्म सीमा में बंध गया था। क्योंकि संस्कृत भाषा उस समय की जन–भाषा नहीं थी। अत् बौद्ध धर्म का विस्तार तेजी से हुआ। राजाओं के द्वारा संरक्षण प्रदान किये जाने के कारण बौद्ध धर्म का विस्तार तेजी से हुआ। उदाहरण के लिए ऐसी धारणा है कि अशोक ने अपने पुत्र महेन्द्र तथा पुत्री संगमित्रा को श्रीलंका में बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए भेजा। उसने बहुत से बौद्ध विहारों को स्थापित किया और संघ के लिए उदार भाव से दान आदि भी दिया।

बौद्ध धर्म ने भारतीय संस्कृति को जीवन के सभी क्षेत्रों में सम्पन्न बनाया। धर्म के क्षेत्र में उसने मूर्ति पूजा को लोकप्रिय बनाया तथा संगठित जीवन को आरम्भ किया। नारी तथा शद्रों पर जो धार्मिक अपात्रता की भावना थी, उसे समाप्त कर सामाजिक समता का संदेश दिया गया। बौद्ध धर्म ने शिक्षा को सार्वलौकिक बनाया, विवेकवाद का प्रसार किया तथा नालन्दा, विक्रमशिला जैसे विश्वविद्यालयों को जन्म दिया। साहित्य के क्षेत्र में ज्ञान–विज्ञान व दर्शन को नागार्जुन, वसुमित्र, अश्वघोष, पार्श्वनाथ जैसे विद्वानों ने सम्पन्न बनाया। कला के क्षेत्र में सांची, भारहुत, बौद्ध गया, अमरावती के स्तूप बौद्ध स्थापत्य के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। मूर्तिकला के क्षेत्र में गांधार शैली, मथुरा शैली तथा सारनाथ शैली का विकास हुआ। अजन्ता व बाध गुफा चित्रों का चित्रण करने में बौद्ध धर्म व बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित विषयों को लिया गया। त्रूटिरहित रेखांकन, सशक्त अभिव्यक्ति तथा रंगों का सुन्दर समन्वय बौद्ध चित्रकला की मुख्य विशेषताएं हैं।

बौद्ध साहित्य (Buddhist Literature)

बौद्ध साहित्य मुख्यतः त्रियिटकों में समाहित है।

इस साहित्य को तीन भागों में बांटा गया है :–

(i) सुत्त–पिटक : इसके पांच काय हैं जिनमें धार्मिक सम्भाषण तथा बुद्ध के संवाद संकलित हैं। पांचवे निकाय में जातक कथायें (बुद्ध के जन्म से सम्बंद्ध कहानियां) हैं।

(ii) विनय–पिटक : इसमें भिक्षु–भिक्षुणियों के संघ, उनके दैनिक जीवन संबंधी नियमों का वर्णन किया गया है। इस पिटक के तीन भाग हैं। सुप्तविभाग, खन्दका एवं परिवार पाठ।

(iii) अभिधम्म–पिटक : इसके सात भाग हैं। इसमें बुद्ध के दार्शनिक विचारों का विवरण है इसको प्रश्न–उत्तर के रुप में लिया गया है।

इसके अलावा दापवंश तथा महावंश– इसमें तत्कालीन भारत की सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक दशा तथा श्रीलंका के राजवंशों का वर्णन किया गया है। दोनों ग्रंथों की रचना श्रीलंका में पाली भाषा में की गई थी। मिलिन्दपन्ह नामक ग्रंथ में यूनानी शासक मिलिन्द तथा बौद्ध भिक्षु नागसेन मे दार्शनिक विषय को लेकर हुए वाद–विवाद का वर्णन किया गया है बुद्ध के पूर्व जन्म की कथाएं तथा बुद्धकालीन धार्मिक, सामाजिक तथा आर्थिक जीवन का उल्लेख जातक कथाओं में किया गया है। यह पाली भाषा में लिखी गई है। संस्कृत में लिखित ग्रंथ महावस्तु में बुद्ध की अद्भूत शक्ति तथा बोधिसत्व की प्रतिष्ठा का वर्णन किया गया है।

बौद्ध-संघ

संघ बौद्ध मत की धार्मिक व्यवस्था थी। यह अच्छी प्रकार से संगठित एवं शक्तिशाली संस्था थी और इसने बौद्धमत को लोकप्रिय बनाया 15 वर्ष से अधिक आयु वाले सभी नागरिकों के लिए इसकी सदस्यता खुली थी चाहे वे किसी भी जाति के हों। अपराधी, कुष्ठ रोगी तथा संक्राकम रोग से पीड़ित लोगों को संघ की सदस्यता नहीं दी जाती थी। प्रारम्भ में गौतम बुद्ध महिलाओं को संघ

की सदस्यता नहीं दी जाती थी। प्रारम्भ में गौतम बुद्ध महिलाओं को संघ का सदस्य बनाने के पक्ष में नहीं थे। लेकिन उनके मुख्य शिष्य आनन्द एवं उनकी धाय मां महाप्रजापति गौतमी के लगातार निवेदन करने पद उन्होंने उनकों संघ में प्रवेश दिया।

भिक्षुओं को प्रवेश लेने पर विधिपूर्वक अपना मुंडन कराना एवं पीले वस्त्र या गेरूए रंग का लिबास पहनना पड़ता था। भिक्षुओं से आशा की जाती थी कि वे नित्य बौद्ध मत के प्रचार के लिए जायेंगे और भिक्षा प्राप्त करेगें। वर्षा ऋतु के चार महीनों में वे एक निश्चित बिस्तर लगाने तथा समाधि करते थे। इसका आश्रय या 'वशा' कहा जाता था। संघ लोगों को शिक्षा देने का काम भी करता था। ब्राह्मणों ने शिक्षा प्राप्त करने के अधिकार से वंचित कर दिया था। उनको बौद्ध मत में शिक्षा प्राप्त करने का अवसर प्राप्त हो गया और इस प्रकार शिक्ष समाज के काफी तबकों में फैल गई। संघ का संचालन जनतांत्रिक सिद्धांतों के अनुसार होता था और अपने सदस्यों को अनुशासित करने की शक्ति भी इसी मे निहित थी। यहां पर भिक्षुओं एवं भिक्षुणियों के लिए एक आचार–संहिता थी और वे इसका पालन करते थे। गलती करने वाले वाले सदस्य को दंडित कर सकता था।

बौद्ध मत की सभायें (बौद्ध संगीति)

अनुश्रुतियों के अनुसार बुद्ध की मत्यु के थोड़े समय बाद 483 ई० पू० में राजगह के पास सप्तपर्णि गुफा में बौद्ध मत की प्रथम सभा हुई इस सभा की अध्यक्षता महाकस्यप ने की, इसमें 500 बौद्ध भिक्षुओं ने भाग लिया। इस संगीति का आयोजन तत्कालीन मगध नरेश अजातशत्रु के संरक्षण में हुआ। बुद्ध की शिक्षा को पिटकों में विभाजित किया गया, जिनके नाम इस प्रकार हैं– विनय पिटक और सुत्क पिटक। विनय पिटक की रचना उपाली के नेतत्व में की गई और सुत्तपिटक की रचना आनन्द के नेतत्व में की गई।

दूसरी बौद्ध संगीति, बौद्ध भिक्षुओं में उत्पन्न आपसी मतभेद को दूर करने के लिए 300 ई० पू० में वैशाली में कालाशेक के शासनकाल में हुई। इसमें लगभग 700 भिक्षुओं ने भाग लिया। पाटलीपुत्र तथा वैशाली के भिक्षुओं ने कुछ नियमों का निर्धारण किया परन्तु इन नियमों को कौशाम्बी व अवन्ति के भिक्षुओं के द्वारा बुद्ध की शिक्षा के प्रतिकूल घाषित कर दिया गया। दोनों विरोधी गुटों के बीच कोई भी समझौता कराने में सभा असफल रही। बौद्ध धर्म का विभाजन स्थायी तौर पर दो बौद्ध सम्प्रदायों– स्थविरवादी व महासंधिक में हो गया। पहले सम्प्रदाय ने विनय–पिटक में वर्णित रूढ़िवादी विचारों को अपनाया और दूसरे में नये नियमों का समर्थन किया और फिर उनमें परिवर्तन हुए।

तीसरी सभा का आयोजन अशोक के शासनकाल में मोग्गालिपुतत्स्सि की अध्यक्षता में 247 ई० पू० में पाटली पुत्र में हुआ। इस संगीती में लगभग 1000 भिक्षुओं ने भाग लिया। इस सभा में सिद्धांतों को दार्शनिक विवेचना को संकलित किया गया तथा इसको अभिधम्भ–पिटक के नाम से जाना जाता है। इस सभा में बौद्ध मत का असंतुष्टों एवं नये परिवर्तनों से मुक्त कराने का प्रयास किया गया।

चतुर्थ बौद्ध संगीति का आयोजन कश्मीर के निकट कुण्डमावन ने कनिष्क के शासनकाल में हुआ। वसुमित्र इस सभा के अध्यक्ष व अश्वघोष उपाध्यक्ष थे। संगीति में उत्तरी भारत के हीनयान सम्प्रदाय को मानने वाले एकत्रित हुए। तीन पिटकों पर तीन टीकाओं (भाष्यों) इसने उन विवादग्रस्त मतभेद प्रश्नों का निबटारा किया जो श्रावस्तीवासियों एवं कश्मीर तथा गन्धार के प्रचारकों के मध्य उत्पन्न हो गए थे।

बौद्ध धर्म के सम्प्रदाय

वैशाली में आयोजित दूसरी सीमा में बौद्ध धर्म दो सम्प्रदायों में विभाजित हो गया– स्थरिवरवादी व महासांधिक। स्थविरवादी धीरे–धीरे ग्यारह सम्प्रदायों और महासांधिक सात सम्प्रदायों में बंट गए। ये 18 सम्प्रदाय 'हीनयान' मत में संगठित हुए। स्थविरवादी कठोर भिक्षुक जीवन और मूल निदेशक कड़े अनुशासिकत नियमों का अनुसरण करते थे। वह समूह जिसने संशोधित नियमों को माना, महासांधिक कहलाया।

महायान सम्प्रदाय का विकास चौथी बौद्ध सभा के बाद हुआ। हीनयान सम्प्रदाय जो बुद्ध की रूढ़िवादी शिक्षा में विश्वास करता था, का जिस गुट ने विरोध किया और जिन्होंने नये विचारों को स्वीकार किया, वे लोग 'महायान' सम्प्रदाय के समर्थक कहलाये। उन्होंने बुद्ध की प्रतिमा बनाई और ईश्वर की भांति उसकी पूजा की।

बौद्ध धर्म का पतन

जिस प्रकार बौद्ध धर्म का प्रारम्भ भारत में हुआ तथा यहीं से इसका विस्तार एशिया के अनेक भागों में हुआ उसी तरह इसका पतन भी पहले भारत में ही हुआ। मौर्य काल के पश्चात् इसे राजकीय संरक्षण काफी कम हो गया था। केलव कुछ पर्वतीय गुप्त राजाओं के अतिरिक्त गुप्त काल में बौद्ध धर्म का हास हुआ तथा ब्राह्मण धर्म पर भी अधिक ध्यान दिया गया। पूर्व मध्य काल में काल में बंगाल के पालो के अतिरिक्त कोई भी बड़ा साम्राज्य इसका संरक्षक नहीं बन पाया। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण धर्म में भी सुधार की प्रक्रिया शुरू हुई। ब्राह्मण धर्म में तो बुद्ध को विष्णु का एक अवतार मान लिया गया। इसके अतिरिक्त बौद्ध देवी तारा की भी पूजा की जाने लगी। हिन्दू देवी सरस्वती की पूजा बौद्धों ने शुरू कर दी। इसके अतिरिक्त पूर्व मध्य काल के हिन्दु धर्म के तांत्रिक आधार पर ही

बौद्ध धर्म का वज्रयान सम्प्रदाय बना। हिन्दु धर्म की तरह ही इसमें भी मिथ्या आडम्बरों की भरमार होनी शुरू हो गई तथा धीरे–धीरे यह हिन्दु धर्म के काफी समीप आ गया तथा हिन्दु धर्म के व्यापक समुद्र मे यह धर्म अपने अस्तित्व को खोने लगा। रही सही कसर विदेशी आक्रमणों ने भी पूरी कर दी। बौद्ध धर्म के पतन के यों तो अनेक कारण हैं इनमें प्रमुख निम्नलिखित हैं :–

राजकीय संरक्षण का कम होना :- जैसा कि सर्वविदित है कि महात्मा बुद्ध के काल से ही बौद्ध धर्म को राजकीय संरक्षण प्राप्त होता रहा। अशोक के काल तक पहुँचते–2 तो यह सीमा पर पहुँच गया। इसके विदेशों में प्रसार में भी अशोक का हाथ रहा। परन्तु मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद एक लम्बे अरसे तक इसे किसी भी बड़े राजवंश का संरक्षण नहीं मिला केवल पाल वंश ही इस धर्म का संरक्षक था। यह नहीं है कि इस बीच इसे राजकीय संरक्षण नहीं मिला। कुषाण काल में कनिष्क, गुप्त काल में नरसिंह गुप्त बालादित्य तथा गुप्तोचर काल में हर्षवर्धन ने इसे काफी संरक्षण दिया। परन्तु राजकीय सहायता की बैसाखियों पर चलने वाला यह धर्म भारत में इसकी कमी में अधिक दिन नहीं चल सका।

आन्तरिक मतभेद :- कुछ विद्यवान बौद्ध धर्म के पतन में इसके संघ के आन्तरिक मतभेदों को उत्तरदायी मानते हैं। महात्मा बुद्ध की मत्यु के पश्चात बौद्ध धर्म में एकता समाप्त हो गई तथा यह धर्म कई शाखाओं में बंट गया। जैसे हीनयान तथा महायान बाद में वज्रयान इत्यादि सम्प्रदाय बन गए। इस मतभेद के कारण परस्पर ईर्ष्या बढ़ने लगी तथा इसका प्रभाव इस धर्म पर पड़ा। परन्तु इस धर्म के अन्त का यह कोई कारण नहीं है क्योंकि अधिक सम्प्रदाओं के होन से तो धर्म का प्रसार अधिक होता है जैसा कि हिन्दु धर्म का हुआ। वास्तव में अनेकों सम्प्रदाओं ने बौद्ध धर्म के प्रसार में काफी योगदान दिया। भारत में तो कई बौद्ध सम्प्रदाय हुए। लंका, तिब्बत, चीन, जापान इत्यादि में भी इस धर्म के अलग–2 सम्प्रदाय हुए जिनके कारण इस धर्म का पतन नहीं बल्कि प्रसार अधिक हुआ।

बौद्ध संघ में भ्रष्टाचार :- जैसा की सर्वविदित है कि राजकीय संरक्षण के कारण बौद्ध मठों में काफी धनधान्य आने लगा। जिसके कारण भिक्षु तथा भिक्षुणियों ने सुख एवं वैभव का जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ कर दिया। ये लोग संघ के कार्यों तथा लोगों में धर्म प्रचार से दूर होते चले गए बल्कि पारस्परिक झगड़ों एवं कलहों में अपना समय बिताने लगे। परिणामस्वरुप लोगों का विश्वास इन से उठता चला गया। दूसरी ओर ब्राह्मण धर्म के आचार्यों को इनसे काफी लाभ हुआ तथा उनकी फुअ के कारण वे हिन्दु धर्म का प्रचार करने में अधिक सक्षम हो गए बौद्ध संघ के आन्तरिक मतभेदों की हानि इन्हे उठानी पड़ी। इसका अर्थ यह नहीं है कि संघ की ओर से कोई कोशिश नहीं की गई। समय–2 पर बौद्ध का प्रयत्न किया गया परन्तु अधिक सफलता नहीं मिली। इसके अतिरिक्त संरक्षक राजाओं ने भी इसके आपसी मतभेद दूर करने की कोशिश की। अशोक ने बौद्ध संघ में गड़बड़ी फैलाने वाले भिक्षु को सफेद कपड़े पहना संघ से निकालने तक की धमकी भी अपने अभिलेखों में दी है। हर्ष ने भी इसी प्रकार की सेवा बौद्ध संघ की थी।

संघ में स्त्रियों का प्रवेश :- सर्वप्रथम स्वयं महात्मा बुद्ध ने संघ में स्त्रियों का प्रवेश वर्जित किया था परन्तु अपने प्रिय शिष्य आनन्द के कहने पर उन्होने स्त्रियों को संघ में प्रवेश की आज्ञा तो दे दी परन्तु साथ ही यह भी कहा था कि जो धर्म 5 हजार वर्ष तक चलना था अब इस कारण से केवल 500 वर्षों में समाप्त हो कर रह जाएगा। कुछ विद्यवानों का मत है कि स्त्रियों के संघ में प्रवेश से संघ में भिक्षुओं का नैतिक पतन प्रारम्भ हो गया। इससे भिक्षुओं के आचरण एवं संयम को आघात पहुँ जिससे विहारों का सात्विक जीवन समाप्त हो गया। संघ में यद्यपि स्त्रियों के प्रवेश के साथ कठोर आचरण सम्बन्धी नियम बनाए गए थे परन्तु समय के साथ–2 ये नियम टूटते चले गए तथा संघ में भिक्षु भिक्षुणियों में व्याभिचर का समावेश हो गया जिसका सीधा असर इसके पतन पर पड़ा।

चिन्तकों एवं दार्शनिकों का आभाव :- ऐसा माना जाता है कि बुद्ध की मत्यु के उपरान्त इस धर्म में कोई बड़ा चिन्तक एवं दार्शनिक उत्पन्न नहीं हुआ। इसके परिणाम स्वरुप समय–2 पर आए विकारों का सुधार करने में कोई सक्षम नहीं हुआ। जिसके फलस्वरुप बौद्ध धर्म में निरन्तर पतन होता चला गया।

झूठे आडम्बरों का धर्म में प्रवेश :- यद्यपि बौद्ध धर्म का जन्म ही ब्राह्मण धर्म में पाए जाने वाले आडम्बरों के कारण ही हुआ था। इसी कारण महात्मा बुद्ध इनके उपदेशों को सरल तथा मिथ्या चारों से दूर रखा परन्तु धीरे–2 लोग बुद्ध के उपदेशों से दूर हटते चले गए तथा बौद्ध धर्म की पुरानी सरलता समाप्त हो गई। अब इस धर्म में भी बहुत से मिथ्या आडम्बर, तन्त्र मन्त्र, जादूटोने इत्यादि का समावेश हो गया जिसके कारण यह धर्म स्थिल तथा जर्जर हो गया तथा धीरे–2 समाप्ति की ओर बढ़ने लगा।

अन्य धर्मो से प्रतिद्वन्दिता :- कुछ विद्यवान बौद्ध धर्म की अवनति को इसकी अन्य धर्मो से प्रतिद्वन्दिता को भी मानते हैं जैन धर्म भी इसी काल में प्रारम्भ हुआ जो कि बौद्ध धर्म की तरह ही ब्राह्मण धर्म के reaction के रुप में शुरू हुआ यही नहीं दानों धर्मो में काफी समानता भी थी। इसी कारण अहुत से लोग जैन धर्म तथा अन्य सम्प्रदायों जैसे आजीवक निग्रंथ इत्यादि की ओर भी आकृष्ठ हो गए। इसका प्रभाव भी बौद्ध धर्म पर पड़ा।

हिन्दु धर्म का उत्थान :- बौद्ध धर्म के पतन के असली कारणों में एक है हिन्दु धर्म का पुर्नउत्थान। इस धर्म में जो स्थिलता आ गई थी, जिसका कारण बौद्ध तथा जैन धर्म काफी आगे बढ़ गए थे, उसे दूर करने के लिए धर्माचारियों तथा सुधारकों ने प्रयास शुरू

कर दिए। शंकराचार्य, कुमारिलभट्ट, प्रभाकर तथा रामानन्द इत्यादि ने स्थान–2 पर जा कर न केवल हिन्दु धर्म का प्रचार कर कुरीतियों को दूर करने की चेष्टा की बल्कि बौद्ध विद्यानों भिक्षुओं धर्माचार्यों से शास्त्रार्थ कर उन्हें पराजित भी किया तथा इससे लोगों का बौद्ध धर्म की अपेक्षा हिन्दु धर्म की ओर आकर्षण बढ़ा। दूसरी ओर शुंग, गुप्त तथा अन्य बड़े–2 राजवंशों ने हिन्दु धर्म का भरपूर प्रसार किया तथा इस धर्म को राजकीय संरक्षण दिया इसके कारण राजकीय सहायता के समाप्त होने से बौद्ध धर्म पत्नोन्मुख हो गया।

विदेशी आक्रमण :- कुछ विद्यवान इस धर्म के पतन में विदेशी आक्रमणों को भी एक कारण मानते हैं। बौद्ध मठों में बहुत सा धन सोना इत्यादि था। जिसके कारण विदेशी आक्रमणकारियों ने इसके मठों को निशाना बनाया। सर्वप्रथम विदेशियों में हूणों द्वारा इस धर्म के विरूद्ध काम करने का नाम लिया जाता है। हूण राजा मिहिर कुल के बारे में यह सर्वविदित है कि उसने बहुत से बौद्ध भिक्षुओं को मारा तथा विहारों को गिरवा दिया। बाद के काल में मुस्लिम आक्रमणकारियों ने बौद्ध मठों, विहारों इत्यादि को निशाना बना न केवल धन की लूट पाट की बल्कि इन को ध्वस्त भी कर दिया। ऐसा बताया जाता है कि नालन्दा के विहार तथा पुस्तकालय में आग लगा दी गई जो महीनों जलती रही। इन आक्रमणों में बहुत से बौद्ध भिक्षु मत्यु के घाट उतार दिए गा। बहुत से भिक्षु पहाड़ों की ओर भाग गए जहां पर उन्होंने बाद में धर्म प्रचार तथा प्रसार भी किया। इस प्रकार ये आक्रमण बौद्ध धर्म के लिए घातक सिद्ध हुए।

परन्तु इस धर्म के अपना स्वरुप खोने का एक अन्य कारण भी है वह है इसका हिन्दु धर्म में धीरे–2 विलय हो जाना यद्यपि महात्मा बुद्ध ने ईश्वर के अस्तित्व को नहीं स्वीकारा तथा न ही देवत्व को प्रोत्साहन दिया। परन्तु धीरे–2 धर्म के प्रभाव के कारण बौद्ध धर्म में भी देवत्व की स्थापना हो गई तथा देवी देवताओं की पूजा प्रारम्भ हो गई। बाद में तो बौद्धों न स्वयं बुद्ध को ही एक अवतार मान लिया तथा इसे ईश्वर के रुप में पूजना शुरू कर दिया। बुद्ध तथा बोधिसत्त्वों की मूर्तियां बनने लगी तथा इनकी पूजा होने लगी। प्रारम्भ में बौद्ध धर्म तथा साहित्य में लौकिक भाषा का प्रयोग होता था परन्तु बाद में संस्कृत भाषा का ही प्रयोग होने लगा। तान्त्रिक आधार पर ही वज्रयान नामक शाखा बन गई। जादूटोने पूजा अर्चना, तन्त्र मन्त्र इत्यादि के प्रारम्भ होने से हिन्दु धर्म तथा बौद्ध धर्म में कोई अन्तर ही नहीं रह गया। इस कारण भी लोग अधिकतर हिन्दु धर्म की ओर आकर्षित हो गए तथा बौद्ध धर्म ने पुनः हिन्दु धर्म के अथाह समुद्र में अपना अस्तित्व खो दिया। भारत से ही प्रारम्भ हो यह धर्म अपनी जन्मभूमि में ही सर्व प्रथम समाप्त हो गया।

बौद्ध धर्म के प्रभाव :-

बौद्ध धर्म ने भारत ही नहीं बल्कि पूरे एशिया को प्रभावित किया। इसने भारतीय संस्कृति, समाज, धर्म, राजनीतिक ही नहीं बल्कि आर्थिकता को भी प्रभावित किया। भारतीय संस्कृति की समपन्नता में इस धर्म के कारण काफी अभिवद्धि हुई तथा लोगों को जीवन के प्रति एक विशिष्ट दष्टिकोण का विकास करने में काफी सहायता की।

अहिंसा का सिद्धान्त :- बौद्ध धर्म ने अहिंसा के सिद्धान्त पर काफी जोर दिया गया तथा अहिंसा को परम धर्म माना गया। इस उपदेश का भारत की राजनीति प गहरा प्रभाव पड़ा। अशोक जैसे नरेश ने तो युद्ध से विजय के स्थान पर धम्म विजय का ही अभियान चलाया। इसके कारण ही बाद में मौर्य काल की सैनिक शक्ति ही दुर्बल हो गई तथा मौर्यों का पतन तक हो गया बाद के राजाओं ने यद्यपि पूरी तरह युद्धों को तो तिंलाजलि नहीं दी अपितु अहिंसा एवं लोकसेवा, सार्वजनिक कार्यों इत्यादि का प्रोत्साहन दिया। इस धर्म के कारण ही एक जीवन पद्धति का विकास हुआ जो मनुष्य के व्यक्तिगत सदाचार पर आधारित थी इसमें अहिंसा, करूणा, त्याग इत्यादि नैतिक मूल्य थे।

जाति पाति का अन्त :- बौद्ध धर्म में जाति पाति का कोई स्थान नहीं था। जो भी व्यक्ति संघ या धर्म में प्रवेश करता था वह समान था। इसके कारण समाज में जाति पाति के प्रभाव का कम करने में यह धर्म काफी सहायक हुआ। इसी कारण इस धर्म का अधिक प्रसार भी हुआ क्योंकि हिन्दु धर्म में जाति पाति अचनीच छुआछूत इत्यादि बिमारियां थी जो इस धर्म में नहीं थी। फलस्वरुप देश में इन कुरीतियों से निजात पाने में काफी सहायता मिली। यद्यपि ये पूर्णतया समाप्त तो नहीं हुई।

कला पर प्रभाव :- बौद्ध धर्म का प्रभाव कला पर भी पड़ा। यह माना जाता है कि मूर्ति पूजा का प्रचलन बौद्ध धर्म के कारण ही हुआ क्योंकि सर्वप्रथम गान्धार कला में बुद्ध की सुन्दर प्रतिमाओं का निर्माण कर उनकी पूजा प्रारम्भ हुई। बाद में हिन्दु धर्म में भी मूर्ति पूजा प्रारम्भ हुई जिसने पूरानी आर्य–पूजा पद्धति का स्थान लिया।

शिक्षा के क्षेत्र में :- शिक्षा के क्षेत्र में भी बौद्ध धर्म का बहुत प्रभाव पड़ा। बौद्ध मठ एवं विहार शिक्षा के केन्द्रों के रुप में भी काम करते थे। प्रसिद्ध नालन्दा विहार तो एक बहुत बड़ा विश्वविद्यालय था जहां न केवल भारत ही अपितु विदेशों से भी छात्र आकर पढ़ते थे।

मठ प्रणाली का प्रारम्भ :- बौद्ध धर्म ही मठ प्रणाली के जन्म दाता थे। इससे पूर्व हिन्दु धर्माचार्य इत्यादि वनों में जाकर तपस्या मनन चिन्तन इत्यादि करते थे। परन्तु बौद्ध मठ प्रणाली में भिक्षु परस्पर बन्धुत्व से एक आचार्य के आधीन एक अनुशासित जीवन व्यतीत कर पठन पाठन मनन चिन्तन करते थे। जिससे ने केवल दर्शन बल्कि शिक्षा तथा संस्कृति भी समद्ध हुई।

गणतन्त्रात्मक विचारों को बल :- महात्मा बुद्ध का जन्म एक गणतन्त्रात्मक राज्य में हुआ था। इसी कारण उन्होने अपने संघ का

स्वरुप भी इन्हीं सिद्धान्तों पर दिया जहां खुली बहस, बहुमत पर आधारित निर्णय, न्याय का महत्त्व तथा बहुकल्याण पर बल दिया जाता था। इस कारण भारत में भी इसी तरह की कल्याण कारी सबसे सहयोग से चलने वाली सरकार के गठन को बल मिला।

दर्शन पर प्रभाव :– भारतीय दर्शन के क्षेत्र में भी बौद्ध धर्म का अमिट प्रभाव प्रभाव पड़ा। दर्शन के क्षेत्र में बौद्ध आचार्य नागार्जुन के शुन्यवाद का प्रभाव शंकराचार्य के मायावाद पर पड़ा। दोनों विद्ववानों की कुछ समानताओं को देखकर ही कुछ विचारकों ने शंकराचार्य पर प्रच्छन्न बुद्ध होने तक का आरोप लगाया था।

साहित्य पर असर :- बौद्ध धर्म ने धार्मिक प्रचार की प्रक्रिया को प्रोत्साहन दिया। इसके कारण अनेक भारतीय विद्ववान मध्य एशिया तिब्बत चीन लंका इत्यादि गए। उनके माध्यम से दोनों पक्षों की भाषाओं में अनेक ग्रन्थ अनुपादित हुए जिसके परिणाम स्वरुप साहित्य में उन्नति हुई। विदेशी यात्रियों जैसे फाह्यान, ह्यूनसांग इत्सिंग इत्यादि ने भारत का भ्रमण किया वे अपने साथ बहुत से बौद्ध ग्रन्थ ले गए जिन्हें चीनी में अनुवाद किया। उनके द्वारा लिखे गए ग्रन्थों से हमें उस काल के इतिहास पर बहुमूल्य प्रकाश पड़ता है।

आर्थिक प्रभाव :– बौद्ध धर्म के प्रकार के लिए बौद्ध भिक्षुओं ने भारत के कोने–2 में भ्रमण तथा यातायात के रास्तों का पता लगाया तथा साधनों को सुलभ किया। एक स्थान से दूसरे स्थान से न केवल सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित हुए बल्कि आर्थिक सम्बन्ध भी स्थापित हुए। इसी प्रकार विदेशों से सम्बन्धों का प्रभाव व्यापार एवं वाणिज्य इत्यादि पर भी पड़ा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध धर्म का भारत के विभिन्न पहलुओं पर गहरा प्रभाव पड़ा। इनके भिक्षुओं के एक स्थान से दूसरे स्थान में भ्रमण के कारण भारत की पथकता का अन्त हुआ तथा देश के अन्य लोग भी एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने लगे जिससे भारत की राजनैतिक एकता को बल मिला।

आजीविक सम्प्रदाय

आजीविक :- छटी शताब्दी में बौद्ध तथा जैन धर्म के अतिरिक्त एक अन्य सम्प्रदाय भी था जिसका कोई दो हजार वर्ष का इतिहास है। इस काल के प्रमुख नास्तिक सम्प्रदायों में (herectical sects) में इसका प्रमुख स्थान है। ऐसा माना जाता है कि इस सम्प्रदाय का प्रारम्भ नन्दवच्छ द्वारा स्थापित किया गया तथा उनके पश्चात् इसके प्रमुख किस संकीच्छ (Kisa Sanikichchha) बल परन्तु इसके बाद गोसाल के काल में इस सम्प्रदाय का काफी विस्तार हुआ। अवन्ति से अंग तक इस सम्प्रदाय का इतना प्रसार हुआ कि दोनों बुद्ध तथा जैन धर्म को इससे खतरा उत्पन्न हो गया इसीलिए बुद्ध तथा महावीर दोनों ने ही गोसाल तथा उसके सम्प्रदाय की खुले रुप में तो आलोचना की परन्तु इसके कुछ नियमें एवं सिद्धान्तों को चुपके से अपना भी लिया। अशोक के काल में तो आजीविको को काफी संरक्षण दिया गया जिसका पता हमें उसके अभिलेखों से लगता है। अशोक के पोते दशरथ ने तो आजीविकों को कई गुफाए इत्यादि बनवा कर दी। द्वितीय शताब्दइ ईसा पूर्व पतंजलि ने भी इस सम्प्रदाय के बारे में संदर्भ दिए तथा बौद्ध ग्रन्थ मलिन्दपहो में भी इसका वर्णन है इस भागयवादी (Fatalistic) सम्प्रदाएं के अनुसार सभी कुछ बिना किसी कार्य (non-performance) के भी पूर्ण सिद्धी प्राप्त (perfect) हो जाती है तथा एक अन्य सामान्य नैर्सगिक तथा अध्यात्मिक विकास की प्रक्रिया भी है जिससे जन्म मरण के अनेक चक्रों से मुक्ति सकती है। यह सिद्धान्त क्रियावादिनों के विपरीत था जो यह मानते थे कि मनुष्य की सामाजिक सिद्धी के लिए नैति कार्यो का होना आवश्यक है।

यद्यपि कोई आजिविक साहित्य पूर्ण रुप से हमें प्राप्त नहीं होता परन्तु जहां तहां कुछ संदर्भो की सहायता से जो कि बौद्ध तथा जैन साहित्य में मिलते हैं, इस सम्प्रदाय के बारे में हमें ज्ञान होता है। इस सम्प्रदाय का घोर तपस्या, एकान्त प्रियता जीवन की सुख आनन्द को त्याग, घोर आत्मसंयम, शालीनता रहित जीवन इत्यादि कठोर नियमों के कारण अधिक लोग इस धर्म की ओर आकर्षित नहीं हो पाए तथा धीरे–2 यह अपना वर्चश्च खोता चला गया। परन्तु फिर भी छठी शताब्दी में वराहमिहिर के काल तक यह चलता रहा तथा हर्ष काल (सातवीं शताब्दी) में भी इस सम्प्रदाय के लोगों को एक दण्डिन कहा जाता था क्योंकि लोग अपने हाथ में डंडा लेकर चलते थे। कभी–2 तो इन्हें बौद्ध या जैनों के साथ भी जोड़ा जाता था जैसा कि दक्षिण भारतीय अभिलेखों तथा तमिल लेखकों के लेखों में मिलता है। बहद्जातक के टीकाकार उत्पल ने आजीविकों को नारायणाश्रितों में रखा है तथा बाद के काल में आजीविक सम्प्रदाय के लोग वसुदेव के मानने वालों से ही मिल कर रह गए। जैन ग्रन्थ भगवती सूत्र में वर्णन है कि आजीविकों ने अपने कार्य क्षेत्र को बदल कर बाद के काल में विन्ध पर्वत की तलहटी में पुण्ड्र क्षेत्र में बना लिया तथा उन्होंने अपने सम्प्रदाय में बहुत से वैदिक तथा गैर वैदिक देवी देवताओं का भी मिला। इनमें से दो थे पुण्णभद्द(पूर्णभद्र) तथा मणिभद्द (मणिभद्र)। पवाया अभिलेख (प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व) में मणिभद्र भक्तों का संदर्भ है जिन्हें आदर से भागवत उपाधि भी की जाती थी। मणिभद्र को कुबेर का मुख्य प्रहरी माना जाता है। तथा धीरे–2 ये लोग कुबेर वैश्रवण होने लगे तथा कालान्तर में ये वैशणव धर्म के अनयायी बन कर रह गए।

गौतमी पुत्र शातकर्णी केवल एक महान सेनानायक ही नहीं था अपितु एक महान शान्ति दूत भी था। उसने अपने काल में समाज सुधार करते हुए तत्कालीन कुछ सामाजिक बुराइयों को दूर करने का प्रयास किया। उसने सभी जाति तथा वर्ण के लोगों के उत्थान

के लिए निरन्तर प्रयास किए चाहे फिर वे द्विज हों अथवा अवर (निम्न जाति) हों। उसने अपने काल में वर्णसंकर अथवा चारों वर्णों के मिश्रण पर प्रतिबन्ध लगा दिया। गौतमी पुत्र शातकर्णी के मदु स्वभाव, न्यायप्रियता, बलिष्ठ शरीर, निर्भिकता तथा सदाचार आदि गुणों के आधार पर यह माना गया है कि वही विक्रमादित्य था परन्तु यह तुलना त्रुटिपूर्ण है क्योंकि गौतमी पुत्र ने कभी भी विक्रमीसंवत का प्रयोग नहीं किया। साथ ही उसकी उपाधि **वर-वरण-विक्रम-चारू-विक्रम** केवल यह इंगित करती है कि वह बहुत सुन्दर था न कि यह कि वह विक्रमादित्य के समतुल्य था। इसी प्रकार कुछ विद्वानों का यह मत कि गौतमी पुत्र शातकर्णी ने अपने पुत्र वशिष्ठि पुत्र पुलुमई (पुलुमावि) के साथ–2 शासन किया भी गलत प्रतीत होता है क्योंकि हमें अभी तक कोई ऐसा सिक्का अथवा शिलालेख नहीं मिला है जिस पर कि इन दोनों का नाम साथ–2 अंकित हो।

पुलुमाई द्वितीय

(96-119 ई.) गौतमी पुत्र श्री शातकर्णी की मत्यु के उपरान्त उसका पुत्र वशिष्ठि पुत्र सामी–श्री पुलुमायी (पुलुमावी) अथवा पुलुमायी द्वितीय गद्दी पर बैठा। उसके शासन काल 96 ई. से लेकर 119 ई. तक सातवाहन साम्राज्य अपनी शक्ति की पराकाष्ठा पर था। पुलुमायी द्वितीय ने अपने पिता से प्राप्त साम्राज्य को केवल सुरक्षित ही नहीं रखा अपितु उसका विस्तार भी किया। उसके सिक्कों से यह पता चलता है कि उसने दक्षिण भारत में भी अपने साम्राज्य का विस्तार किया तथा आन्ध्रदेश में अपना प्रभुत्व जमा लिया। उसने नवनगर नामक शहर की भी स्थापना की तथा साथ ही नवनगर स्वामी, महाराज तथा दक्षिण पथिश्वर जैसी उपाधियां भी धारण की। हमें विभिन्न स्थानों से बहुत अधिक मात्रा में उसके सिक्के मिले हैं। उसका काल आर्थिक समद्धि का काल था तथा उसे अमरावति के स्तूप का विस्तार एवं सौन्दर्यीकरण करने वाले राजा के रुप में भी जाना जाता है। वह इतना विख्यात था कि टोलोमी ने भी अपनी पुस्तक में उसे **सीरोपोलीमेइयू** कहते हुए वैथान अथवा पैठान (प्रतिष्ठान– जो कि सम्भवतः उत्तर कालीन सातवाहनों की राजधानी थी) का राजा बताया है। यद्यपि रैपसन ने कन्हेरी शिला लेख में वर्णित वशिष्ठि पुत्र श्री शातकर्णी के नाम तथा चैष्टन के पौत्र रूद्रदमन के जूनागढ़ शिलालेख में पाए गए। एक सन्दर्भ, जिसमें यह उल्लेख है कि पुलुमायी ही वह शातकर्णी था जिसे रूद्रदमन ने दो बार हराया था, के आधार पर पुलुमायी द्वितीय को महाक्षत्रप रूद्रदमन का जामाता बताया है तथापि यह कपोलकल्पित ही लगती है कि पुलुमायी द्वितीय ने अपने समकालीन शकक्षत्रय चष्टन की परपौत्री से विवाह किया हो। डा. गोपालाचारी भी इस दूसरे मत को ही प्रतिपादित करते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि पुलुमायी द्वितीय के शासन काल के अन्तिक वर्षों में शक महाक्षत्रप चष्टन ने अपनी शक्ति को बढ़ाना आरम्भ कर दिया तथा उसने कच्छ एवं सिन्धु–सौवीर प्रदेशों पर अपना आधिपत्य जमा लिया। इसके साथ ही इस शक महाक्षत्रप ने कुकुर, सौरठ, अवन्ति तथा अकर आदि प्रदेशों को भी पुनर्विजित कर लिया।

श्री शातकर्णी (120-149 ई.)

पुलुमायी द्वितीय के उपरान्त वशिष्ठ पुत्र श्री शातकर्णी नया शासक बना। इस शासक का नाम वायु–पुराण में आया है, जिसने इसके शासन काल को 29 वर्ष लम्बा बताया है। यह शातकर्णी शासक शक महाक्षत्रप रूद्रदमन का जामाता था। इस शासक के सिक्के बहुत अधिक मात्रा में प्राप्त हुए हैं जिनमें से 600 तो केवल अकोला से ही मिले हैं।

शिवश्री पुलुमायी III (150-156 ई.)

सातवाहन वंश का अगला शासक शिवश्री पुलुमायी बना। डा. गोपालाचारी के अनुसार यह शासक पुलुमायी द्वितीय का पौत्र था तथा सम्भवतः यही वह शातकर्णी शासक था, जिसे रूद्रदमन ने दो बार हराया था। यद्यपि इन युद्धों में रूद्रदमन सातवाहनों से अनूप एवं अपरान्त प्रदेशों को छीनने में तो सफल हो गया परन्तु वह अस्सक, मूलक तथा कुन्तल प्रदेशों को जीत न सका।

श्री शिवखद शातकर्णी

शिवश्री पुलुमायी ततीय के उपरान्त श्री शिवखद शातकर्णी (पुराणों के शिव स्कन्ध का परिवर्तित रुप) सिंहासना रूढ़ हुआ उसका राज्यकाल छोटा था तथा उसने 157 ई. से लेकर 159 ई. तक शासन किया।

श्री यज्ञ (160-189 ई.)

श्री यज्ञ अथवा यज्ञश्री शातकर्णी सातवाहनों का नया शासक बना। यह सातवाहनों का अन्तिम महान् शासक था। दो कन्हेरी लेखों, एक नासिक लेख तथा दो गुण्टूर लेखों से यह पता चलता है कि श्री यज्ञ का साम्राज्य ब्रगाल की खाड़ी से ले कर अरब सागर तक फैला हुआ था तथा पूर्वी और पश्चिमी दक्कन उसके साम्राज्य के हिस्से थे। परगेटियर के अनुसार कुछ पुराणों की इस शासक के काल में पुर्नव्याख्या हुई। यज्ञश्री सम्भवतः वही शासक था जिसे बाणभट्ट ने **त्रिसमुद्राधिपति** कहा है तथा जो महान् भिक्षु नागार्जुन का मित्र था। ऐसा प्रतीत होता है इस शासक ने जल परिवहन तथा नौ सैनिक गतिविधियों को भी बढावा दिया। इसका प्रमाण उसके एक पाए गए सिक्क ये मिलता है, जिसके एक ओर एक दो पताका वाला जलपोत, एक मछली तथा एक शंख के चित्र अंकित हैं। श्री यज्ञ के बहुसंख्य सिक्के हमें प्राप्त हुए हैं, ये सिक्के गुजराज, काठियावाड़, सोपारा, अकोला तथा गोदावरी तथा कृष्णा के तटीय प्रदेशों से मिले हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि यज्ञश्री का साम्राज्य काफी विशाल था। परन्तु यज्ञश्री के शासन का अन्तिम काल सातवाहनों के पराभव का काल साबित हुआ। अमीरों ने दक्कन की एकता को नष्ट कर दिया तथा नासिक के आसपास के दोनों को सातवाहनों से छीन लिया।

स्वामी-शकसेन

श्रीयज्ञ के पश्चात माधरी पुत्र स्वामी शकसेन सातवाहन शासक बना। उसके कुछ सिक्के प्राप्त हुए हैं जिन पर सिंह तथा हाथी अंकित है। इस शासक के बाद हमें एक अन्य राजा विजय के बारे में पता चलता है जिसने सातवाहन राज्यों पर 6 वर्ष शासन किया। विजय की मत्यु के पश्चात, वशिष्ठि पुत्र श्री चण्डशातकर्णी गद्दी पर बैठा जिसने दस वर्षों तक शासन किया।

पुलुमायी चतुर्थ (IV) सातवाहनों की मुख्य शाखा का अन्तिम शासक था। परन्तु हमें उसके साम्राज्य के आन्ध्र देश में विस्तार का कोई प्रमाण नहीं मिलता। दरअसल यज्ञश्री शातकर्णी के उत्तराधिकारी केवल नाम मात्र के ही शासक थे तथा उनके काल में मौर्य शक्ति का बड़ी तीव्रता से विघटन हुआ। जहां अमीरों ने सातवाहनों से महाराष्ट्र को छीन लिया, वहीं इक्षवाकुओं तथा पल्लवों ने इसके पूर्वी क्षेत्रों पर अधिकार जमा लिया।

सातवाहन काल में दक्कन की स्थिति :-

राजनैतिक अवस्था :- यद्यपि सातवाहनों के विषय में हमारे स्रोतसीमित हैं फिर भी सातवाहन काल के शिलालेखों, सिक्कों तथा साहित्य से प्राप्त जानकारियों से हम सातवाहन काल की राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक परिस्थितियों का भली भांति अनुमान लगा सकते हैं। यदि राजनैतिक अवस्था की बात की जाए तो यह कहना होगा कि सातवाहन शासन बड़ा साधारण था तथा यह धर्मशास्त्रों में वर्णित धाराओं पर आधारित था। सातवाहनों ने राजतान्त्रिक प्रणाली को अपनाया हुआ था तथा राजा का पद वंशानुगत था। यद्यपि सातवाहन शासक एक से अधिक पत्नियां रखते थे फिर भी हमें सत्ता के लिए संघर्ष तथा साम्राज्य के विभाजन आदि का कोई प्रमाण नहीं मिलता। सातवाहन शासकों ने केवल राजा की ही उपाधी धारण की तथा साधारणतया राजत्व के दैविक सिद्धान्त को नहीं माना। राजा के पुत्र 'कुमार' कहलाते थे तथा उसका सबसे बड़ा पुत्र युवराज कहलाता था। यद्यपि सातवाहन राजाओं के नामों से ऐसा प्रतीत होता है कि सातवाहन राजतन्त्र मात तन्त्रात्मक था तथापि यहां यह बात महत्वपूर्ण है कि एक राजा की मत्यु के पश्चात उसका पुत्र ही राजसिंहासन सम्भालता था।

पूरा सातवाहन साम्राज्य जनपदों में विभक्त था। एक जनपद में कई आहार होते थे तथा यह आहार पल्लव काल के राष्ट्र अथवा आधुनिक जिले के समतुल्य हैं। शासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम थी।

सामाजिक अवस्था :- सातवाहन समाज चार अलग श्रेणियों में विभक्त था। महाभोज, महारथी तथा महासेनापति जो कि एक राष्ट्र अथवा जिले का प्रशासन सम्भालते थे, का स्थान समाज में सबसे ऊंचा था। दूसरी श्रेणी में अमात्य, महामात्य, भण्डागारिक, नैगम, (व्यापारी) सार्थवाह (व्यापारियों का मुखिया) तथा श्रेष्ठी (व्यापारिक श्रेणी का मुखिया) आते थे। वैद्य, लेखक, सुवर्णकार, गन्धिका (इत्र बेचने वाले) तथा हलकिया (किसान) – इनको मिला कर तीसरी सामाजिक श्रेणी बनती थी। सातवाहन समाज में चौथा तथा सबसे निम्न स्थान मालाकार (माली), वर्धकी (खाती), दासक (मछुआरा) तथा लोह वणिज (लुहार) आदि लोगों को प्राप्त था। सातवाहन समाज में कुल का मुखिया **कुटुम्बी** अथवा **गहपति** कहलाता था तथा उसे अनेकों विशेषाधिकार प्राप्त थे।

धार्मिक अवस्था :- सहनशील सातवाहन शासकों न हिन्दु तथा बौद्ध दोनों ही धर्मों को संरक्षण प्रदान किया। सातवाहन शासक स्वयं ब्राह्मण थे तथा उन्होनें ब्राह्मण काल में राजसूय, अश्वमेघ, आपतौर्याम, आगन्यधेय आदि यज्ञों के उल्लेख से भी ब्राह्मण धर्म के उत्कर्ष का पता चलता है। सातवाहन काल में शिव तथा कृष्ण काफी प्रसिद्ध हो गए थे तथा इनके अतिरिक्त संकर्षण, वासुदेव, सूर्य, चंद्रमा, इन्द्र तथा स्कन्ध आदि देवताओं की भी उपासना होती थी।

दक्कन से प्राप्त लगभग सभी गुफाएं साधारणतया बौद्ध धर्म को समर्पित हैं तथा इनको मूलतः सातवाहन काल में ही उत्कीर्ण कराया गया था। यह गुफाएं दो प्रकार की हैं :– **चैत्य गह** अर्थात बौद्ध पूजा स्थल तथा **लयण** अर्थात भिक्षुओं का निवास स्थान। इस काल में बौद्ध धर्म के उत्थान का प्रमाण भट्टी प्रोल, अमरावति, गोली तथा घन्ट शाल आदि स्थानों पर बौद्ध स्तूपों के निर्माण से भी मिलते हैं।

आर्थिक अवस्था :- इस काल में व्यापारिक श्रेणियों का बहुत अधिक महत्व था। सातवाहन समय में हमें धानिकों, कुम्हारों, कोलिकों (बुनकर) वंसकारों (बांस का काम करने वाले) आदि के संग अथवा श्रेणियों का उल्लेख मिलता है। समान व्यावसाय के लोगों को एक जुट करने के अतिरिक्त ये श्रेणियां बैंकों के रुप में भी काम करती थी जिनमें ब्याज के ऊपर धन (**अक्षयनिवि**) का निवेश किया जा सकता था। यदि इस काल की मुद्रा की बात की जाए तो यह पता चलता है कि चान्दी तथा ताम्बे के **कार्षापण** तथा सोने के **सुवर्ण** प्रचलित थे। सातवाहन काल का एक **सुवर्ण** सिक्का चान्दी के 35 **कार्षापण** के बराबर था। इस काल में व्यापार वाणिज्य का भी विकास हुआ तथा हमें विभिन्न श्रोतों से यह पता चलता है कि पश्चिमी देशों से आए माल से लदे जहाज भड़ौच, सोपारा तथा कल्याण की बन्दरगाहों पर रूकते थे। सातवाहन राज्यकाल में तगर तथा पैठान आन्तरिक व्यापार के दो मुख्य केन्द्र थे।

सातवाहन काल भारतीय कला की उन्नति के लिए भी विख्यात है। आन्ध्र प्रदेशों में गोली, भट्टीप्रोलु, घण्टशाल, नागार्जुन कौण्डा तथा अमरावति से प्राप्त सातवाहन काल के अनेकों स्तूप तथा प्रतिमाएं इसकी साक्षी हैं। चित्रकला के क्षेत्र में भी यह माना जाता है कि अजन्ता स्कूल का आरम्भ भी सातवाहनों के साथ ही हुआ। इस का प्रमाण हमें गुहा नं. X मिलता है। जिसे कि दूसरी शताब्दि ई. पू. माना जाता है।

साहित्य के क्षेत्र में भी सातवाहनों का योगदान अद्वितिय है। सातवाहन शासक हाल ने इसी काल में प्राकृत भाषा में गाथा **सप्तशती** की रचना की। लगभग इसी समय **गुणाढ़्य** ने भी प्राकृत ही में बहदकथा लिखी। परन्तु यह बड़ा आश्चर्यजनक प्रतीत होता है कि सातवाहन शासक जो कि ब्राह्मण थे उन्होंने संस्कृत भाषा को त्याग कर प्राकृत भाषा को अपनाया।

जो भी हो सातवाहन शासकों ने लगभग 450 वर्षों तक मध्यभारत एवं दक्कन को राजनैतिक एवं प्रशासनिक एकता, सामाजिक समानता तथा आर्थिक स्थिरता प्रदान की।

अध्याय-3

युनानी आक्रमण

सिकन्दर के आक्रमण के समय भारत की दशा

ईसा से चौथी सदी पूर्व विश्व इतिहास में एक बहुत महत्त्वपूर्ण घटना हुई वह था सिकन्दर का उदय। युनानी साम्राज्य में में एथेन्ज तथा स्पार्टा के वर्चस्व की समाप्ति के पश्चात मकदूनिया के एक छोटे से नगर राज्य का उदय प्रारम्भ हुआ। फिलिप के काल तक पहुँचते–2 इस राज्य ने अपने आस पास के सभी राज्यों को हरा कर एक बड़ा साम्राज्य खड़ा कर लिया। फिलिप के पुत्र सिकन्दर ने इस साम्राज्य को और भी बढ़ाया तथा पश्चिमी विजयों के पश्चात् उसने अपना ध्यान पूर्व की ओर किया तथा 326 ई. पूर्व में वह भारत के उत्तरपश्चिमी क्षेत्र तक आ पहुँचा। युनानी इतिहासकारों ने इस आक्रमण के बारे में विस्तार से लिखा है जबकि भारतीय साक्ष्यों में इसका वर्णन नहीं के बराबर है। भारत में उस समय नन्दों का एक बड़ा शक्तिशाली साम्राज्य था परन्तु पंजाब, सीमान्त प्रदेश उत्तर पश्चिमी भारत के अंग इसमें सम्मिलित नहीं थे। नंदों के वर्चश्व से दूर ये छोटे–2 राज्य जिनमें अधिकतर गणराज्य थे आपस में संघर्षरत थे इस कारण उत्तरपश्चिमी भारत की दशा असंतोषजनक थी। विदेशी आक्रमण के समय पर भी ये इक्ट्ठे मिल उसका सामना नहीं कर सके। साथ ही कुछ राज्यों ने तो सिकन्दर का साथ दे उससे काम को आसान भी बना दिया। उस समय के प्रमुख राज्य निम्नलिखित थे :–

1. अस्पेशियन :- अविसंग, कुनार और वजौर घाटियों में इनके राज्य थे जिनका समीकरण अश्वघ से किया जाता है। सर्वप्रथम इनका ही मुकाबला सिकन्दर से हुआ। इन लोगों ने अपनी राजधानी छोड़ पहाड़ों की गुफाओं में शरण ली। इसके पश्चात् सिकन्दर ने वजीर घाटी में प्रवेश किया।

2. गुरेईअन :- पंजकोर नदी की घाटी में रहने वाली यह जाति अस्पेशियन तथा अस्केश्नियन के मध्य रहती थी।

3. अस्केनोस या अस्केश्यिन :- इनका क्षेत्र सिन्धु नदी के पश्चिम में था तथा मालकन्द दर्रे के समीप मस्सग नामक नगर इनकी राजधानी था। ऐसा बताया जाता है कि इनकी सेना में बीस हजार घुड़सवार, तीस हजार पैदल सैनिक तथा तीस हाथी थे।

4. नीसा :- काबुल तथा सिन्धु के बीच का पर्वतीय क्षेत्र नीसा का राज्य था जो कि एक गणराज्य था। ऐरियन का कहना है कि यहां के निवासी भारतीय न होकर डायोनिसस के साथ आए हुए लोगों के वंशज थे।

5. प्यूकेलाटिस :- काबुल से सिन्धु के मार्ग के बीच पड़ने वाला यह राज्य पुष्कलावती था जो पेशावर के समीप स्थित था यह गान्धार की राजधानी रहा है। सिकन्दर के आक्रमण के समय यहां का राजा अस्तमहस्ति या अष्टक था।

6. तक्षशिला :- यह राज्य सिन्धु तथा झेलम नदियों के बीच स्थित था। स्ट्रैवो ने इस राज्य को एक सुशासित राज्य बताया है जिसकी राजधानी गंधार की राजधानी के पूर्वी भाग में थी।

7. अरसेक्स या अरसक :- इसे उरशा राज्य की संज्ञा भी दी गई है यह आधुनिक हजारा जिला तथा कम्बोज का एक भाग था।

8. अमिसार :- इस राज्य में आधुनिक काश्मीर तथा उत्तरपश्चिमी भारत का कुछ क्षेत्र थे। उरशा की भांति यह भी कम्बोज के कुछ क्षेत्र का ही भाग था।

9. पोरस राज्य या पुरूराज :- झेलम तथा चेनाब नदियों के बीच गुजरात तथा शाहपुर क्षेत्र इस राज्य में थे। स्ट्रैवो के अनुसार इस विशाल राज्य में 300 नगर थे। यहां के राजा युनानियों ने पोरस कहा था। डायोडोरस का कथन है कि इसकी सेना में पचास हजार सैनिक, तीन हजार घुड़सवार, एक हजार से अधिक रथ तथा एक सौ तीस हाथी थे।

10. ग्लौगनिकाई या ग्लानिकाई :- चेनाब नदी के पश्चिम में स्थित इस राज्य में अनेक समद्ध नगर थे। ऐसा बताया गया है कि इनमें कुछ नगरों की जनसंख्या दस हजार से भी अधिक थी।

11. गान्दरिज या गैण्डरिज :- चेनाब तथा रावी नदियों के मध्य स्थित यह राज्य था। जो कि इस काल में अधिक महत्त्वपूर्ण न था।

12. अद्रेस्ताई :- रावी के पूर्व में स्थित यह राज्य शायद महाभारत में वर्णित आद्रिज ही था। इसकी राजधानी पिम्प्रम थी।,

13. कठोई या काठ :- झेलम तथा चेनाब के मध्य कठ या काठ नामक जाति रहती थे। गणतन्त्रात्मक शासन वाली यह जाति युद्ध में निपुण थी। कुछ इतिहासकार इस जाति को रावी तथा चेनाब के बीच के क्षेत्र में रखते हैं।

14. सौभूति या सौभूमि राज्य :- यह राज्य झेलम के समीप के क्षेत्र में था। स्ट्रैवो के अनुसार इस राज्य में झेलम से सिन्धु तक का क्षेत्र था। कर्टियस का कहना है कि यहां के लोग नियमित जीवन बिता रहे थे तथा यहां का शासन काफी अच्छा था।

15. फेगलस :- इस गणतन्त्रात्मक राज्य का क्षेत्र रावी तथा ब्यास नदियों के बीच स्थित था। यह शायद संस्कृत का शब्द है जो क्षत्रियों का एक गोत्र था। इसका समीकरण अब तक संतोषजनक रुप से नहीं हो पाया है।

16. सिबोई या सिबी :- शिवी या सिबी जनजाति को वर्णन भारतीय साहित्य में काफी हुआ है इनका क्षेत्र झेलम तथा चेनाब के बीच स्थित था।

17. क्षद्रक :- यह जाति झेलम और चेनाव के संगम के समीप के क्षेत्र में रहती। यह गणतन्त्रात्मक शासन वाला राज्य के लोग अपनी युद्धकला में दक्ष थे।

18. मालव :- रावी नदी के निचले भाग के आसपास रहने वाली यह जाति थे जिनका उल्लेख क्षुद्रकों के साथ ही किया जाता है। कर्टियस के अनुसार क्षद्रक तथा मालवों के पास 90,000 पैदल, 10000 अश्वारोही सैनिक तथा 900 रथ थे। पाणिनी ने भी मालवों का शास्त्रोप जीवी संघ कहा है।

19. अम्बष्ठ :- चेनाब के निचले भागों में मालव जाति के निकट का क्षेत्र इन लोगों का था। महाभारत में भी इनका उल्लेख शिबी, क्षुद्रक, मालव इत्यादि गणराज्यों के साथ किया गया है। सिकन्दर के आक्रमण के समय यह एक शक्तिशाली राज्य था जिनके पास आठ हजार पैदल, तीन हजार अश्वारोही सैनिक तथा पांच सौ रथ थे।

क्षत्री या अक्षयुथोई :- चेनाब और रावी के बीच का क्षेत्र इस जनजाति का क्षेत्र था। मैक्त्रिण्डिल ने अक्षययोई को क्षत्रिय शब्द का अपभ्रंश माना है।

वसाति या ओस्सोडिआई :- ओस्सोडिआई का का समीकरण वसाति से किया गया है जो चेनाब तथा सिन्धु नदियों के बीच रहने वाली एक जनजाति थी।

मस्सनोई या मूषक :- आधुनिक कोट क्षेत्र बहावलपुर क्षेत्र के आस पास सिन्धु नदी के तट पर रहने वाली जाति मूषक थी। शूद तथा मूषिक को इक्ट्ठा वर्णित किया गया है। ऐरियन के अनुसार मूषिक नगर राज्य पर ब्राह्मणों का प्रभुत्व था।

पैटलीन या प्रस्थि :- प्रस्ति या प्रस्थि का समीकरण पैटलीन से किया गया है जो सिन्धु नदी के पश्चिम में आधुनिक लरकाना जिले के आसपास रहते थे।

सैम्बस :- इसका समीकरण क्षाम्ब से किया गया है। इसकी राजधानी सिन्दीमान (सेहबान) थी।

इस प्रकार हम देखते है कि सिकन्दर के आक्रमण के समय में उत्तर पश्चिमी भारत छोटे–2 राज्यों में बंटा हुआ था जिनमें से कई गणराज्य तथा कई राजतन्त्रात्मक शासन वाले थे कुद तो समद्ध राज्य थे तथा कई अपनी सैनिक शक्ति के लिए जाने जाते थे परन्तु ये सभी आपस में लड़ते रहते थे तथा विदेशी आक्रमण का मुकाबला संयुक्त रुप से नहीं कर पाए।

सिकन्दर का भारत पर आक्रमण

सिकन्दर ने बैक्ट्रिया की जिय के पश्चात् ई० पू० 327 में हिन्दुकुश पार कर कोहीदामन (Kohii-Daman) की घाटी में प्रवेश किया। बैक्ट्रिया के आक्रमण के पूर्व ही यहाँ पर सिकन्दर ने अलेक्जेन्ड्रिया नाम के नगर की स्थापना की थी। यहां पर अपनी स्थिति दढ़ करने के पश्चात सिकन्दर ने आधुनिक जलालाबाद के पश्चिम में स्थित निकाई नामक नगर की ओर प्रस्थान किया। तक्षशिला नरेश आम्भी ने हाथियों के सहित अनेक बहुमूल्य उपहार नतमस्तक होकर सिकन्दर की सेवा में अर्पित किये थे और बिना किसी संकोच के उसकी अधीनता स्वीकार की थी। इससे सिकन्दर को भारत का प्रवेश–द्वार खुला पाया। सिकन्दर द्वारा यहां पर सेना का विभाजन किया। पार्डिास को प्रर्याप्त सैन्यबल के साथ काबुल नदी की घाटी के द्वारा खैबर दर्रे से सिन्धु नदी तक सीधे पहुँचन को कहा गया मार्ग में पुष्कलावती के राजा हस्ती (Astes) ने तीस दिन तक यूनानियों का सामना किया। अन्त में लड़ते हुए वह वीर गति को प्राप्त हुआ। अन्य कबीलों ने आत्म–समर्पण कर दिया। पार्डिक्कस को इस कार्य में तक्षशिला–नरेश आम्भी से पर्याप्त सहायता मिली थी। दूसरे दल ने अवशिष्ट सैन्य बल के साथ सिकन्दर ने पर्वतीय दुर्गम पथ का अनुसरण किया। एरियन से ज्ञात होता है कि पर्वतीय प्रदेशों में एस्पेसियन (Alpasians), गौराइयन (Gaurainans) तथा अस्सकेनियन (Assakenians) रहते थे। कदाचित् एस्पेसियन और अससकेनियन एक ही शब्द के रूपान्तर हैं। कतिपय विद्वान् अश्मक के स्थान पर अश्वक मूल रुप बतलाते हैं। इसकी पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि यूनानियों ने इस शब्द का अनुवाद हिप्पसिआई(Hippasioi) से किया है। गौराइयन लोगों के विषय में कुछ निश्चित ज्ञात नहीं है किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उनका नाम गौरी नदी पंचकोर पर पड़ा हो और वे अश्मक अथवा अश्वक लोगों से घनिष्टतया सम्बन्धित थे। यूनानी पुस्तकों ने गौरी नदी गौरेमोस शब्द से अभिहित हो। भीषण युद्ध के पश्चात् अश्वक–अश्मक परास्त हुए।

अज्ञातनाम जाति :- कुनर की घाटी में एक अज्ञातनाम नगर की सेना ने सिकन्दर का डट कर मुकाबला किया तथा सिकन्दर की भुजा को भेदता हुआ शत्रु एक तीर निकल गया। प्रतिक्रिया स्वभावतः भीषण होती। समस्त नगर धराशायी कर दिया गया और सभी

निवासी तलवार के घाट उतार दिये गये, केवल वे ही अवशिष्ट रह सके जिन्होंने पर्वतमालाओं में जाकर शरण ली। इस जिले के पूर्व अश्वका ने सिकन्दर के इस आक्रमण का समाचार पाते ही अपनी राजधानी त्याग कर गिरिकन्दराओं की शरण ली। तत्पश्चात् सिकन्दर ने वजौर की घाटी में प्रवेश किया। दूसरे मार्ग से भेजे हुए सैन्यबल का सिकन्दर से यहीं पर पुनर्मिलन हुआ। कर्टियस हमें बतलाता है कि अश्वकों को पराभूत करने के पश्चात् सिकन्दर न्यासा नगर की ओर बढ़ा। नीसा नगर के निवासियों ने सिकन्दर का किंचितमात्र भी विरोध न किया, प्रत्युत उसकी सहायता की।

मस्सग :- इसके पश्चात गौरी नदी (पंजकोर) को पार कर सिकन्दर मस्सग (Massaga) नगर के सम्मुख पहुँच गया। मससग पर चार दिनों तक घेरा पड़ा रह। अन्त में सिकन्दर के साथ युद्ध–विराम वार्ता की गई। किन्तु विराम के अनन्तर जब वे अपने–अपने गह जाने का उद्यत हो रहे थे तभी सिकन्दर ने निर्दयतापूर्वक उनमें से अधिकांश को मौत के घाट उतार दिया। डियोडोरस और प्लूटार्क दोनों ने इस हृदयहीन कार्य की निन्दा की है।

रक्षकों के नष्ट हो जाने के पश्चात् मस्सग का पतन कोई कठिन कार्य नहीं था। एरियन के अनुसार मस्सग की महारानी और राजकुमारी को बन्दी बनाया गया।

पुष्कलावती :- स्वात की घाटी में वजिरा (वीरकोटि) तथा ओरा (उदग्राम) पर अधिकार करने के बाद सिकन्दर पेशावर की घाटी की ओर अग्रसर हुआ। सिकन्दर ने सिन्ध के पश्चिम के समस्त भाग पर क्षत्रप निकेनार (Nicanor) को नियुक्त किया और यहीं पर पुष्कलावती की, जो गन्धार की प्राचीन राजधानी थी, अधीनता की स्वीकृति सिकन्दर को मिली।

सिकन्दर ने अभी सिन्ध को पार नहीं किया था। इसके पूर्व अभी उसकी आर्नोस (Aornos) पर स्थित अस्सकेनाई लोगों से निपटना था। स्टीन (Stein) ने इस स्थान का समीकरण पर्वतमालाओं के मध्य में स्थित पीर–सार (Pir-sar) तथा उनसार (Un-sar) से किया है। आर्नोस पर अधिकार करना कोई सरल कार्य नहीं था। एरियन ने इस स्थान का विस्तत वर्णन किया है। वह बतलाता है कि 6,600 फीट ऊँचे चट्टान पर यह स्थान स्थित था और इसका घेरा 22 मील था। दक्षिणी सीमा पर सिन्ध की नदी बहती थी। इस पर पहुँचना अत्यन्त कठिन था, क्योंकि पहुँचने के लिए एक ही मार्ग था, वह भी दुर्गम। दोनों पक्षों में सन्धि–वार्ता चली। परन्तु जब भारतीय अपने घरों को वापस जा रहे थे तब सिकन्दर ने सब को बिना किसी रोक के बढ़ने दिया, अन्त में चुने हुए सात सौ सैनिकों के सहित उसने उन पर अप्रत्याशित आक्रमण किया। अधिकांश भारतीय मारे गये और सिकन्दर का पूर्ण अधिकार आर्नो पर हुआ। सिकन्दर ने वहाँ पर देवताओं की पूजा की और एक दुर्ग का निर्माण कराया। यह घटना ईसा पूर्व 326 के आसपास रखी जा सकती है। वहाँ उसने शशिगुप्त को शासक नियुक्त किया।

सिन्धु से झेलम तक :- एरियन हमें बतलाता है कि आर्नो से सिकन्दर ने भागे हुए उन आर्नो निवासियों का पीछा किया जिसका नेतत्व मस्सग में मत्यु को प्राप्त किसी प्रधान का भ्राता कर रहा था। जब सिकन्दर ने हाथियों ड्यर्टा (Dyrta) पहुँचा तो वह नेता हस्तियों को छोड़ कर सिन्ध के पार आ गया था। बाद में सिकन्दर ने हाथियों को पकड़वा मँगाया। ओहिन्द के पुल पर 16 पड़ावों के पश्चात् पहुँचने पर सिकन्दर ने पूर्ण एक मास का विश्राम अपने सैनिकों को दिया। तक्षशिला नरेश आम्भी यहाँ पर सिकन्दर के आगमन की प्रतीक्षा कर रहा था। उसने सिकन्दर के समक्ष आत्म समर्पण कर दिया तथा 200 रजत मुद्राएँ, 3090 पुष्ट वषभ, 1000 भेड़े और 30 हाथी एवं 700 अश्वारोही इत्यादि उपहार में दिए हैं। आम्भी कतिपय मित्रों के साथ, सैन्यरहित होकर सिकन्दर के पास गया और अपनी दीनता तथा अधीनता उसके सामने स्वीकार की। सिकन्दर ने अम्बी उसका राज्य उसके पास ही रहने दिया तथा इस तरह उसे एक साथी मिल गया।

तक्षशिला में तीन दिनों तक सिकन्दर ने मनारंजन किया तथा चौथे दिन सिकन्दर तथा उसके साथियों को स्वर्ण और रजत के सिक्के दिये गये। सिकन्दर ने प्रत्युत्तर में फारस में प्राप्त अनेक बहुमूल्य सामग्रियों तथा अश्वों को प्रदान किया। अनेक भारतीय नरेशों ने सिकन्दर की अधीनता स्वीकार कर ली, किन्तु वीर पोरस ने सिकन्दर के पास प्रति–सन्देश भेजा कि वह सिकन्दर से साक्षात् अवश्य करेगा, किन्तु सशस्त्र और रणस्थल में। पोरस का राज्य विस्तत था और उसके अभ्युदय ने पास–पड़ोस के राजाओं के हृदय में खलबली मचा रखी थी। सिकन्दर ने कोनस को सिन्ध नदी के पुल को तोड़ कर झेलम पर लगाने की आज्ञा दी। फिलिप को तक्षशिला का क्षत्रप बनाया गया। सिकन्दर स्वयं सेना को लेकर तक्षशिला के पाँच सहस्त्र सैनिकों के स्वामी आम्भी के साथ झेलम की ओर आगे बढ़ा। मार्ग में सिकन्दर ने पोरस के भतीजे स्पिटेसीज (Spitaces) को अभिभूत किया और वितस्ता अथवा झेलम (Hydaspes) के तट पर पहुँचा।

पोरस से युद्ध

सिकन्दर की सेना–झेलम के दक्षिण–तट पर सिकन्दर ने अपना शिविर स्थापित किया। तट की दूसरी ओर दूर तक पोरस ने अपनी समस्त सेना को एकत्र कर रखा था। पोरस की ओर से इस बात का प्रबन्ध था कि जिस क्षण सिकन्दर नदी को पार करने की चेष्टा करे, उसी क्षण पोरस को समाचार मिल जाय जिससे दूर तक विस्तत सैन्य–बल को शत्रु–प्रतिरोध में लगाया जा सके। पोरस की

सेना साधारण एवं अल्प न थी। उसके राज्य के जितने समद्धिशाली ग्राम थे, उन सभी के चुने हुए उत्साही सैनिक इस राष्ट्रीय संकट का सामना करने के लिए वहाँ उपस्थित थे। झेलम नदी बर्फ के पिघलने के कारण इस समय मई के महीन में बाढ़ पर थी। एरियन से हमें ज्ञात होता है कि 4000 अश्वारोही, 300 रथ, 200 हाथी तथा 30,000 पदाति पोरस और 120 रथ उसके पुत्र की सेना में थे जो पहले ही सिकन्दर से युद्ध करने के लिए भेजी गई थी। प्रचुर मात्रा में पोरस ने सेना शिविर में ही छोड़ रखी थी। इतनी विशाल सेना के सम्मुख सिकन्दर का साहस नहीं हुआ कि वह नदी पार कर सके। सिकन्दर की सेना अनेक तत्वों का सम्मिश्रण थी। उसमें मकदूनिया के दीर्घभालाधारी पदाति, कुशल अश्वारोही, सिकन्दर के साथी जो मकदूनिया के अभिजात वर्गीय थे, तथा कुछ भाड़े पर सैनिक थे।

जहाँ तक अश्वारोही सेना का प्रश्न है, सिकन्दर की सेना में पोरसा की सेना की अपेक्षा निश्चय ही अधिक अश्वारोही थे, किन्तु अन्य अंग संख्या में पोरस की ओर अधिक थे। परम्परानुसार कहा जाता है कि 1,20,000 व्यक्ति सिकन्दर की शिविर में थे, किन्तु इस संख्या में भत्य, व्यापारी, वैज्ञानिक, मकदूनिया के सैनिको की एशियाई पत्नियाँ और उनकी सन्तानें सम्मिलित हैं। टार्न के अनुसार युद्ध करने वाले सैनिकों की संख्या 35000 थी।

सिकन्दर इसको भली–भांति समझता था कि पोरस जैसे सावधान और शक्तिशाली शत्रु के सामने नदी को पार करना प्रायः असम्भव था। अतः जैसा कि एरियन कहता है, सिकन्दर को मार्ग चुराना पड़ा। प्रथम, तो उसने अपनी सेना को कई भागों में विभक्त कर दिया जिससे पोरस का ध्यान बँट जाय। सिकन्दर शत्रु को इस प्रकार दिखलाना चाहता था कि वह नदी पार करने के लिए किसी सरल मार्ग के अन्वेषण में था। वह यह भी दिखलाना चाहता था कि शत्रु को इस बात का विश्वास हो जाय कि सिकन्दर नदी उसी समय पार करेगा जब नदी की धारा कुछ शान्त होगी। सिकन्दर की इस प्रकार की योजना सफल हुई और शत्रु को यह पूर्ण विश्वास हो गया कि सिकन्दर रात्रि में नदी पार नहीं करेगा। पोरस की सेना उदासिन हो गई।

इतना करने के पश्चात् सिकन्दर ने उपने शिविर से 16 मील ऊपर नदी की ओर एक स्थान चुना जहाँ से नदी को पार किया जाय। नदी का घुमाव कुछ ऐसा था कि जो स्थान सिकन्दर ने चुना था वह पोरस के शिविर से दष्टिगोचर नहीं होता था। मध्य में एक झाड़ झंखाड़मय द्वीप पड़ता था और नदी का दूसरा तट भ्रमोत्पादक था। इसके अतिरिक्त सिकन्दर के सैनिकों द्वारा उस पर प्रतिदिन रंगरेलियाँ मनाई जाती थी जिनके कारण पर्याप्त शोरगुल होता था। इसका परिणाम यह हुआ कि नदी पार करने के लिए जो तैयारियाँ करनी पड़ीं उनसे जनित अशान्ति पोरस के सैनिकों के लिए कोई असामान्य घटना न थी– ऐसा प्रति रात्रि को हुआ ही करता था। प्रकृति का सहयोग अन्य कारण था जिसने पोरस के सैनिकों को अधिक जागरूक न बनने दिय। प्रभूत वर्षा, बिजली की कड़क तथा झंझावात के कारण शस्त्रों की खनखनाहट तथा सैनिको को दी गई सैनिक–आज्ञाएँ सूनी न जा सकी।

सिकन्दर अपने क्रिया–कलाप में फूँक–फूँक कर पैर रखता था। प्रमुख शिविर में तक्षशिला की सेना तथा क्रेटरस के नेतत्व में एक विश्वसनीय सेना छोड़ दी गई थी। इन पीछे छोड़े हुए सैनिकों को यह आज्ञा दी गई थी कि वे वहाँ तब तक रहें जब तक नदी की दूसरी ओर हाथी दिखाई पड़ें और ज्यों ही हाथी हटाये जायँ वे शीघ्रतिशीघ्र पार करने की चेष्टा करें। द्वीप औश्र प्रमुख शिविर के मध्य में तीन सेनापतियों– मिलीगर (Meleager), एटलस (Attalus) और जार्जियस (Gorgias) के अधीन अश्वारोही तथा पदाति रखे गये थे। उनको यह आज्ञा थी कि ज्यों ही वे भारतीयों को युद्धरत देखें त्योंही नदी को पार करें।

झेलम से रावी तक

इतनी तैयारियों के पश्चात् सिकन्दर लगभग 12000 सेना के साथ पार उतरा। जब वह उतरने से थोड़ी दूर रह गया तब भारतीय प्रहरियों को इस घटना का परिज्ञान हुआ। अब झंझावात का शमन हो चुका था। वितस्ता के तट पर प्रकृतिजन्य झंझावात समाप्त हो चुका था, मानवजन्य झंझावात शेष था। सिकन्दर ने उत्तर कर अश्वाराहियों का नेतत्व किया और आगे बढ़ा, किन्तु उसका पथ अभी संकट–शून्य नहीं था। उसको अविलम्ब पता चला कि नदी को पूर्णतया पार करना अभी शेष था। बीच में एक नाला था जिसको बड़ी कठिनाई से सेना ने पार किया। पदातियों के वक्षस्थल तक जल में घुस कर तथा अश्वारोहियों के अश्वों को आकण्ठ प्रवेश करा कर इसको पार करने के बाद सिकन्दर ने इसके पश्चात् अपनी सेना को एक क्रम में खड़ा किया। दक्षिण पार्श्व में अंगरक्षक तथा अश्वारोही, उनके आगे वे अश्वारोही जो शर–सन्धान करने वाले थे और उनके पश्चात् पदाति थे। छोर पर धनुर्धारी और भालायुक्त सैनिक खड़े किये गए।

झेलम का युद्ध :- तत्पश्चात् अपने 500 द्रुतशाली अश्वारोही सेना के साथ सिकन्दर शीघ्रता से आगे बढ़ा। उसे अपने अप्रतिमवीर अश्वारोहियों के ऊपर पूर्ण विश्वास था और उसे यह भी विश्वास था कि उनकी सहायता ही से पोरस की समस्त सेना पराभूत कर देगा और यदि नहीं, तो कम से कम इतना तो वह अवश्य कर सकता है कि पदाति सेना के आने तक शत्रु को युद्ध–रत रखे, औश्र यदि उसके अचानक इस पार आने की सूचना पर शत्रु ने लियन किया तो वह शत्रु की पर्याप्त क्षति कर सकेगा। किन्तु पोरस कायर नहीं था। नदी पार करने का समाचार पाते ही उसने तुरन्त अपने पुत्र के नेतत्व में 2000 अश्वारोही तथा 120 रथ भेजे। किन्तु उसके

पहुँचन के पूर्व ही सिकन्दर नाले को भी पार कर चुका था। संघर्ष में पोरस–पुत्र की पराजय निश्चित थी। 400 भारतीय धराशायी हुए। इनमें राजकुमार भी सम्मिलित था। वर्षा से अभिषिक्त भूमि पर रथ अधिक कार्य न कर सके। यह समाचार जब पोरस को मिला कि सिकन्दर ने स्वयं नदी पार कर ली तो क्षण मात्र के लिए पोरस को चिन्ता हुई कि क्रेटरस और सिकन्दर दोनों को किस प्रकार रोके किन्तु शीघ्र ही उसने निर्णय किया कि कुछ हाथियों को क्रेटरस का प्रतिरोध करने के लिए छोड़ दिया जाय, शेषे के सहित सिकन्दर की ओर प्रस्थान किया जाय। पोरस को अपने हाथियों पर पूर्ण भरोसा था। अतः उसने हाथियों को सब से आगे रखा था। उसके पीछे पदाति–सैन्य था। दोनों ओर अश्वारोही थे जिनके आगे रथ स्थित थे। सिकन्दर अश्वदल के साथ दक्षिण पार्श्व में खड़ा हुआ और कोनोस को दो टुकड़ियों के सहित वाम–पार्श्व की ओर खड़ा किया। उसकी योजना थी कि वह शत्रु के वाम पार्श्व पर आक्रमण करेगा, और जब वाम पार्श्व की रक्षा के लिए दक्षिण पार्श्व का अश्वदल आयेगा तो कोनोस पष्ठभाग से टूट पड़ेगा। सिल्यूकस मुख्य दल के सहित तब तक युद्ध में भाग नहीं लेगा जब तक भारतीय अश्वदल तथा पदाति अस्त–व्यस्त ने कर दिए जायँ। सिकन्दर ने जैसी गणना की थी वैसा ही हुआ। भारतीय अश्वदल को दो मोर्चों पर लड़ना पड़ा सिकन्दर तथा कोनोस दोनों से। उनकी पंक्ति नष्ट हो गई। उसी समय सिकन्दर ने घोर आक्रमण किया। अश्वदल को विवश होकर हाथियों के पीछे शरण लेना पड़ा। अब हाथी आगे थे। उधर सेल्यूकस ने आक्रमण किया। पहले तो इन विशालकाय जीवों ने शत्रु के पक्ष में कुहराम मचा दिया और अपने पक्ष के अश्वदल को सँभलने का एक स्वर्ण अवसर प्रदान किया, किन्तु सिकन्दर के शीघ्र पुनराक्रमण ने पुनः अश्वदल की पंक्ति को नष्ट कर दिया। इस बार संघर्ष और अधिक सीमित स्थान में हुआ और हाथी व्रणों से व्याकुल होकर मित्र और शत्रु को समान रुप से हानि पहुँचाने लगे। यूनानी सेना अधिक खुले स्थान में थी और हाथियों के आक्रमण पर स्थान छोड़ देती थी। पीछे घुमने पर ये ही आक्रामक विशाल हाथी उनके शर का लक्ष्य बनते, अन्ततोगत्वा अधिकांश हाथी मारे गये और परिश्रम एवं व्रण से जर्जरित अवशिष्ट हाथी व्यर्थ हो गये। अन्तिम बार सिकन्दर ने अश्वारोही और पदाति को आक्रमण करने की आज्ञा दी। विजय–श्री ने सिकन्दर का वरण किया। इस समय तक यूनानी सेना उस पार से भी आ गई थी और उसने शत्रुपक्ष को प्रभूत क्षति पहुँचाई।

इसमें तो किंचित्मात्र भी सन्देह नहीं कि भारतीयों की क्षति प्रचुर मात्रा में हुई। किन्तु शत्रु–हानि भी उनकी संख्या के अनुसार कम नहीं हुई और उन्हें झेलम तट पर भारतीय वीरता का प्रमाण मिल गया था। वितस्ता–तट के संग्राम के पश्चात् सिकन्दर के जिन सेनापतियों ने उसके अग्रसर होने का खुलकर विरोध किया उनके नेत्रों के सामने अवश्य ही भारतीय हाथियों द्वारा रौंदी हुई अपनी सेना का दश्य नाचता रहा होगा और वर्षों पश्चात् जिस सेल्यूकस ने केवल 500 हाथियों के बदले प्रान्त के प्रान्त (एरियाना, जेड्रोशिया, असकोशिया, पैरिपेनिसदाई) देने को प्रसतुत हो गया था, उसने इन हाथियों की करामात इसी झेलम के युद्ध में देखी थी।

पुरु की पराजय-पुरु से मैत्री :- एक विशालकाय हाथी पर आसीन पोरस युद्ध के अन्तिम क्षण तक लड़ता रहा। दक्षिण हस्त के आहत होने पर वह युद्धस्थल को छोड़ रहा था, किन्तु सिकन्दर ने उसकी वीरता की सराहना की थी और उसकी इच्छा थी कि इस वीर का जीवन नष्ट न हो। उसने आम्भी को भेजा। इस प्राचीन शत्रु को देखकर पोरस की भुजा एक बार फड़क उठी और बिना कुछ सुने उसने प्रहार किया। गुणग्राही सिकन्दर इस पर भी क्रुध न हुआ और उसने दूसरे दूतों को भेजा। अन्त में उसने सिकन्दर का सन्देश सुना। प्यास और श्रम से क्लेशित पोरस हाथी से उतरा और एक घूँट जल पीने के पश्चात् सिकन्दर के सामने लाया गया। सिकन्दर ने पोरस के व्यक्तित्व की प्रशंसा की। ग्रीका–रोमन लेखक बतलाते हैं कि जिस साहस और विश्वास के साथ पोरस उपस्थित हुआ उससे सिकन्दर आश्चर्याभिभूत हो गया। सिकन्दर ने पोरस से पूछा कि वह किस प्रकार के व्यवहार की आशा करता था। अदम्य साहस और निःसंकोच के साथ पोरस ने उत्तर दिया, ''नपोचित्त व्यवहार की।'' और दूसरी बार पुनः पूछे जाने पर पोरस ने निःशक कहा कि उसे जो कुछ कहना था, उसने सब कुछ उसी एक वाक्य में कह दिया। इस निर्भीकतापूर्वक उत्तर से संतुष्ट होकर सिकन्दर ने न केवल उसको उसका राज्य प्रत्यार्तित कर दिया वरन् उस और भी आस–पास के राज्यों का स्वामी बना दिया। इस प्रकार तक्षशिला–नरेश का प्रबल प्रतिद्वन्द्वी वह बना ही रहा। सिकन्दर की इसमें कदाचित् यही नीति थी कि वे दोनों एक दूसरे को अनुचित कार्य करने से सदैव रोकेंगें। आखिर सिकन्दर भी एक प्रबल कूटनीतिज्ञ था। यह युद्ध सम्भवतः ई. पू. 326 को मई मास में हुआ, यद्यपि यह तिथि निश्चित नहीं है। सिकन्दर ने देवों को बलि प्रदान किया और निकाइ (Nikaia) तथा बुकेफेला (Boucephela) नामक दो नगरों की स्थापना की। उसकी यह हार्दिक इच्छा थी कि उसका सुदूर विस्तत साम्राज्य इन्हीं नगरों में माध्यम से एक सूत्र में आबद्ध रहे। क्रेटरस को दुर्ग बनाने तथा इन नगरों के नवनिर्माण के लिए कुछ सेना के साथ छोड़ दिया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि सिकन्दर ने इस महत्वपूर्ण संग्राम की स्मति में एक प्रकार की मुद्रा का प्रचलन किया जिस पर पोरस के हाथी का पीछा करते हुए उसको उछलते हुए अश्व पर प्रदर्शित किया गया है। इस प्रकार की दो मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं।

चिनाब से रावी तक

ग्लौगनिकाइ : निकेनोर की हत्या :- चिनाब के पश्चिमी तट पर स्थित ग्लौगनिकाइ (ग्लौचुकायन) को, जो लोग स्वतन्त्र थे तथा

जो 37 नगरों में निवास करते थे, पराजित कर सिकन्दर ने पोरस के अधीन कर दिया। इस स्थान से आम्भी को अपनी राजधानी वापस कर दिया गया। अभिसार के राजा ने अपने भ्राता को बहुमूल्य उपहारों के सहित सिकन्दर के पास भेजा, किन्तु सिकन्दर ने उसको स्वयं आने की आज्ञा भेजी। इसी समय आर्नो के शशिगुप्त ने यह सन्देश भेजा कि अस्सकेनोई लोगों ने विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया और गवर्नर निकेनर को मार डाला। फिलिप से विद्रोह दमन का आदेश मिला।

कठ :– रावी को पार करने के पश्चात् सिकन्दर की मुठभेड़ कठों सक हुई जो प्रसिद्ध योद्धा थे और जिन्होंने अपनी राजधानी संगल की रक्षा के हुतु अनेक मित्रों की सहायता प्राप्त कर ली थी। अधष्ट लोगों (Adraistai), जायसवाल के अनुसार (अरिष्ट), ने सिकन्दर की अधीनता स्वीकार कर ली थी, किन्तु कठों ने नीति और वीरता से सिकन्दर का जम कर सामना किया, यहाँ तक की सिकन्दर के अश्वारोही वहाँ पर निष्फल से होने लगे। सिकन्दन ने अन्त में पदाति सेना की सहायता से बड़ी कठिनाई एवं घोर संग्राम के पश्चात् भारतीयों नगर की दीवालों में शरण लेने के लिए विवश किया। इसी समय पोरस भी 5000 भारतीय सैन्य तथा अनेक हाथियों के साथ आ पहुँचा। सिकन्दर ने नगर को घेर लिया। रात्रि में कठों ने एक झील के द्वारा भागने का निश्चय किया। सिकन्दर को परिज्ञात हो गया और उसने छापा मार कर बहुतों को मौत के घाट उतार दिया। नगर धराशायी कर दिया गया। कठों के ऊपर विजय सिकन्दर को बहुत महँगी पड़ी, क्योंकि ग्रीक लेखकों के वर्णन से भी यह ज्ञात होता है कि इस युद्ध में असामान्य रुप से यूनानी मरे ओर आहत हुए।

सिकन्दर की वापसी

ब्यास (Hyphasis) के तट पर पहुँचने पर सिकन्दर से भगल (यह नाम पाणिनी में आता है) नामक एक सरदार ने नन्द–साम्राज्य की सीमा और विसतार का वर्णन किया जिसका समर्थन पोरस ने भी किया। ऐसा समाचार मिला था कि ब्यास के उस पार एक अत्यन्त उर्वरा भूमि वाला राज्य था जहाँ पर उत्कृष्ट शासन–प्रणाली थी और जहाँ समद्धिशाली वीर कृषक निवास करते थे। नन्द साम्राज्य के वर्णन ने सिकन्दर की इच्छा और अभिलाषा को और भी जागत किया, किन्तु उसकी सेनाओं का, विशेषतः मकदूनिया की सेना का दिल दहल गया। (1) उनके सम्मुख वे सभी आपत्तियाँ साकार हो उठी जिनको उन्हें भारत–प्रवेश के पश्चात् उठानी पड़ी थीं। (2) इसके अतिरिक्त उन्हें घर छोड़े कई वर्ष हो गये थे। (3) सिकन्दर ने पदाधिकारियों की एक सभा का आह्वान किया और अनेक प्रकार के प्रलोभनों को दे कर उनके सुषुप्त उत्साह एवं अभिलाषा को जागत करने का भगीरथ प्रयत्न किया, किन्तु सब व्यर्थ। सभा में शान्ति छाई रही। (4) अन्त में कोनोस ने सभी का प्रतिनिधित्व करते हुए सिकन्दर को समझाया कि बहुत से युद्ध में समाप्त हो गये थे, बहुत से रोग–ग्रस्त हो कर इस संसार से चल बसे थे तथा जो अवशिष्ट थे उनके हृदय में अपने पुत्र, भार्या, पिता, माता अपने गह और अपनी मातभूमि को देखने की उद्दाम लालसा थी।

कोनोस ने यहाँ तक कहा कि प्रथमतः सिकन्दर मातभूमि लौट चले और यदि इच्छा हो तो पुनः आये। कोनोस के इस लम्बे भाषण का समर्थन सारी सेना ने किया। सिकन्दर अपनी सेना की इस साहसहीनता पर अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और आवेश में आ कर उसने अपने सैनिकों से कहा कि वह तो आगे बढ़ेगा, जिसकी इच्छा हो चले और जिसकी इच्छा न हो वह वह लौट जाय और जाकर अपने मित्रों से कह दें कि वह अपने राजा को शत्रुओं के बीच छोड़ आया है। सिकन्दर पूरे तीन दिनों तक अपने शिविर मे बन्द रहा, किन्तु सैनिकों ने अपना विचार न छोड़ा। (5) सिकन्दर को स्पष्ट हो गया कि झेलम और संगल के युद्धों के पश्चात् उसके का दिल हार गया था और वे अब किसी भी प्रकार आगे नहीं बढ़ सकते थे। (6) परन्तु सबसे बड़ा कारण विशाल नन्द–साम्राज्य की सेना का भय था। अन्त में विवश होकर सिकन्दर को प्रत्यावर्तन की घोषणा करनी पड़ी। सेना ने इस घोषणा का स्वागत प्रसन्नता से किया।

ब्यास के पश्चिम का भाग पोरस के अधीन किया गया था। जब सिकन्दर चिनाब पर तैयारियाँ कर रहा था तब अभिसार–नरेश ने एक दूत भेजा। वह स्वयं अस्वस्थ था, जैसा कि सिकन्दर के सेनापतियों ने भी बतलाया। अभिसार–नरेश को अपने राज्य का स्वामी बना दिया था। चिनाब पार करके सिकन्दर झेलम पर लौटा। कठों के पास ही कहीं सौभूति नामक नरेश का राज्य था। जिसके सिकन्दर से नाटकीय साक्षात्कार का वर्णन कर्टिअस ने किया है। वहाँ के शिकारी कुत्तों ने विदेशियों को अन्यन्त प्रभावित किया। झेलम के तट पर सिकन्दर ने बहुत सी नौकाओं का निर्माण करवाया। अन्त में 800 नौकाएं हो गईं। इसी समय कोनोस बीमार पड़ा और मर गया। ई. पू. 326 के नवम्बर मास में यहाँ प्रत्यावर्तन प्रारम्भ हुआ। सेना तीन भागों में होकर लौटी। जलसेना का नेतत्व नियार्कस (Nearchus) कर रहा था।

ततीय दिवस सिकन्दर एक स्थान पर रूका जहाँ क्रेरूस और हिफेशन ने अपना शिविर स्थापित किया था। दो दिनों में फिलिप भी वहीं आ गया। उधर मल्लाई और ओकसीड्रेकाइ (मालव और क्षुद्रक) आक्रान्ता का रणस्थल में स्वागत करने के लिए तैयारियाँ कर रहे थे। सिकन्दर उन पर परस्पर संयुक्त होने से पूर्व आक्रमण कर देना चाहता था। प्रारम्भ के पाँचवें दिन झेलम और चिनाब के संगम पर पहुँचा। यहाँ पर दोनों नदियों के जल ने भीषण रूप धारण किया था। आवर्त उत्पन्न हो रहे थे जिनसे नौकाओं की कुछ हानि भी हुई। दो तो जल–गर्भ में प्रविष्ट हो गईं। किन्तु शीघ्र ही वेग शान्त हो गया और नौकाएँ धारा से दूर पर पहुँचाई गई। नियार्कस को मालवों की सीमा पर पहुँचने का आदेश मिला।

अग्रश्रेणी :- सिकन्दर के पहुँचने पर शिबि (Siboi) लोगों ने आत्मसमर्पण कर दिया किन्तु अलगस्सोइ (अग्रश्रेणी) लोगों ने 40000 पदाति तथा 3000 अश्वदल के साथ जमकर सिकन्दर का मोर्चा लिया। युद्ध में मकदूनिया के कई सैनिक चल बसे। इसने सिकन्दर के क्रोध में आहुति का कार्य किया। उसने नगर में आग लगवा दी और बहुतों की हत्या करवा दी। बहुत को दास बना लिया। केवल 3000 व्यक्ति जिन्होंने सन्धि की इच्छा दिखलाई अवशिष्ट रहे। अब मालवों और क्षुद्रकों की बारी थी।

मालव और क्षुद्रक : अम्बष्ठ, क्षत्रप और वसाति :- सिकन्दर ने 50 मील जलरहित मरुभूमि के बाद मालवों के नगर पर अचानक आक्रमण किया। मालवगण अचम्भित रह गये। निःशस्त्र लोग निर्दयतापूर्वक तलवार के घाट उतार दिये गये। अवशिष्ट को नगर में घेर लिया गया। पर्डिक्कस को आगे का नगर घेरने के लिए भेजा गया, किन्तु वहाँ पहुंचने पर उसने देखा कि लोग नगर को रिक्त करके भाग रहे थे। उसने पीछा किया और कुछ को समाप्त किया किन्तु अधिकांश भाग गये। इसी समय सिकन्दर भी वहीं आ गया और उसने रावी पार करते समय अनेक मालवों के प्राण लिये। अब एक ब्राह्मणों के नगर पर आक्रमण करना था जहाँ पर अनेक मालवों ने शरण ली थी। यहाँ पर घनघोर संग्राम हुआ। इसमें भी सिकन्दर विजयी हुआ। सिकन्दर ने सुना कि मालवों ने पुनः रावी को पार कर लिया है और व उसके मार्ग को अवरूद्ध करेगें। एरियन से ज्ञान होता है कि लगभग 50,000 सैनिक रावी के दक्षिण तट पर एकत्र हुए थे। सिकन्दर अपने अल्प सैन्य के साथ धारा में कूद पड़ा। मालवों को उसकी सेना की कमजोरी का पता न था। उन्होंने नदी तट छोड़ दिया। बाद में उन्हें जब ज्ञात हुआ कि सिकन्दर की सेना अत्यन्त अल्प थी तो उन्होंने युद्ध किया किन्तु ने उनको साधारण आक्रमणें से तब तक फँसाये रखा, जब तक कि उसकी पैदल सेना आ गई। मालवों ने समीप के दुर्ग में शरण ली। दूसरे दिवस सिकन्दर का आक्रमण सफल रहा। किन्तु दीवार पार करते समय सिकन्दर मालवों की बाण–वर्षा से आहत हो गया। पर्डिक्कस ने जब बाण को शरीर से निकाला तो सिकन्दर के शरीर से अधिक रक्त निकल जाने से वह मूर्च्छित हो गया। इस दश्य को देख यूनानी उन्मत्त हो गये और अन्त में जब दुर्ग पर अधिकार हुआ तो बालक, नर और नारी मार डाले गये। सिकन्दर के घाव के अच्छा हो जाने पर एक बार ऐसी वार्ता उड़ी कि वह मत्यु को प्राप्त हो गया। अन्त में उसने स्वयं अश्व पर आरूढ़ हो कर अपने को दिखलाया, तब सैनिकों की जान में जान आई। क्षुद्रक मालवों से नहीं मिल पाये। अब उन्होंने एक सौ रथारूढ़ दूतों को सन्धि के लिए भेजा। मालव और क्षुद्रक पराजित तो किये गये किन्तु सिकन्दर के सैनिकों को लोहे के चने चबाने पड़े। कदाचित् मालव बाण द्वारा किया गया गम्भीर घाव कालान्तर में अप्रत्यक्षरूपेण सिकन्दर की मत्यु का कारण था। पंजाब के ब्राह्मण तथा मालव नगरों ने जो विरोध किया वह इस बात का सूचक था कि सिकन्दर का साम्राज्य भारत पर नहीं जम सकता था। प्रत्यावर्तन पर अम्बष्ठ (Abastamoi), क्षत्रप (Xathaoi) तथा वसाति (Ossadioi) लोगों ने अधीनता स्वीकार की। फिलिप जिस भाप का क्षत्रप नियुक्त किया गया था, उसकी दक्षिणी सीमा पर सिन्ध और चिनाब का संगम था। वहाँ पर एक नगर की स्थापना की गई।

सिन्ध के राज्य :- सिन्ध नदी के निम्न भाग में जितने राज्य थे वे गणराज्य न थे। उन पर ब्राह्मणों का असाधारण प्रभाव था। इस भाग का प्रसिद्ध शासक मुसिकेनस (Musecanus) था, जैसा कि ग्रीक लेखकों से ज्ञात होता है। उसने सिकन्दर के पहुँचन पर अधीनता स्वीकार कर ली। ओक्टीनेकस तथा सैम्बस (Sambus, शम्भुर) भी अधीनस्थ हुए। किन्तु इस प्रान्त में सिकन्दर के प्रबल प्रतिरोधी ब्राह्मण ही थे। पतंजलि भी ब्राह्मणक नामक जनपद का निर्देश करते हैं। (ब्राह्मणकों नाम जनपदः)। राष्ट्रीय विपत्ति के समय ब्राह्मणों में अपना कर्त्तवय समझा कि वे लोगों को इस विदेशी आक्रान्ता के विरूद्ध भड़काये। अंत में उनके एक नगर पर धावा बोला गया और इसके समस्त निवासी मार डाले गये। उसी समय मुसिकेनस ने विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। पीथान (Peithon) ने दमन किया और मुसिकेनस अपने साथियों के साथ मार डाला गया। अन्त में पाटल नरेश का राज्य आया। डियोडोरस के अनुसार यहाँ पर दो शासक थे। एक तो सिकन्दर से सन्धि–वार्ता के लिए गया था और दूसरा युद्ध की तैयारी कर रहा था, क्योंकि सिकन्दर ई. पू. 325 के जुलाई मास में यहाँ पहुँचा तो उसने नगर को खाली पाया। अन्त में भागे हुए लोग समझा बुझाकर लौटाये गये।

फिलिप की हत्या : सिकन्दर की मत्यु :- सिकन्दर जब कर्मानिया पहुँच रहा था तो उसे समाचार मिला कि क्षत्रप फिलिप की हत्या कर दी गई। उस समय वह इससे अधिक और कुछ न कर सका कि आम्भी और यूडेमस (Eudemus) को कार्यभार सँभालने का आदेश दे दे। इसी समय क्रेटरस अपनी सैन्य–शाखा तथा हाथियों के सहित आ मिला। नियार्कस ने बतलाया कि चार नौकाएँ मार्ग में नष्ट हो गई। सम्पूर्ण सेना के सहित सिकन्दर 324 ई. पू. सूसा पहुंचा। 323 ई. पूर्व में बैबिलोनिया में सिकन्दर की मत्यु हो गई।

प्रभाव :- जैसे कि हमें उपर लिखे विवरण से देखा कि भारत पर सिकन्दर का आक्रमण उत्तरपश्चिम क्षेत्र के थोड़े से गणराज्यीय क्षेत्रों तक ही सीमित था। नन्द साम्राज्य पर आक्रमण कर उससे लोहा लेने का साहस न तो उसकी सेना कर सकी तथा न ही शायद वह यह कर भी पाता। क्योंकि उस तो छोटी–2 जनजातियों से उलझ कर ही संतुष्ट होना पड़ा। यही नहीं कुछ ने तो उससे बहुत ही बहादुरी से मुकाबला किया तथा इन्ही से युद्ध में उसे तीर से घायल होना पड़ा तथा वह अपने देश युनान तक भी नहीं पहुँच पाया तथा रास्ते में ही उसकी मत्यु हो गई। इस स्थिति में यह कह पाना बड़ा कठिन है कि क्या भारत पर सिकन्दर की विजय के कोई प्रत्यक्ष प्रभाव पड़े भी कि नहीं। भारतीय साहित्य में तो इस घटना का वर्णन मात्र भी नहीं है जबकि युनानी साक्ष्य भारत

आक्रमण को बहुत बढ़ा चढ़ा कर दर्शाते हैं कुछ इतिहासकारों ने इस आक्रमण को एक आकस्मिक घटना बताया है जिसका भारत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा तथा लोग इसे एक आन्धी की तरह भूल गए। स्मिथ का कहना है कि इस तुफान स्वरूप आक्रमण के सामने भारतीयों ने अपना सिर झुका दिया और उसके गुजर जाने के बाद पुनः विचार मग्न हो गए। उनके इस कथन में अंग्रेज इतिहासकारों की साम्राज्यवादी नीति की झलक है क्योंकि यह आक्रमण तो ठीक तरह से भारत पर हुआ ही नहीं तथा केवल उत्तरपश्चिम भारत के कुछ क्षेत्रों, जो कि उस समय के भारतीय साम्राज्य (नन्द साम्राज्य) से बाहर थे, पर ही इस के प्रभाव पड़े। राधाकुमुद मुखर्जी भी इसे किसी दष्टि से इसे महान सफलता नहीं मानते। दूसरी ओर कुछ विद्यवान इसे एक महत्त्वपूर्ण घटना मानते हैं। हेमचन्द्र राय चौधरी इस आक्रमण का भारत पर प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दोनों प्रभाव मानते हैं। नीलकंठ शास्त्री भी इस आक्रमण से भारत में कई प्रभाव मानते हैं जिससे उत्तरपश्चिमी भारत की जनजातियों के प्रबल होने मौर्य साम्राज्य के उदय का रास्ता खुल गया। दूसरी ओर कुछ ऐसे विद्यवान भी हैं जिनमें डा. नीस हैं जो सिकन्दर के भारत आक्रमण के पश्चात हुई सारी प्रगति का श्रेय इसी आक्रमण को देते हैं। कुछ भी हो इस आक्रमण के कुछ प्रत्यक्ष तथा कुछ परोक्ष प्रभाव तो पड़े ही।

1. राजनैतिक प्रभाव :- सिकन्दर के आक्रमण के समय उत्तरपश्चिमी भारत पर छोटे–2 राज्यों का प्रभुत्त्व था जो आपस में लड़ते रहते थे। सिकन्दर के आक्रमण के समय ये इक्ट्ठे हो उसका मुकाबला नहीं कर पाए तथा एक एक कर ये राज्य सैनिक शक्ति के होते हुए भी संगठित, सुशिक्षत तथा अनुशासित सेना के सामने टिक नहीं पाए। इस आक्रमण ने न केवल इन छोटे–2 राज्यों को हराया बल्कि छिन्न भिन्न भी कर दिया। इनमें से कुछ को तो पर्वतों में शरण लेनी पड़ी तथा कुछ को अपना क्षेत्र छोड़ दूसरे स्थानों पर जाना पड़ा जैसे मालवा पंजाब के आज के मालवा क्षेत्र में चले गए। क्षुद्रक तथा शिबी राजस्थान में बसे इसी तरह अन्य राज्यों का भी हाल हुआ। इन सभी को विजित कर सिकन्दर ने क्षत्रपीय शासन व्यवस्था कायम कर दी तथा सिकन्दर ने कई नगरों और उपनिवेशों की स्थापना कर दी। यद्यपि उसका यह संगठन कुछ वर्ष ही रह पाया तथा इन जातियों ने कई स्थानों पर युनानी क्षत्रपों को मार भगाया। परन्तु इससे चन्द्रगुप्त का कार्य आसान हो गया तथा वह अपने गुरू चाणक्य की सहायता से इन जनजातियों में अपना प्रभुत्व स्थापित कर सकता तथा बाद में मगध पर आक्रमण कर उसने नन्द वंश का अंत कर मौर्य साम्राज्य की स्थापना की।

ऐतिहासिक प्रभाव :- भारतीय इतिहास की संरचना तथा उसके तिथि क्रम का निधारण करने में इस आक्रमण का बहुत योगदान है। 326 ई. पू. ने अनेक भारतीय ऐतिहासिक घटनाओं को विवादपूर्ण स्थिति से उभार कर निश्चितता प्रदान की। इसके पश्चात् भारतीय इतिहास में एक निश्चित तिथि क्रम का प्रारम्भ हो गया। साथ ही सिकन्दर के आक्रमण के समय आए अनेक युनानी लेखकों ने तत्कालीन भारत की राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति का वर्णन किया जिससे उस काल के इतिहास लेखन में काफी सहायता मिलती है।

सांस्कृतिक प्रभाव :- सिकन्दर के आक्रमण के प्रभाव भारत की संस्कृति पर भी पड़े। अभी तक युनानी अपने अतिरिक्त किसी अन्य को सांस्कृतिक दष्टि से सम्पन्न नहीं मानते थे परन्तु भारत पर आक्रमण के समय आए युनानी इतिहासकारों ने जब यहां की समद्ध संस्कृति को देखा तो दंग रह गए तथा उन्हें यहां के ग्रन्थों सामाजिक संगठन इत्यादि को जानने की जिज्ञासा हुई। जिस कारण विचारों के आपसी आदान प्रदान से दोनों संस्कृतियों में काफी सहयोग हुआ।

धार्मिक प्रभाव :- कुछ विद्यवानों का कहना है कि भारतीय लोगों के धार्मिक विचारों पर युनानी प्रभाव पड़ा। प्लुटार्क का कहना है कि कुछ भारतीय युनानी देवी देवताओं की पूजा करने लगे। परन्तु यह शायद उन्हीं नगरों में संभव होगा जहां पर युनानी उपनिवेश थे जहां शायद निवासियों को उनकी प्रार्थना सभाओं में जाना होता होगा। परन्तु दूसरी ओर भारतीय धर्मो का युनानी तथा हिन्द युनानी राजाओं पर प्रभाव अवश्य पड़ा बौद्ध ग्रन्थ मिलिन्दपन्हो इसका साक्षय है। बेसनगर का अभिलेख श्रद्धालु हेलियोडोरस का विष्णु की स्मति में बनाया स्तम्भ इसका प्रमाण है। जो तक्षशिला के युनानी शासक अन्तया लकिडस (Antialkidus) का दूत था। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि बौद्ध तथा ब्रह्मण धर्म का युनानियों पर प्रभाव पड़ा।

कला पर प्रभाव :- भारतीय कला पर युनानियों का काफी प्रभाव पड़ा। युनानी शैली का प्रभाव भारतीय मूर्तिकला पर पड़ा तथा गान्धार शैली भारतीय तथा युनानी शैली के संगम से ही बनी। इस शैली में युनानी शैली के संगम से ही निर्माण हुआ जिसमें सुन्दर लक्षणों तथा भावों वाली मूर्तियां बनी जिन में पत्थरों पर बने कपड़े पारदर्शी प्रतीत होते हैं। यद्यपि इस कला का क्षेत्र गान्धार में ही प्रारम्भिक काल में हुआ तथा बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित मुर्तियों का निर्माण हुआ परन्तु धीरे–2 इसका प्रभाव अन्य क्षेत्रों में भी हुआ जैसे पंजाब के पूर्वी क्षेत्रों में भी हुआ जहां की मूर्ति कला पर उतकीर्ण आकृतियों की वेशभूषा और आकार चेष्टा समकालीन युनानियों की वेशभूषा से मिलती जुलती है।

वास्तु शैली का इस क्षेत्र में प्रभाव का दर्शाना तो कठिन है क्योंकि बार–2 आक्रमणों के कारण उत्तरपश्चिम भारत में केवल कुछ ही प्राचीन भवन बचे हैं। परन्तु कुद अवशेष अवश्य युनानी प्रभाव दिखाते हैं इनमें ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी के पूर्वा में बन भग्नावशेष हैं जिनमें ऊंचे–2 स्तम्भों से युक्त एक मन्दिर युनानी शैली का है।

भारतीय मुद्रा पर प्रभाव :- भारत में युनानी आक्रमण के बाद मुद्राओं पर प्रत्यक्ष रुप से प्रभाव पड़ा। इससे पूर्व आहत मुद्राओं का न तो कोई निश्चित आकार था न ही उन पर लेख तथा ये आहत शैली से बनाई जाती थी। परन्तु युनानी प्रभाव के बाद एक निश्चित आकार वाली (गोलाकार तथा कभी–कभी आयताकार) मुद्राओं का निर्माण प्रारम्भ हुआ जिन पर लेख भी लिखा होता था। कई गणराज्यों तथा राजाओं ने तो इनकी नकल पर उसी प्रकार के चिन्हों तथा भार वाली मुद्राएं भी चलाई। जैसे औयुम्बर राजा धरघोष की मुद्राएं युनानी राजा अपोलोडोटस (Appolotus) से मिलती जुलती हैं। इसी आधार पर कुछ विद्यवानों ने तो यहां तक कह दिया कि भारत में सिक्कों का प्रचलन भी युनानियों के कारण ही हुआ जो कि एक मिथ्या भ्रान्ति है।

व्यापारिक मार्ग :- सिकन्दर के आक्रमण के कारण भारत तथा पश्चिमी देशों के बीच एक नया मार्ग खोल दिया। इससे पूर्व समुद्र के रास्ते ही पश्चिमी सभ्यताओं से सम्पर्क तथा व्यापार हुआ करता था। अब पश्चिमोत्तर भारत तथा बैबिलोन के भी व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हुए। स्ट्रैबों का कथन है कि कैस्पियन सागर तथा काला सागर के मार्ग से युरोप को भारतीय माल भेजने में यह मार्ग एक महत्त्वपूर्ण मार्ग था। जिसमें आमू नदी एक कड़ी का काम करती थी। यह मार्ग ई. पूर्व तीसरी शताब्दी तक चला। इसके पश्चात भारत युनान इरान तथा पश्चिमी देशों के बीच व्यापारिक सम्बन्ध नियमित रुप से प्रारम्भ हुआ।

साहित्य एवं रंगमंच प्रभाव :- एक पश्चिमी विद्यवान ने कहा था कि ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी में भारतीयों ने होमर का अपनी विविध भाषाओं में अनुवाद कर लिया था। इसके आधार पर कई विद्यवान भारतीय साहित्य पर युनानी प्रभाव को मानने लगे। रामायण तथा महाभारत जैसे महाकाव्यों को युनानी इलिपाड तथा औडीसी पर आधारित माना गया। परन्तु इस का कोई प्रमाण हमारे मास नहीं है परन्तु रंग मंच पर युनानी प्रभाव दष्टिगोचर होता है। युनानी लोग नाट्यप्रेमी थे तथा अपने नगरों में नाट्य लीलाएं अपने नगरों में रंगमंच बनाकर प्रदर्शित करते थे। प्राचीन भारतीय लोग इस प्रकार की शैली से परिचित नहीं थे परन्तु युनानियों के सम्पर्क में आने के बाद उन्होंने यह शैली अनुकरणित की जिसे यवनिका का नाम दिया गया है।

ज्योतिष पर प्रभाव :- ऐसा माना जाता है कि युनानियों के सम्पर्क से भारतीय ज्योतिष शास्त्र पर विदेशी प्रभाव पड़ा। भारतीय संस्कृत में होराचक्र युनानी भाषा के शब्द होरास्कोपस से ही लिया गया माना जाता है होरा का अर्थ 'घटा' अथवा घड़ी का बोध है। इस प्रकार होरोस्कोपस उस शब्द को कहते हैं जिससे जन्म के बाद की घटनाओं की गणना का संकेत है। भारतीय ज्योतिषियों ने युनानियों से राशि चक्र का अनुकरण किया तथा युनानी दायामेत्रान के अनुरुप जामित्रलग्न भी प्राप्त किया। इसी प्रकार रोमक तथा पोलिस सिद्धान्त भी युनानी ज्योतिष शास्त्र से ही लिए गए हैं। भारतीय विद्यवानों को युनानी ज्योतिषयों से सम्पर्क का वर्णन गार्गी संहिता से स्पष्ट है जिसमें लेखकन यद्यपि यवनों को बर्बर कहा परन्तु ज्योतिष शास्त्र का प्रारम्भ उन्हीं से बताया।

चकित्सा पर प्रभाव :- यद्यपि भारतीय चकित्सा प्रणाली तथा शल्य चकित्सा काफी समद्ध रही है परन्तु भारतीय औषधी विज्ञान पर भी युनानी प्रभाव देखने को मिलता है। आयुर्वेद के साथ युनानी प्रणाली का प्रचलन इसका प्रमाण हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि सिकन्दर के आक्रमण के कारण भारत में न तो कोई युनानी राज्य स्थापित हुआ यद्यपि जहां तहां छोटे–2 उपनिवेष तथा नगरों की स्थापना तो हुई। परन्तु उत्तरपश्चिम भारत के लगते क्षेत्र में युनानी शासन शुरू हो गया जो बाद में भारत पर आक्रमण भी करने लगे। परन्तु भारत पर सिकन्दर के आक्रमण के कुछ प्रत्यक्ष तथा परोक्ष प्रभाव अवश्य ही पड़े।

अध्याय-4

नन्द वंश (344-322 ई० पू०)

(a) नन्द वंश (344-322 ई०पू०)

बौद्ध साहित्य से प्रकट होता है कि शिशुनाग वशं के काकवर्ण राजा के पश्चात् उसके दस पुत्रों ने २२ वर्ष तक राज्य किया तथा इसके पश्चात् नन्दवंश का राज्य प्रारम्भ हुआ। नन्द वंश की स्थापना से भारत के इतिहास में एक नए युग का प्रारम्भ हुआ। प्रथम बार मगध के साम्रज्य की सीमा गंगा के मुहानों से पार दूर–दूर तक फैली। यह प्रथम साम्रज्य था जो एक अर्ध–स्वायत्य (Semi-independent) या सामन्ती राजाओं का इक्ठ्ठे न होकर एक राजतन्त्र था जिसका शासक ऐकराट Ekarata (Single Rular) था जिसक पास अपार धन, सेना तथा क्षेत्र था जिन्होने क्षत्रिय वंश को समाप्त कर दिया। पुराणो के अनुसार इस वंश के साथ लोह युग (कलियुग) का प्रारम्भ हुआ। परन्तु पुराणो तथा जैन और बौद्ध साक्ष्यों में इस काल के बारे में काफी मतभेद है तथा न ही इस बात पर एकमत है कि प्रथम नन्द राजा का राज्य कब शुरु हुआ। परन्तु यह तो स्पष्ट है कि जब 326 ई०पू० में चन्द्रगुप्त सिकन्दर से मिला उस समय पाटलीपुत्र में नन्द वंश का अधिकार था। ऐसा प्रतीत होता है कि 355 ई०पू० जब जिनोफोन (Xenophone) की मत्यु हुई उससे पहले नन्दों का राज्य शुरु हो चुका था। क्योकिं इस इतिहासकार ने लिखा है कि भारत का राजा, जिसकी पश्चिमी एशिया के साम्रज्य से झगड़ा था, बहुत समद्ध आदमी था। हम जानते है कि नन्दों को धननन्द भी कहा जाता है। इस तरह यह बात इन्हीं पर लागु हुई प्रतीत होती है। परन्तु जिनोफोन तो छठी शताब्दी ई०पू० की बात कर रहा था परन्तु शायद उसने अपने काल के संस्मरण इसमें जोड़ दिए हो।

कुछ विद्वान खारखेल की हाथीगुम्फा अभिलेख में वर्णित 'ति वस सत' को नन्द वंश द्वारा स्थापित नंद वर्ष (era) मानते है। परन्तु अलबेरुनी इस नाम के किसी युग का वर्णन नही किया है। दूसरे स्वयं हाथीगुम्फा अभिलेख की तिथि के बारे में भी विद्वान एक मत नही है। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि अर्थशास्त्र के अतिरिक्त अनय किसी भी समकालीन साक्ष्यों में नन्दों का वर्णन नही है। जो भी इस संदर्भ हमें मिलते है वे काफी बाद के हैं। कुछ विद्वानों ने युनानी साहित्य कार जस्टिन (Justin) द्वारा वर्णित अलैग्जन्द्रुम (Alexandrum) को नन्द्रुम (Nandrum) मान नन्दों का वर्णन आता है। बौद्ध ग्रन्थ मिलिन्दपन्हो (Milinda-panho) में नन्दों के राजपरिवार का वर्णन है। खारखेल के हाथीगुम्फा अभिलेख में दो स्थानों पर नन्दों का का संदर्भ है। एक स्थान पर वर्णन है कि खारखेल ने अपने राज्य के पाँचवे वर्ष में 300 वर्ष पूर्व खोदी नहर को पुनः खुदवाया। एक अन्य स्थान पर वर्णन है कि खारवेल ने कंलिग की जैन मूर्ति जिसे नन्द राजा ले गया का वापिस कंलिग लाई।

परन्तु नन्दों के काल का एक सुनियोजित इतिहास लिखने के लिए हमें भारतीय (जैन तथा बौद्ध), सिहंली साक्ष्य पुराणों, दन्त कथाओं चन्द्रगुप्त कथा जिसके कुछ अंश हमें मिलिन्द पन्हों में मिलते हैं तथा कुछ चीनी यात्रियों के वतान्त इत्यादि का सहारा लेना पड़ता है।

महापदम नन्द

पुराणों के अनुसार पहले नन्द शासक ने महापदम या महपदमापति उपाधि धारण की। परन्तु बौद्ध ग्रन्थ महाबोधिवंश के अनुसार प्रथम नन्द राजा उग्रसेन था पुराण उसे शिशुनाग वंश के अन्तिम राजा तथा एक शुद्ध स्त्री की सन्तान बताते है (शुद्रागर्मोदभव)। उसके पिता का नाम महानन्दि था जैन ग्रन्थ परिशिष्टपर्वन के अनुसार वह नापित पिता तथा वेश्या माता से उत्पन्न हुआ था। इसी प्रकार कर्टिअस (Curtius) नामक युनानी विद्वान का कहना है उसका पिता नाई (नापित) था तथा वह अपना पेट बड़ी कठिनाई से मेहनत कर भरता था। परन्तु देखने में वह बहुत सुन्दर था। वह किसी ढंग से रानी का प्रेम पात्र बन गया तथा उसके सहारे वह राजा का विश्वास पात्र बन गया। बाद में उसने विश्वासघात कर राजा अग्रेमीज का वर्णन किया है। वह उसी धोखेबाज का पुत्र था। परन्तु गणिकाकुशिजन्म का वर्णन हम नन्द राजा महापदम से नही परन्तु उसके पिता से मान सकते हैं। कर्टियस ने जिसने आग्रसैन्य का वर्णन किया है तथा जिसने राजा का वध किया वह राजा काकवर्ण था जिसे हर्षचरित में वर्णित किया गया है। बौद्ध साक्ष्य महावंशटीका के अनुसार महापदम नन्द डाकुओं का नेता था जो लूटपाट करता था। बाद में उसने पाटलीपुत्र पर अधिकार कर लिया। कुछ भी हो यह तो तय है कि प्रथम नन्द राजा नीची जाति का था तथा इसलिए वह वंश आम लोगों में लोकप्रिय नही था तथा इसी कारण चन्द्रगुप्त का नन्द वंश का अन्त करने में लोगों का साथ मिला।

राज्य विस्तार :-

भागवत पुराण की एक टीका के अनुसार नन्दराज के पास दस पद्म सेना थी इसीलिए उसे महा पदम कहा जाता था। नन्दकाल में मगध साम्राज्य गंगा की घाटी से बढ दूर–२ तक फैल गया। पुराणों में तथा अन्य साक्ष्यों में महापदम की विजयों के उल्लेख दे। उसे एक छत्र पथ्वी का राजा, अनुल्लंघित शासक या परशुराम के समान (शायद क्षत्रिय वंश अन्त करने के कारण) सर्वक्षत्रान्तक

इत्यादि का गया है। जैन साक्ष्य नन्दों के मंत्री द्वारा समुद्र तक सारे देश को जीतने के साक्ष्य है। पुराणों ने भी महापदम को सभी क्षत्रिय राजवंश को उखाड़ने का जिक्र है जिन्होनें शिशुनाग वंश के समकालीन राज्य किया (तुल्यकालम, भविर्ष्यान्त सर्वः हि एते महीक्षितिः) इन में इक्ष्वाकु, पंचाल, काशेय, हैहेय, कलिंग, अश्मक, कुरू मैथिल, सूरसेन तथा वीतिहोत्र इत्यादि थे। इक्ष्वाकु उस समय कौशल में राज्य कर रहे थे जिनका राज्य आज के अवध प्रदेश में था। कथासरितसागर के एक अंश में अयोध्या में नन्दों के कैम्प (कटक) का संदर्भ है जिससे पता चलता है कि नन्द राजा के अयोध्या पर आक्रमण किया।

पंचाल उस समय में उपरी गंगा तथा गोमती तथा मध्य गंगा दोआब में राज्य कर रहे थे। नन्दों ने इन्हें अपने आधीन कर लिया। काशेय या काशी का वंश आज के बनारस के आस पास राज्य कर रहा था। पुराणों के कथन के अनुसार यह एक शिशुनाग राजकुमार को नियुक्त किया गया था। नन्दों ने इसी के वंशजों से काशी के आसपास का इलाका जीता होगा।

हैहेय वंश का वर्चश्व नर्मदा घाटी में मध्यकाल तक रहा है। उनकी प्रारम्भिक राजधानी माहिष्मति थी जो नर्मदा पर स्थित थी। जिसे पार्जिटर मानधाता से तथा अन्य विद्वान महेश्वर से समीकृत करते हैं। चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्य से ही मालवा तथा गुजरात मौर्य साम्राज्य के अंग रहे हैं। इस क्षेत्र का नन्दों ने ही विजित किया था।

कलिंग के क्षेत्र में उड़ीसा की वैतरणी नयी से विशाखा पटनम की वराहनदी तक का क्षेत्र था। हाथी गुम्फा अभिलेख से इस क्षेत्र पर नन्दों की विजय का वर्णन है।

अश्मकों का क्षेत्र गोदावरी के मुहाने पर था। इसी नदी पर एक नौ नन्द डेहरा नामक शहर निजामाबाद जिले में है। नौ नन्दों के इस क्षेत्र का संदर्भ भी नन्दों के इस क्षेत्र में विजय का सूचक है।

मैथिल या मिथिल को लोग रामायण के वर्णित क्षेत्र से है जो आज के नेपाल की सीमा पर जनकपुर के क्षेत्र से है जहां उत्तरी बिहार के दरभंगा तथा मुजफ्फरपुर क्षेत्र मिलते हैं। अजातशत्रु के इस क्षेत्र पर विजय के लिए बहुत परिश्रम करना पड़ा परन्तु शायद बाद में फिर स्वतन्त्र हो गए तथा नन्द राजा को इसे अपने क्षेत्र में मिलाने में अजातशत्रु से अधिक सफलता मिली।

सूरसेन (या मैगस्थनीज के सौरसेनोई) की राजधानी यमुना किनारे स्थित मथुरा थी। युनानी साक्ष्य इस क्षेत्र की विजय इसी नन्द राज्य को देते हैं।

वीतिहोत्र लोग भी हैहेयो से नजदीकी सम्बन्धित थे। शिशुनाग वंश के काल में इन्होनें मगध के विरूद्ध विजय हासिल की क्योंकि भविष्यानु कीर्तन में पुराणों के संदर्भनुसार इन्होने प्रद्योत की कीर्ति छीन ली थी (यशः कृत्रस्नम्) दूसरे चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्य में पश्चिमी भारत पहले से दी थी इसलिए नन्दों का इस क्षेत्र को विजय करना ठीक प्रतीत होता है। जैन साक्ष्य भी स्पष्ट रूप से नन्दो को अवन्ति के प्रद्योत के पुत्र पालक के उत्तराधिकारी बताते है।

राज्यविस्तार

इस प्रकार हम देखते है कि महापदमनन्द के राज्य में उत्तरा तथा पूर्वी भारत के अतिरिक्त मध्य भारत तथा सौराष्ट्र का क्षेत्र शामिल था। हेमचन्द्र राज्य चौधरी के अनुसार दक्षिणापथ का कुछ भाग भी संभवत नन्द साम्राज्य का अन्तरगत था। स्मिथ का मत है एक महापदमनन्द ने सरकार का केन्द्रीकरण कर दिया तथा सामन्त राजाओं को हटा दिया। परिशिष्ट पर्वन में भी नन्दों का समुद्र तक साम्राज्य का उल्लेख है।

सेना

नन्दों के पास न केवल एक विशाल सेना थी अपितु अपार धन भी था। पुराणों के अनुसार नन्द राज के पास दस पदम सेना थी। कर्टियस के अनुसार नन्दों की सेना में 20 हजार घुडसवार, 2 लाख पैदल सैनिक तथा 3000 हाथी थे। इतनी विशाल सेना का जिकर सुन कर तो सिकन्दर की सेना ने थी आगे बढने से इन्कार कर दिया था।

राज्यकाल

वायु पुराण के अनुसार प्रथम नन्द राजा महापदम ने 28 (अष्टविंशति) वर्ष तक राज्य किया। परन्तु मत्स्य पुराण उसका काल 88 (अष्टाशीति) वर्ष बताता है। परन्तु शायद मत्स्य पुराण के गलती से अष्टाविशंति को अष्टाशीति लिख दिया हो। तारानाक भी नन्द राज का 29 वर्ष का राज्यकाल बताते हैं जबकि सिंहली महाकाव्य समस्त नन्द राजाओं का शासन काल 22 वर्ष बताते है।

महापदम के उत्तराधिकारी

पुराणों के अनुसार महापदम के पश्चात् उसके 8 पुत्रों ने 12 वर्ष तक राज्य किया। पुराणों के अनुसार इनमें सबसे बड़ा सहल्य या सहलिन था। मत्स्य पुराण की पाडुं लिपियों में उसका नाम सुकल्प दिया है। वायु पुराण सहल्य देते हैं जिसे बेणी महताब बरुआ दिव्यावदान के सहलिन से समीकृत करते हैं। महाबोधी वशं में इसका अलग नाम दिया है जो कि अन्य साक्ष्य से प्रमाणित नहीं होता। अन्तिम नन्द राजकुमार का नाम धननन्द था जिसे चुनावी अग्रामीण था जेनद्रमीज (Xandrames) कहते हैं सिकन्दर के आक्रमण के समय ब्यास नदी के इस पार राज्य कर रहा था। प्रथम आठ नन्द राजकुमारों के बारे में तो हमें अधिक वर्णन नहीं मिलता परन्तु

अन्तिम नदं राजकुमार धननन्द को धन इक्ट्ठा करने का शौक था। इसलिए उसे धननन्द कहा गया है। इसके कोस में 80 कोटी धन था जिसे उसने गंगा नदी के किनारे दबा दिया था। इसके लिए उसने खालों, गोंद, वक्ष तथा पत्थरों पर भी अन्य चीजों के साथ कर लगाा दिया था। तमिल कविताओं में भी नन्दों की विजयों तथा खजानों का वर्णन मिलता है। चीनी यात्री युवाग च्वांग ने भी सातवी सदी में लिखा है कि नन्द राजा के पांच खजाने थे। यह धन उसने अधिक करो से इक्ट्ठा किया इसी लिए तथा नन्दो के निम्न जाति के होने के कारण लोग नन्द वंश के विरूद्ध हो गए। इस प्रकार चन्द्रगुप्त मौर्य की पाटलीपुत्र विषय आसान हो गई। मिलिन्द पन्हों में नन्दों और मौर्यो के युद्ध का वर्णन है जबकि मुद्राराक्षस में कौटिल्य की षडयन्त्रों का वर्णन है।

शासन प्रबन्ध :-

नन्दो ने भारत के अधिकांश क्षेत्रों में समुन्द्र तक अपना एक राज्य स्थापित कर लिया। यह तो स्पष्ट नही है कि वे इसका प्रबन्ध कैसे करते थे परन्तु यदि हम कथाओं तथा अन्य साक्ष्यों को देखे तो उन्होंने एकीकृत शासन (Unitary System) प्रणाली स्थापित की क्योकिं उनका समस्त क्षत्रिय राजाओं को समाप्त करना तथा ऐकराट तथा ऐकछत्र उपलब्धियाँ भी यही दर्शाती हैं। वी०ए०स्मिथ तो उन्हे समस्त राजाओं को हराकर केन्द्रीयकृत राज्य स्थापित करने वाले मानते हैं। परन्तु युनानी लेखकों का मत है कि ब्यास के इस पार साम्राज्य का बहुत ही सुन्दर आन्तरिक प्रबन्धन का जहीं पर कुलीन तन्त्र (Aristocracy) बहुत ही संयम, सुचारू तथा न्यायप्रिय ढंग से शासन करते थे। शायद कौटिल्य के अर्थशास्त्र में वर्णित कुरु–पांचाल संघ का वर्णन है जो राजा की उपाधि धारण करते थे (राजशब्दोपजीविनाः)। ऐसा प्रतीत होता है कि नन्दों ने मगध, वुज्जि, काशी, कोशल के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों को स्वायतता दे दी थी, शायद इसी कारण दूर–दराज के उत्तर–पश्चिमी क्षेत्रों में चाणक्य तथा चन्द्रगुप्त अपने इरादों में सफल हो सके।

मंत्रीमण्डल :-

सम्राट के अतिरिक्त नन्दों ने अपना एक मंत्रीमंडल भी बनाया था जिसमें कल्पक तथा शकताल जैसे योग्य मुत्री नियुक्त किए तथा उनके परामर्श से शासन संचालन द्वारा मन्त्रिपरिषद की संस्था को सुदढ़ किया। उनके पास एक विशाल सेना थी तथा उन्होंने भद्दसाल नामक योग्य सेनापति को नियुक्त किया।

प्रान्तीय प्रशासन :-

युनानी लेखकों ने उनके प्रान्तीय प्रशासन का भी वर्णन किया है जो कि युनानी नेमार्क (Nomarch) के समकक्ष गर्वनर रहे होगें। जिसे वे क्षत्रप के आधीन कहते थे। उन्होंने पंजाब तथा मगध का इस तरह का प्रबन्ध माना। परन्तु भारत में हमें उस समय अहार विषय, जनपद इत्यादि के उल्लेख मिलते हैं जो महामात्र राजुक, प्रादेशिक तथा राष्ट्रीयों के आधीन थे। सबसे नीचे की प्रशासनिक इकाई ग्राम थी। प्रश्न उपनिषद में हमें एक अधिकारी अधिकृत का पता चलता है जिसे गाँव के लिए नियुक्त किया गया था जिसे सम्राट द्वारा नियुक्त किया जाता था। पाली साहित्य में वर्णित ग्रामिक शायद इसी अधिकृतों की तरह गाँव का प्रमुख रहा होगा। बिम्बिसार के काल में हमें 80 हजार ग्रामिकों की एक सभा का वर्णन था। यही प्रबन्धन बाद में नन्दों के काल में भी रहा। नन्दों द्वारा एक विशाल साम्राज्य स्थापित कर पाने में इस क्षेत्र में कृषि का अच्छा होना तो था ही साथ ही मगध के उत्कर्ष में लोहे की भूमिका भी बहुत थी। इस क्षेत्र में लोहा काफी मात्रा में मिलता है तथा इस धातु से खेती और युद्ध के लिए उपयुक्त हथियार बनाए जा सकते थे। कलिंग क्षेत्र को विजित करने के कारण वहां से हाथियों की उपलब्धता हुई तथा सेना में हाथी रखे गए। पाटलीपुत्र की भौगोलिक स्थिति थी इसके साम्राज्य बनने में सहायक हुई। उत्तरापथ पर स्थित होने से इसका स्थल मार्ग से तक्षशिला तथा पश्चिम देशों से रेशम मार्ग (Silk Route) द्वारा जुड़ा होना महत्वपूर्ण है। इससे व्यापार को बढ़ावा मिला। इस काल की आहत मुद्राएं (Punch-Marked Coins) हमें तक्षशिला (Taxila) से प्राप्त हुई है। उधर बंगाल, कलिंग, सौराष्ट्र के इनके राज्य में होने से समुन्द्री बन्दरगाहों से भी बाहरी व्यापार संभव हुआ तथा इससे उन्होंने सर्वप्रथम बार भारत को एकीकृत कर एक विशाल साम्राज्य स्थापित किया।

अन्य उपलब्दियाँ :-

नन्द वंश की जो भी उपलब्धियाँ रही हैं वे सभी बाद के मौर्य वंश की उपलब्धियों के आगे फीकी पड़ गई। नन्दों ने एक ऐसी लड़ाकु सेना तैयार की जिसका सिकनदर की सेना पर भी प्रभाव पड़ा तथा उन्हे मजबूर हो वापिस लौटना पड़ा। मौर्यो को इस प्रकार की सेना संगठन उपलब्ध हुआ तथा जिस प्रकार बिम्बिसार (Bimbisara) तथा अजातशत्रु (Ajatasatru) से बढ़ नन्दों ने साम्राज्य बढ़ाया उसी प्रकार मौर्यो ने नन्दों से बड़ा साम्राज्य बनाया। सैनिक उपलब्धियों के अतिरिक्त प्रशासन में भी मौर्यो से पहले नन्दो ने केन्द्रीयकृत प्रशासन स्थापित किया। इसके अतिरिक्त यदि हम बहद्‌कथा पर विशवास करें तो नन्दों के काल में पाटलीपुत्र सरस्वती तथा लक्ष्मी क्षेत्र बन गया था तथा पठन–पाठन का केन्द्र बना जहाँ बहुत ही विद्वान पुरुष विद्यमान थे जिनमें वर्ष, उपवर्ष, पाणिनी (Panini), कात्यायन (Katyayana), वररूचि (Vararuchi), व्याढी (Vyadi) इत्यादि प्रमुख थे। इसमें कहां तक सत्य है यह बता पाना तो कठिन है परन्तु पतंजलि द्वारा (जो कि पाणिनी स्कूल का था) यवन लिपि का ज्ञान होना दर्शाता है कि पतंजलि के पूर्व के विद्वान नन्दकाल के रहे होगें। कुछ व्याकरण के विद्वान नन्द राजाओं को एक प्रकार के तौल का प्रारम्भ करने वाले मानते हैं (नन्दोपक्रमाणी माननी)।

इसके अतिरिक्त सामाजिक क्षेत्र में भी नन्दों का उदय उस काल में निम्न जातियों के उत्कर्ष का एक सूचक है। पुराण इन्हे शुद्रराज का प्रारम्भ मानकर अधार्मिक कहते हैं। दूसरी ओर इनका जैन धर्म को अपनाना तथा जैन मन्त्रियों का होना उस समय में ब्राह्मण धर्म का कमजोर होने का सूचक है।

(b) मौर्य साम्राज्य

चौथी शताब्दी ई०पू० के उत्तरार्ध में मौर्यो के आगमन के साथ ही हमारी ऐतिहासिक समझ आलोकित हो उठती है। इस समय से भारतीय इतिहास के विषय में ठोस एवं स्पष्ट साक्ष्य हमें मिलने प्रारम्भ हो जाते है। इसी कारणवश मौर्य साम्राज्य की स्थापना भारतीय इतिहास में मील का पत्थर साबित हुई है। यही वह समय था जब भारत में साम्राज्य स्थापना आरम्भ हुई तथा मगध के महाजनपदों से मौर्य साम्राज्य का प्रादुर्भाव हुआ। इसी के साथ भारत में राजनैतिक स्थायित्व के काल का आविर्भाव हुआ क्योकिं मौर्यो ने एक ऐसे विशाल साम्राज्य की स्थापना की जिसकी सत्ता एकाकी एवं केन्द्रीयकृत थी।

इस साम्राज्य का महत्व उन तत्कालीन परिस्थितियों के कारण ओर भी अधिक बढ़ जाता है जिनमें इनकी उत्पति हुई। मौर्य साम्राज्य का उदय उत्तर भारत में उस समय हुआ जब यह राजनैतिक उथल–पुथल के दौर से ुजर रहा था। एक ओर जहाँ पूरा उत्तर–पश्चिमी भारत तथा पंजाब अलकक्षेंद्र (अलैक्जेण्डर अथवा सिकन्दर) के रूप में विदेशी आक्रमण को झेल रहा था वहीं दूसरी ओर उत्तर भारत के मुख्य भाग मगध में धननन्द के आधीन राज्य, जिसकी सत्ता अत्यावार, लोभ तथा जनता के आर्थिक उत्पीड़न पर आधारित थी, वह आंतरिक रूप से जर्जर होकर अपनी अंतिम सांसे गिन रहा था। जिस समय अलकक्षेंद्र, 325 ई०पू० में भारत छोड़ वापिस मकदूनिया के लिए रवाना हुआ उस समय पूरा उत्तर भारत राजनैतिक निराशा, अवसाद तथा अस्थिरता से पीड़ित था।

परन्तु कठिनाईयों के क्रोड़ में ही उत्तम अवसर भी विद्यमान होते है। इतिहास इस समय ऐसे महानायक को ढूँढ़ रहा था जो उत्पीड़ित, क्षुब्द तथा भयाक्रांत जनता को शातिं एवं सुरक्षा प्रदान कर सके एवं अलकक्षेंद्र के भारत से बहिर्गमन से उपजी राजनैतिक शुन्यता को भर सके। इन्ही परिस्थितियों में मौर्य वंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य का आविर्भाव हुआ जिसने शोषित जनता के क्षोभ रूपी रथ पर चढ़कर न केवल यूनान से आए विदेशी आक्रांताओं का सफलता पूर्वक सामना किया बल्कि आतातायी एवं अत्याचारी धननन्द को परास्त कर नन्द वंश का भी अन्त कर दिया। मौर्य उद्भव एवं जाति के इस प्रतिभाशली और महान सम्राट की वंश परम्परा के सम्बन्ध में विद्वानों में घोर मतभेद है। अधिकांश इतिहासकार यह मानते है कि मौर्यो की उत्पति 'निम्न जाति' अथवा 'जनजाति' से हुई। ब्राह्मण ग्रन्थों, विशेषकर पुराणों ने मौर्यो को शूद्र घोषित किया है। **विष्णुपुराण** के भाष्यकार के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य नन्द राजा तथा मुरा नामक उसकी एक पत्नि से जन्मा पुत्र था। विशाखदत्त ने भी **मुद्राराक्षस** में चन्द्रगुप्त को 'मौर्य पुत्र तथा नन्दान्वस (नन्दान्वय)' कहा है। क्षमेंद्र (**बहद्कथामंजरी**) तथा सोमदेव (**कथासरित सागर**) भी चन्द्रगुप्त मौर्य को **पूर्वनन्दसुत** बताते हुए शूद्र घोषित करते हैं। **मुद्राराक्षस** का 18वीं शताब्दी का भाष्यकार **धुन्धीराज** लिखता है कि चन्द्रगुप्त की माता मुरा शूद्र कन्या थी। स्वयं विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस में चन्द्रगुप्त को 'विषल' तथा 'कुलहीन (विषलात्मजा)' शब्द के आधार पर ही विद्वानों ने चन्द्रगुप्त के विषय में उपरोक्त मत प्रकट किए है।

परन्तु 'वषल' शब्द का अर्थ केवल शूद्र ही नही होता है। **मुद्राराक्षस** में वषल शब्द का प्रयोग 'राजाओं में वष अर्थात राजाओं में श्रेष्ठ' के लिए भी आया है। इस प्रकार इस शब्द का प्रयोग सम्मानसूचक है। इसी प्रकार 'कुलहीन' भी 'निम्न राजवंश का द्योतक है न कि शूद्र कुल का। यह शब्द इस ओर इंगित करता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य मूल राजवंश से न होकर निम्नराजवंश से संबंध रखता था। साथ ही यह यूनानी लेखक जस्टिन की उस उक्ति को भी सत्यापित करता है जिसमें उसने चन्द्रगुप्त को सामान्य परिस्थितियों में जन्मा घोषित किया है। यद्यपि पुराण मौर्यो को शूद्र बताते है तथापि उनका कथन केवल उस प्रचलित परिपाटी पर आधारित है जिसमें प्राचीन मगध समाज को मिश्रित जातियों से उत्पन्न माना गया है।

इतिहासकारों का मत है कि मौर्य वैश्य थे। रुद्रदमन द्वारा प्रतिपादित जूनागढ़ शिलालेख कहता है कि मौर्यो की उत्पति वैश्य जाति से हुई। प्रसिद्ध इतिहासकार रोमिला थापर भी अपनी पुस्तक 'ए हिस्ट्र ऑफ इंडिया' में इस मत की पुष्टि करती हैं। इस मत के मसर्थक अपनेपख को सुदढ़ बनाने के लिए यह तर्क देते है कि चन्द्रगुप्त मौर्य, जो कि मौर्य वंश का संस्थापक था, उसके नाम के अन्त में 'गुप्त' का लगना इस ओर इंगित करता है कि मौर्य वैश्य जाति से थे। साथ ही अशोक महान द्वारा विदिशा के एक व्यपारी की पुत्री के साथ विवाह करना भी इस मत को बल प्रदान करता है।

किन्तु बौद्ध एवं जैन स्त्रोत मौर्यों को क्षत्रिय जाति का बताते है। **'महावंश-टीका'** के अनुसार मौर्यों का सम्बन्ध सूर्यवंशी क्षत्रिय शाक्यों से था। मध्य कालीन शिलालेखों के अनुसार भी मौर्य वंश सूर्यवंशी प्रतीत होता है। कहा जाता है कि मौर्य जाति का आरम्भ **मान्धात** से हुआ जो सूर्यवंशी राजकुमार था। जैन परम्परा के अनूसार नन्द को नाई और वेश्या की सन्तान बताया गया है। इसी परम्परा के अनुसार हम इस तथ्य से अवगत होते है कि चन्द्रगुप्त मोरों अथवा मयूरों को पालने वाले ग्राम के मुखिया की बेटी का पुत्र था। एक स्मारक से भी इस बात की पुष्टि होती है कि मौर्यवंश का सम्बन्ध मोरों से अवश्य रहा होगा।लौरिया नन्दनगढ़ स्थित अशोक के स्तम्भ के एकदम निम्न भाग में मयुर की प्रतिमा अंकित है। अशोक के काल में सांची से भी ऐसी अनेक प्रतिमाएं उपलब्ध है। बौद्ध परम्परा के अनुसार भी मौर्यों का सम्बन्ध मोरों से प्रतीत होता है। हमें बताया गया है कि पाटलीपुत्र के मौर्य राजप्रसाद में भी अनगिनत मयुरों को रखा जाता था।

बौद्ध ग्रन्थों में चन्द्रगुप्त को मौर्यवंश अथवा मोरिय वंश का बतलाया गया है। उसके सम्बन्ध में **महावंश** में लिखा है कि चन्द्रगुप्त मोरिय वंश का क्षत्रिय था और **महापरिनिब्बान (महापरिनिर्वाण) सुत** के अनुसार यह मोरिय पिप्पलिवन नामक प्रजातन्त्र राज्य के शासक थे। क्योकिं **महापरिनिर्वाण सुत** ऊपर वर्णित सभी ग्रन्थों में सबसे प्राचीन है। इस कारण इसका महत्व तथा प्रमाणिकता भी होनी चाहिए। तब इसमें कोई आश्चर्य नही रहता कि चन्द्रगुप्त मौर्य क्षत्रिय था। हमें यह पता चलता है कि छठी शताब्दी ई०पू० में पिप्पलिवन का मोरिय वंश रुम्भिनदई तथा कासिया के बीच के क्षेत्रों पर शासन करता था। चौथी शताब्दी ई०पू० में संभवतः मोरियों का राज्य मगध के साम्राज्य में मिला लिया गया था। किंवदंति के अनुसार चन्द्रगुप्त के पिता की हत्या कर दी गई तथा उसकी माता जो गर्भवती थी अपने सम्बन्धियों के साथ गुप्त रूप से असकर पाटलीपुत्र में रहने लगी। गुप्त रूप से रहने से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि चन्द्रगुप्त की माता तथा अन्य सम्बनधी मोर–पालकों के रूप में रहकर अपने राजवंश को छिपाए हुए थे जिससे कि वे नन्द के कोप का शिकार होने से बच सकें। इस प्रकार मोर पालकों के बीच उत्पन्न चन्द्रगुप्त आगे चलकर मोरिय अथवा मौर्य कहलाया। इतिहासकार हेमचन्द्र राय चौधरी का भी यही मत है कि चन्द्रगुप्त निश्चय ही मोरिय वंश का क्षत्रिय था। राजपूताना गैजेटिसर में भी मौर्यों को क्षत्रिय बतलाया गया है। राजस्थान में अब भी मोरिय वंश के राजपूत (क्षत्रिय) निवास करते हैं। कर्नल जेम्स टॉड ने इन्हे मौर्य वंश का बतलाया है।चाणक्य ने भी मौर्यों को उच्चवंशीय क्षत्रिय कहा है। दिव्यावदान में चन्द्रगुप्त मौर्य के पुत्र बिन्दुसार को क्षत्रिय की उपमा दी गई है। इसी ग्रन्थ में अशोक को भी क्षत्रिय बतालाया गया है। इस प्रकार अब प्रायः यह बात मान ली गई है कि मौर्य लोग उच्चवंश के क्षत्रिय थे, शुद्र नही थे।

चन्द्रगुप्त मौर्य :-

चन्द्रगुप्त मौर्य का जन्म 345 ई०पू० में मोरिय अथवा मौर्य वंश के क्षत्रिय कुल में हुआ था जो शाक्यों की एक शाखा थे और पिप्पलिवन के गणराज्य में शासन करते थे। बौद्ध अनुश्रुतियों के अनुसार चन्द्रगुप्त का पिता जिसका नाम अज्ञात है मोरियों का मुखिया था। वह संभवतः किसी संघर्ष में मारा गया। उसकी मत्यु के पश्चात् उसकी पत्नि भागकर पाटलीपुत्र पहुँची तथा वहीं उसने एक शिशु को जन्म दिया जो कालान्तर में चन्द्रगुप्त के नाम से विख्यात हुआ। सुरक्षा के दष्टिकोण से बालक चन्द्रगुप्त कां एक गौशाला में छोड़ दिया गया। बाद में उसका पालन–पोषण एक गड़रिये (चरपाहे) ने किया।

बालक चन्द्रगुप्त शैशव से ही कुशाग्र बुद्धि का स्वामी था। दन्तकथाओं के अनुसार उसे ''राजकीलम्'' (राजक्रीड़ा) नामक खेल अतिप्रिय था। इस खेल में वह स्वयं राजा बनता था तथा अपने साथियों को अपना दरबारी बनाता था। वह स्वयं ऊँची जगह बैठकर न्याय करता था। कहा जाता है कि ऐसे ही खेल के समय उस पर चाणक्य अथवा कौटिल्य की दष्टि पड़ी। कौटिल्य तक्षशिला का प्रसिद्ध आचार्य था। वह युनानीयों से भारत को मुक्ति दिलाने के सम्बन्ध में अंतिम नन्द शासक धननन्द के पास पाटलीपुत्र आया था। परन्तु ननद शासक ने उसे अपमानित कर निकाल दिया। इसलिए इस अपमान से वह काफी क्षुब्द एवं क्रुद्ध था। बालक चन्द्रगुप्त में इसे अपने उद्देश्यों की पूर्ति का साधन नजर आया। वह चन्द्रगुप्त के माध्यम से नन्दवंश को नष्ट करने का निश्चय ले चुका था। कहा जाता है कि उसने गडरिये से चन्द्रगुप्त को खरीद लिया तथा उसे अपने साथ तक्षशिला ले गया। तक्षशिला में उसने चन्द्रगुप्त को उचित शिक्षा दी, अस्त्र–शस्त्रों के संचालन में निपुण बनाया तथा उसे हर प्रकार से अपने कार्य के अनुकूल तैयार किया।

प्रारम्भिक विजय :-

मगध में नन्द शासक का शासन बहुत कुख्यात हो चला था। उनके अत्याचारी शासन से जनता क्षुब्द थी। उधर, उत्तर–पश्चिमी भारत में युनानीयों की शक्ति उत्कर्ष पर थी तथा इस क्षेत्र के बड़े भाग पर उनका प्रभुत्व स्थापित हो चुका था। अतः चन्द्रगुप्त और चाणक्य के समक्ष दो प्रमुख समस्याऐं थीं– (i) मगध के अत्याचारी शासन का तथा (ii) देश को युनरनीयों की चंगुल से बचाना।अपने पहले उद्देश्य के लिए वे विदेशी सहायता लेने से भी नही हिचकिचाए। जस्टिन (जस्टिनियन) के अनुसार चन्द्रगुप्त सिकन्दर के पास उसकी सहायता प्राप्त करने के लिए गया था। परन्तु उसकी उद्ण्डता से सिकन्दर ने उसे मार डालने का आदेश दिया। फलतः चन्द्रगुप्त को भाग कर अपनी जान बचानी पड़ी।

तत्पश्चात उसने अपने आप को संगठित करना आरम्भ कर दिया।उसने पश्चिमोत्तर सीमा प्रदेश में फैले युनानी शासन के विरूद्ध जनता के असंतोष का लाभ उठाया। उसने जनता को प्रोत्साहित किया तथा उनका नेता बन गया। उसने एक सुसंगठित सेना तैयार की जिसमें उसने पंजाब में रहने वाले लड़ाकू वीरों को सम्मिलित किया। **मुद्राराक्षस** और **परिशिष्टपर्वन** से ज्ञात होता है कि उसने अपने इन उद्देश्यों को पूरा करने के लिये हिमालय के पर्वतीय प्रदेश के राजा पर्वतक से मित्रता भी स्थापित की। इस मित्रता के परिणामस्वरूप चन्द्रगुप्त की सेना काफी सुदढ़ हो गई। शक, यवन, पारसी, किरात, कम्बोज, वाहलीक आदि जातियों के लोग उसकी सेना में सम्मिलित थे।

युनानीयों से सम्पर्क :-

अपने आप को सामरिक रूप से सुदढ़ कर चन्द्रगुप्त ने युनानीयों को भारत से बाहर खदेड़ने का बीड़ा उठाया। चन्द्रगुप्त के इस विजय अभियान का वर्णन युनानी लेखक जस्टिन ने किया है। वास्तव में चन्द्रगुप्त अपने देश को विदेशी पराधीनता से मुक्त करना चाहता था। जस्टिन लिखता है, ''सिकन्दर की मत्यु के पश्चात् भारत ने अपने गले से दासता का जुआ उतार फेंका औश्र उसके क्षत्रपों को तार डाला। इस मुक्ति का स्रष्टा सैण्ड्रोकोटस (चन्द्रगुप्त) था।'' यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि विभिन्न युनानी लेखकों ने चन्द्रगुप्त को अलग–अलग नामों से पुकारा है। जस्टिन, स्ट्रेबो तथा एपेरियन जहाँ उसे **सैण्ड्रोकोटस** कहते हैं वहीं फिलार्कस उसे **सैण्ड्रोकोपोटस** तथा एपियान, ऐरियन तथा प्लूटार्क उसे एण्ड्रोकोटस के नाम से पुकारते हैं। मुद्राराक्षस में भी चन्द्रगुप्त को 'विषल' तथा 'कुलहीन' के अतिरिक्त चन्द्रश्री भी कहा गया है। सवग्प्रथम विलियम जोंस ने ही **सैण्ड्रोकोटस** की पहचान चन्द्रगुप्त मौर्य के रूप में की। बहरहाल, जस्टिन के उपर्युक्त वक्तव्य से यी स्पष्ट हो जाता है कि चन्द्रगुप्त भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का प्रधान नायक था। सिकन्दर के 325 ई०पू० में भारत से प्रस्थान के बाद चन्द्रगुप्त ने उसके दो महत्वपूर्ण युनानी क्षत्रपों **निकानोर** तथा **फिलिप** की हत्या करवा दी। इसी बीच 323 ई०पू० में सिकन्दर की बेबीलोन में मत्यु हो गई। इस घटना ने जहाँ एक ओर चन्द्रगुप्त की महत्वाकांक्षा तथा उसके साहस को बढ़ दिया वंही दूरी ओर युनानीयों की दुर्बलता का फायदा उठाकर चन्द्रगुप्त ने सम्पूर्ण सिंध एवं पंजाब पर अपना अधिकार कायम कर लिया तथा स्वयं शासक बन बैठा। पंजाब पर विजय प्राप्त कर लेने के उपरान्त चन्द्रगुप्त पूरब की ओर बढ़ा और केवल दो वर्षों में ही हरिद्वार से इलाहाबाद तक गंगा की सम्पूर्ण उत्तरी और मध्यघाटी पर अपना अधिपत्य कायम करने में सफल रहा। इतने विस्तत प्रदेश का स्वामी बन जाने से चन्द्रगुप्त की सेना औश्र शक्ति में अपूर्व वद्धि हुई। अब वह पंजाब तथा गंगा की ऊपरी घाटों का एकछत्र नरेश था।

मगध की विजय :-

इन विजयों से उत्साहित होकर चन्द्रगुप्त तथा चाणक्य ने मगध विजय की योजना बनाई। कहा जाता है कि प्रारम्भ में उन्होंने गलत समर नीति से काम लिया। यदि हम **महावंश-टीका** तथा हेमचंद्र कृत **स्थाविरावली-चरित** में वर्णित कहानियों के सार को समझें तो हमें पता चलता है कि चन्द्रगुप्त ने सर्वप्रथम मगध साम्राज्य के केन्द्र पर आक्रमण कर दिया। सीमान्त प्रदेशों को पहले जीतकर अपने अधिकार में करने का प्रयत्न नही किया। फलस्वरूप आक्रमण विफल रहा। तब दूसरी बार चन्द्रगुप्त ने साम्राज्य की सीमाओं से आक्रमण आरम्भ किया और मार्ग में जो नगर तथा सैनिक चौकियाँ पड़ी, उन पर अधिकार करते हुए आगे बढ़ा तथा मगध की सीमा में प्रवेश कर पाटलीपुत्र को घेर लिया। युद्ध में नन्द राजा धननन्द मारा गया। **मिलिन्दपन्हो** के अनुसार यह युद्ध भीषण और रक्तपातपूर्ण था। यद्यपि जैन अनुश्रुतियाँ ये कहती है कि युद्ध में पराजय के पश्चात् धननन्द को क्षमा करते हुए उसे जीवित छोड़ दिया, तथापि अधिकांश स्त्रोत इस युद्ध के पश्चात् धननन्द की हत्या ही प्रमाणित करते हैं। **मुद्राराक्षस** से यह ज्ञात होता है कि नन्द शासक की हत्या कर दी गई थी। नन्द सेनापति भद्रशाल (भट्टशाल) को पराजित होना पड़ा। चन्द्रगुप्त ने पाटलीपुत्र पर अधिकार कर लिया। 321 ई०पू० में चन्द्रगुप्त मौर्य मगध का सम्राट बना।

सैल्युकस से युद्ध :-

युनानी लेखकों के विवरण से पता चलता है कि जिस समय चन्द्रगुप्त भारत विजय में लगा हुआ था उसी समय पश्चिमी एशिया में सेल्युकस भारत पर आक्रमण करने की तैयारी कर रहा था। सेल्युकस सिकन्दर के उन सेनानायकों में से था जिन्होने उसकी मत्यु के पश्चात् उसके साम्राज्य को आपस में बाँअ लिया था। उसने सिकन्दर का अनुकरण करते हुए 305 ई०पू० में भारत पर आक्रमण कर दिया। वास्तव में सिकन्दर द्वारा जीते गए जिन प्रदेशों पर चन्द्रगुप्त ने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था उन्हे सेल्युकस पुनः प्राप्त करना चाहता था। उधर चन्द्रगुप्त ने भी देश के पश्चिमोत्तर सीमा की सुरक्षा की पूर्ण व्यवस्था कर ली थी तथा उसकी सेना सेल्युकस की सेना को सिन्ध के उस पार ही रोक दिया। दोनों सेनाओं में भीषण संग्राम हुआ जिसमें सेल्युकस की हार हुई। उसे हार कर चन्द्रगुप्त से संधि करनी पड़ी जिसके अनुसार सेल्युकस को अपने (युनानी) राज्य का बड़ा भाग चन्द्रगुप्त को सौंपना पड़ा। दोनों में मित्रता स्थापित हो गयी तथा दोनों में वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित हुए। एप्पियन के अनुसार सेल्युकस ने अपनी पुत्री का विवाह चन्द्रगुप्त से कर दिया। चन्द्रगुप्त ने भी सेल्युका को 500 हाथी उपहारस्वरूप प्रदान किये। संधि की एक अन्य शर्त

के अनुसार दूत विनिमय करने का भी पिश्चय किया गया। सेल्युकस ने **मेगरस्थनीज** को चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में अपने राजदूत के रूप में भेजा। वह काफी दिनों तक पाटलीपुत्र में रहा और वहाँ उसने जो अनुभव किया उसका आँखों देखा वर्णन उसने अपनी पुस्तक **इंडिका** में किया।

इस संधि का विशेष महत्व है क्योंकि इस संधि के परिणामस्वरूप उत्तर–पश्चिम में चन्द्रगुप्त के साम्राज्य की एक निश्चित सीमा निर्धारित हो गई। इतना ही नही, इस विजय के फलस्वरूप चन्द्रगुप्त का राज्य काफी विस्तत हो गया, क्योंकि सेल्युकस को एरिया (हेरात), आरकोशिया (कान्धार), जेड्रोसिया (ब्लूचिस्तान) एवं परोपेनिसडाई अर्थात काबुल गान्धार प्रदेश और सिन्ध के मध्य स्थित क्षेत्र चन्द्रगुप्त को सौप देने पड़े। जिसके फलस्वरूप मौर्य साम्राज्य की सीमा अब ईरान तक पहुँच गई।

अन्य विजयें :-

चन्द्रगुप्त की अन्य विजयों का हमें विस्तत वतान्त नही मिलता। किन्तु उसके साम्राज्य के विस्तार से ही स्पष्ट है कि उसका लगभग सम्पूर्ण जीवन सैनिक कार्यों में ही बीता होगा। इतिहासकार हेमचन्द्र राय चौधरी के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य ने आगे बढ़ कर पश्चिम भारत में सौराष्ट्र को जीत लिया। मालवा तथा सौराष्ट्र चन्द्रगुप्त के साम्राज्य के अंग थे इसमें कोई संदेह नही है। जूनागढ़ में रूद्रदमन प्रथम के एक उत्कीर्ण लेख है जिससे पता चलता है कि चन्द्रगुप्त ने उस क्षेत्र पर शासन करने के लिये पुष्यगुप्त नामक एक व्यक्ति को सूबेदार नियुक्त किया था और वहाँ सिंचाई के लिए सुदर्शन नामक एक झील का निर्माण करवाया था। अशोक के समय में तुशाष्प नामक एक युनानी व्यक्ति उस प्रदेश का सूबेदार था। थाणे जिले में सोपारा नामक स्थान पर अशोक का एक उत्कीर्ण लेख मिला है, इससे स्पष्ट है कि यह प्रदेश उसके साम्राज्य में सम्मिलित था।

चन्द्रगुप्त की दक्षिण विजय को लेकर इतिहासकारों में मतभेद हैं। डा० विन्सेट ऑर्थर स्तिथ के अनुसार मौर्यो ने दक्षिण भारत की विजय बिन्दुसार के काल में की न कि चन्द्रगुप्त के काल में। उन्होने अपने वक्तव्य के समर्थन में 16वीं शताब्दी के बौद्ध लेखक तारानाथ (तिब्बती इतिहासकार) की उस उक्ति का उल्लेख किया है जिसमें यह कहा गया था कि बिन्दुसार ने सोलह राज्यों के राजाओं तथा मंत्रियों को हराकर अपने साम्राज्य का विस्तार समुन्द्र से समुन्द्र तक कर लिया। इस विषय में स्मिथ दूसरी अथवा तीसरी शताब्दी के तमिल कवि मामुलन्नार के उस संदर्भ का भी वर्णन करता है जिसमें इस कवि ने दक्षिण में किसी तमिल राजा को हराने के लिए भेजी जानेवाली **मरियर** (मौर्यो) की सेना का उल्लेख किया है।

परन्तु दक्षिण भरत की विजय का कार्य बिन्दुसार का नही लगता क्योकिं कभी बिन्दुसार दक्षिण गया हो इसका कोई प्रमाण नही मिलता। दूसरी ओर हमारे पास कुछ ऐसे साक्ष्य हैं जिनसे पता चलता है कि बिन्दुसार में एक विजेता बनने के लिए आवश्यक गुणों का अभाव था क्योकिं जब तक्षशिला में विद्रोह हुआ तब उस विद्रोह के दमन के लिए बिन्दुसार ने स्वयं न जाकर अपने पुत्र अशोक को भेजा। यह तथ्य उसकी सैनिक अयोग्यता को ही प्रदर्शित करता है। इसके साथ ही युनानी लेखकों के माध्यम से हमें पता चलता है कि बिन्दुसार की रूचि युद्ध की अपेक्षा 'सूखे अंजीर, मदिरा तथा सोफिस्ट (युनानी दार्शनिक) से वार्तालाप' में थी।

इसके विपरित चन्द्रगुप्त एक महान साम्राज्य निर्माता था। युनानी लेखक प्लूटार्क ने तो यहां तक लिखा है कि उसने '(ऐण्ड्रोकस अथवा चन्द्रगुप्त मौर्य)' 6,00,000 सेना को लेकर समस्त भारत को पदाक्रांत कर दिया। जैन अनुश्रुतियाँ चन्द्रगुप्त मौर्य का दक्षिण भारत से संपर्क प्रमाणित करती है। बस संबंध में हरिशेण कृत **बहत-कथा कोश** , रत्ननन्दी कृत **भद्रबाहुचरित** तथा **राजवली कथा** हमारे ज्ञान का विस्तार करती हैं। **राजवली कथा** से हमें पता चलता है कि पाटलीपुत्र का राजा चन्द्रगुप्त अपने राज्य को अपने पुत्र के पक्ष में त्याग कर जैन गुरु भद्रबाहु का शिष्य बन गया तथा दक्षिण भारत चला गया। यहा श्रावण बेल गोला के निकट चन्द्रगिरि नामक पवग्त पर उसने जैन धर्म द्वारा मान्यता प्राप्त सल्लेखन किया (उपवास रखने की क्रिया) द्वारा सन् 298 ई०पू० में प्राणांत कर लिया। प्रचलित परिपाटी के अनुसार इस पर्वत (चंद्रगिरि) पर विद्यमान एक प्राचीन मंदिर का नाम भी चन्द्रबस्ती केवल इसलिए पड़ा क्योकिं इसका निर्माण स्वयं चन्द्रगुप्त मौर्य ने करवाया था।

इसके साथ ही अशोक के गोविमठ तथा पालकीगुण्ड लेखों, जो कि कोपबल तालु के मैसूर में स्थित है, मास्की लघु शिलालेख जो रायचुर, आंध्रप्रदेश में है तथा कुर्नूल स्थित एरागुडी लघु शिलालेख से हमें पता चलता है कि दक्षिण भारत को चन्द्रगुप्त मौर्य ने ही जीता था। चन्द्रगुप्त के पुत्र बिन्दुसार ने कोई विजय की हो इसका उल्लेख नही मिलता और जैसा कि अशोक ने स्वयं शिलालेख XIII में कहा है उसकी एकमात्र विजय कंलिग प्रदेश पर थी जिसके पश्चात् उसने 'असुर विजय', 'लोभ विजय' अथवा ' दिग्विजय' के स्थान पर धर्म विजय को महत्व देना आरंभ कर दिया।

जहाँ तक इस विजय में ऊपर वर्णित तमिल साहित्य का प्रश्न है तो कवि मामुलन्नार केवल उल्लेख करता है कि दक्षिण में किसी तमिल राजा को हराने के लिए मरियर (मौर्यो) की सेना भेजी गई थी जिसने कोंकण के रास्ते कन्नूर तथा कोंगू (कोयम्बटूर) राज्य को पार कर सुदूर त्रिन्नेवली प्रदेया की दाडियल पहाडियों तक अपना प्रसार किया। इस वणैन में मौर्यो के लिए **वम्बमरियर** शब्द

का प्रयोग हुआ है जिसमें उपयुक्प विशेषण **वम्ब** (तुंरत उठा हुआ) से यह प्रतीत होता है कि यह उल्लेख चन्द्रगुप्त मौर्य के विषय में ही है क्योकिं वही प्रारम्भिक मौर्य सम्राट था। अधिकांश इतिहासकार यही मानते है कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने दक्षिण भारत की विजय अन्तिम नन्द शासक को हराने के बाद तथा सेल्युकस को हराने से पहले की।

साम्राज्य विस्तार :-

उपरोक्त वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि जिस विशाल साम्राज्य पर सम्राट अशोक ने बाद में शासन किया उसका निर्माण मूलतः उसके पितामह चन्द्रगुप्त मौर्य ने ही किया था। वी०ए० स्मिथ के अनुसार चन्द्रगुप्त के साम्राज्य में निश्चित ही अफगानिस्तान, प्राचीन एरियाना, हिन्दुकुश पर्वत श्रंखला, पंजाब, उत्तरप्रदेश, बिहार तथा पश्चिम में काठियावाड़ सम्मिलित थे। कदाचित बंगाल भी उसके साम्राज्य का हिस्सा था। राघा कुमुद मुखर्जी के अनुसार भी चन्द्रगुप्त ने निश्चय ही एक विशाल साम्राज्य पर शासन किया। इससे यह स्पष्ट है कि जब चन्द्रगुप्त मौर्य का 298 ई०पू० में देहांत हुआ तब उसका विशाल साम्राज्य उत्तर में कशमीर से लेकर दक्षिण में मैसूर तक तथा पूर्व में कामरुप से लेकर पश्चिम में हिरात, काबुल, कन्धार, ब्लूचिस्तान तक फैला हुआ था। उसके साम्राज्य की सीमाऐं हिन्दुकुश पर्वत के पश्चिम में दूर तक फैली हुई फारस की सीमा को स्पर्श कर रही थी। इतना बड़ा साम्राज्य इससे पहले भारत में किसी राजा ने कायम नही किया था।

(बिन्दूसार 298-273 ई०पू०)

चन्द्रगुप्त मौर्य के पश्चात् उसका पुत्र व उत्तराधिकारी बिन्दुसार गद्दी पर बैठा। युनानी लेखक ऐथेनियस ने उसे **अमित्रोचेट्स** कहा है जबकि एक अन्य युनानी लेखक स्ट्रेबो ने उसे **अलित्रोचेड्स** कहता है। कुछ विद्वानों के अनुसार **अमित्रोचेट्स** का संस्कृत रूप है **अमित्रधात** जिसका अर्थ होता है शत्रुओं का नाश करने वाला। संस्कृत साहित्य में **अमित्रधात** के अतिरिक्त बिन्दुसार के लिए **अमित्रखाद** (अर्थात शत्रुओं को खा जाने वाला) का भी प्रयोग हुआ है। वायु पुराण में उसे **भद्रसार** तथा जैन ग्रन्थ **राजवलीकथा** में **सिंहसेन** कहा गया है। बिन्दुसार के शासक काल के सम्बन्ध में हमारी जानकारी बहुत कम है। पुराणों के अनुसार बिन्दुसार ने 24 वर्ष तक शासन किया लेकिन बौद्ध ग्रन्थ महावंश उसकी शासन अवधि 27 वर्ष मानती है। जो भी हो अधिकांश इतिहासकार इस विषय में एकमत हैं कि उसका शासन काल ई०पू० 298 से लेकर ई०पू० 273 तक रहा। यद्यपि बिन्दुसार को ग्रन्थों में **अमित्रघात** की उपाधि दी गई है तथापि हमें यह जानकारी नही मिलती के उसके शत्रु काव्न थे। जैन तथा बौद्ध अनुश्रुतियों से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त की मत्यु के पश्चात् भी चाणक्य कुछ समय तक ओर जीवित रहा औश्र बिन्दुसार के शासन के आरम्भ में उसकी नीति का संचालन करता रहा। तिब्बती इतिहासकार तारा नाथ ने लिखा है कि चाणक्य ने राजा को सोलह नगरों के सामन्तों और राजाओं का नाश करने में तथा पूर्वी और पश्चिमी संमुन्द्रो के बीच के प्रदेशों पर अपना अधिपत्य स्थापिप करने में सहायता दी। इस कथन के आधार पर कुछ विद्वानों ने यह अनुमान लगाया है कि बिन्दुसार ने पश्चिम तथा दक्षिण पथ के उन प्रदेशों पर विजय प्राप्त की जो चन्द्रगुप्त के साम्राज्य में सम्मिलित नही थे। किन्तु उपरोक्त वक्तव्य इसी तथ्य से गलत साबित हो जाते है कि हम निश्चित तौर पर यह जानते हैं कि सौराष्ट्र प्रांत पर पहले से ही चन्द्रगुप्त का अधिपत्य था। बहरहाल हमें तिब्बती बौद्ध ग्रंथ **दिव्यावदान** से यह पता चलता है कि चाणक्य की मत्यु के पश्चात् खालटक अथवा कालाटक बिन्दुसार का प्रधानमंत्री बना।

दिव्यावदान के ही अनुसार बन्दुसार के ही शासनकाल में दो बार विद्रोह हुए। प्रथम बार यह विद्रोह तत्कालीन तक्षशिला के गर्वनर तथा बिन्दुसार के बड़े पुत्र सुसिम (अथवा सुमन) द्वारा स्थापित क्रुशासन के विरूद्ध हुआ जिसको दबाने के लिण कुमार अशोक (जो कि बिन्दुसार का दूसरा पुत्र था तथा उस समय उज्जैन का गर्वनर था) को भेजा गया जिसने सफलतापूर्वक इस विद्रोह का दमन किया। दूसरी बार हुय विद्रोह को दबाने के लिए सुसीम को भेजा गया किन्तु उसी समय बिन्दुसार की मत्यु होने के कारण इस विद्रोह को दबाया न जा सका।

युनानी लेखकों के अनुसार बिन्दुसार विलासिता प्रिय शासक था। एथेनियस के अनुसार बिन्दुसार ने सीरिया के राजा एण्डिओकस प्रथम सोटर को पत्र लिखकर अंगुरी (मीठी) शराब, सूखे अंजीर तथा एक सोफिस्ट भेजने को कहा। इसके प्रत्युतर में सीरिया के शासक ने लिखा कि मैं आपके लिए अंजीर तथा शराब तो भेज दुँगा, किन्तु युनानी कानून के अनुसार सोफिस्टों को बेचना मना है।

कुल मिलाकर बिन्दुसार की महत्ता उसके द्वारा किया गया साम्राज्य विस्तार न होकर अपने पिता से प्राप्त साम्राज्य को अक्षुण्ण रखने में है। वह अपने पिता से प्राप्त विशाल साम्राज्य की रक्षा करने में सफल रहा। यद्यपि इसका श्रेय बहुत कुछ चन्द्रगुप्त की सुदढ़ शासन व्यवस्था को था, फिर भी यह मानना पड़ेगा कि यदि बिन्दुसार में पराक्रम तथा राजनैतिक दूर–दर्शिता का अभाव होता तो उसके लिए अपने साम्राज्य की रक्षा करना असंभव हो जाता। दूसरे, उसकी नीति शान्ति एवं मित्रता की थी। उसने व्यर्थ के युद्धों में अपनी शक्ति और साधन नष्ट नही किए अपितु पश्चिम के युनानी शासकों के साथ मित्रता कायम रखी। स्ट्राबो के अनुसार सेल्युकस के उत्तराधिकारी सीरिया के राजा एण्टियोकस ने मेगस्थनीज के स्थान पर डाइमेक्स को अपना दूत बनाकर बिन्दुसार के दरबार में

भेजा। प्लिनी लिखता है कि मिस्र के राजा टॉलमी द्वितिय फिलाडेल्फस ने भी भारतीय सम्राट के दरबार में डायोनिसस नामक व्यक्ति को राजदूत के रूप में भेजा। इसके साथ ही बिन्दुसार ने साम्राज्य के प्रशासन में भी कोई शिथिलता नही आने दी। यह भी स्मरणीय है कि बिन्दुसार सुसंस्कृत सम्राट था। उसे साहित्य, दर्शन आदि से प्रेम था। उसने युनानी सम्राट से एक सोफिस्ट मांगा था, इसी से उसका दर्शन–प्रेम प्रकट होता है।

पुराणों के अनुसार बिन्दुसार ने पच्चीस वर्ष शासन किया किन्तु बौद्ध ग्रन्थ हमें बताते हैं कि उनका शासन काल सत्तईस अथवा अट्ठाईस वर्ष तक चला।

अशोक महान (273-232 ई०पू०)

बौद्ध परम्परा के अनुसार बिन्दुसार की सोलह रानियाँ तथा एक सौ एक पुत्र थे। राजकुमार सुसीम (अथवा सुमन) इनमें सबसे बड़ा था तथा वह तक्षशिला का गर्वनर था। अशोक द्वितिय पुत्र था तथा **महावंश** के अनुसार बिन्दुसार की मत्यु के समय वह उज्जैन का गर्वनर था। तिस्स अथवा तिव्य बिन्दुसार का सबसे छोटा पुत्र था। यह निश्चित है कि बिन्दुसार की मत्यु के पश्चात् कालाटक अथवा राधागुप्त नामक मंत्री की सहायता से अशोक ही पाअलीपुत्र के सिंहासन पर आसीन हुआ। मौर्य सम्राटों में अशोक को प्रमुख स्थान प्राप्त है। उसकी तुलना विश्व की महानतम विभूतियों से की गई है। वह केवल मौर्य वंश का ही नही अपितु प्राचीन भारत एवं विश्व का एक महान् सम्राट था। उसकी तुलना इसराइल के डेविड तथा सोलोमन, रोम के मार्कस ओरलियस, शार्लभागन इत्यादि से की जाती है। इतिहासकार एच०जी०वेल्स ने अशोक को इतिहास का एक अद्वितिय व्यक्ति माना है।

प्रारम्भिक जीवन :-

अशोक के जीवन तथा प्रारम्भिक जीवन के सम्बन्ध में बहुत कम जानकारी उपलब्ध है। उसके पिता बिन्दुसार की अनेक पत्नियाँ थी। अशोक की माता के सम्बन्ध में भी इतिहासकारों में मतभेद है। कुछ विद्वानों का मत है कि अशोक बिन्दुसार की युनानी रानी से उत्पन्न हुआ था। रोमिला थापर के अनुसार भी उसकी माता या दादी युनानी राजकुमारी थी। परन्तु इस मत को सिद्ध करने के लिए कोई विश्वसनीय प्रमाण उपलब्ध नही है। **दिव्यावदान** में उल्लेख आता है कि अशोक की माता का नाम जनपदकल्याणी था। उत्तर भारतीय परम्पराओं में उसकी माता का नाम सुमद्रांगी बताया गया है जो कि चम्पा के ब्राह्मण की पुत्री थी तथा परम सुंदरी थी। किन्तु सिंहली अनुश्रुतियों के अनुसार अशोक की माता का नाम धर्मा था। अशोक की शिक्षा–दीक्षा अपने सहोदर भाई तिव्य तथा सौतेले भाइयों के साथ हुई। वह पढ़ने–लिखने, हथियार चलाने आदि में अन्य सभी राजकुमारों से अधिक योग्य था। सुसीम उसका सौतेला भाई था।

अशोक के प्रारम्भिक जीवन का एक ओर उल्लेख मिलता है। कहा जाता है कि जब वह उज्जैन की सूबेदारी का कार्यभार सम्हालने जा रहा था तो मार्ग में विदिशा में ठहरा। वहाँ एक व्यापारी की देवी नामक पुत्री से उसका विवाह हुआ। इस पत्नि से महेन्द्र नामक पुत्र तथा संघमित्रा नामक पुत्री हुई। बौद्ध धर्म के इतिहास में इन दोनो को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

साम्राज्य के लिए संघर्ष :-

बिन्दुसार की मुत्यु से पूर्व ही उसकी बीमारी का समाचार अशोक जो उस समय उज्ज्ैन का प्रतिनिधि शासक था, पाटलापुत्र चला आया। अशोक, सम्राट बिन्दुसार का द्वितिय पुत्र था। बिन्दुसार के सबसे बड़े पुत्र का नाम सुसीम था। वह अशोक का सौतेला भई था। तिष्य तथा अशोक सहादर भ्राता थे। तिष्य का ही दूसरा नाम विगताशोक अथवा वीताशोक था। अशोक का एक ओर भाई था जिसका नाम महेन्द्र था। महेन्द्र को कुछ इतिहासकारों ने अशोक का पुत्र भी माना है, परन्तु इस विषय में अधिक जानकारी प्राप्त नही हो सकी है। दिव्यवदान के अनुसार अशोक को राजसिंहासन की प्राप्ति के लिए अपने बड़े भाई सुसीम के साथ घोर संघर्ष करना पड़ा। उस संघर्ष में अंततः अशोक को विजय प्राप्त हुई और वह अपने पिता की मत्यु के चार वर्ष उपरान्त 269 ई०पू० में पाटलीपुत्र के राजसिंहासन पर बैठा।

बौद्ध अनुश्रुतियों में अशोक के सिंहासनारोहण के सम्बन्ध में भिन्न–भिन्न कथाएं मिलती है। **महावंश** में कहा गया है कि अशोक अपने भाइयों में सबसे क्रुर तथा अत्याचारी था तथा सिंहासन पर बैठने से पहले उसने तिष्य को छोड़कर शेष निन्यानवें भाइयों का वध कर दिया था। तिब्बती बौद्ध इतिहासकार तारानाथ भी लिखता है कि अशोक ने राजगद्दी पर आसीन होने से पहले अपने छह भाइयों को मार डाला। परन्तु आधुनिक इतिहासकार इन कहानियो काक कपोलकल्पित मानते हैं। उनका कहना है कि बौद्धों ने इस प्रकार की कहानियां यह दिखाने के लिए गढ़ ली होगीं कि किस प्रकार एक क्रुर तथा अत्याचारी सम्राट बौद्ध धर्म के प्रभ्ज्ञाव से दयावान हो गया। साथ ही अशोक के शिलालेखों में भी यह वर्णन मिलता है कि उसके शासन काल के सतरहवें तथा अठारहवें वर्ष में उसके भाई तथा बहनेंजीवित थी।

अशोक ने सम्रदट बनने के समय 'देवनामप्रिय' तथा 'प्रियदर्शी' की उपाधियाँ धारण की। उसके शिलालेखों से उसके नामों तथा उपाधियों का पता चलता है। जहाँ कान्धार शिलालेख में उसे 'प्रियदर्शी कहा' गया है वहीं बराबर गुहा लेख में उसे 'प्रियदर्शी राजा' कहते है। भाब्रु शिलालेख में उसे 'मगध के राजा' के नाम से पुकारा गया है तो मास्की तथा गुर्जरी शिलालेखों में उसे उसके नाम 'अशोक' से सम्बोधित किया गया है। जूनागढ़ शिलालेख में उसे अशोक मौर्य कहा गया है। पुराणों में उसके लिए अशोकवर्धन का प्रयोग हुआ है।

अशोक ने सम्राट बनने के पश्चात् अपने पूर्वजों की ही भांति साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण किया और साथही कुछ देशों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध कायम रखने की नीति का भी पालन किया। उसने यवन राज्यों में अपने राजदूत भेजे तथा उनके राजदूतों का स्वागत किया। उसने यवन पदाधिकारियों को अपने राज्य में नियुक्त किया जिसका उदाहरण हमें सौराष्ट्र से मिलता है जहाँ एक यवन सामन्त तुशष्प उसके प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता था। किन्तु आन्तरिक क्षेत्र में उसकी नीति राज्य विस्तार की थी। भारत में प्राचीन राजाओं की परम्परा के अनुसार उसका भी राजनीतिक आदर्श दिग्विजय था। फलतः भारत के जो प्रान्त अभी मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत नही थे उन पर आक्रमण करने का संकल्प किया। सर्वप्रथम उसने कश्मीर पर आक्रमण किया और उस पर विजय प्राप्त करके उसे अपने साम्राज्य में मिला लिया। कशमीर के प्राचीन ऐतिहासिक ग्रन्थ **राजतंरगिनी** में अशोक को मौर्य देश का प्रथम सम्राट व्यक्त किया गया है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि चन्द्रगुप्त या बिन्दुसार का कशमीर पर अधिकार नही था।

कलिंग की विजय तथा उसका महत्व :-

अपने शासन काल के तेरहवें तथा राज्याभिषेक के नवें वर्ष में अशोक ने कलिंग राज्य पर आक्रमण कर दिया। कलिंग उस समय एक प्रबल राज्य था और उसके पास एक विशाल सेना थी। संभवतः नन्दवंश के अंतिम राजा धनन्द के समय में कलिंग मगध साम्राज्य का एक अंग था। परन्तु नन्द वंश के पतन और मौर्य वंश की स्थापना के संक्रमण काल से लाभ उठाकर कलिंग ने अपनी स्वतन्त्रता कायम कर ली। मगध के लिए अपने पड़ोस में ऐसे शक्तिशाली राज्य का होना असह्म था। अतएव अशोक ने कलिंग की स्वतन्त्रता समाप्त करने का निश्चय करते हुए एक विशाल सेना का संगइन कर 261 ई०पू० में कलिंग पर आक्रमण कर दिया। अशोक के तेरहवें शिलालेख से हमें ज्ञात होता है कि अशोक ने कलिंग से युद्ध करके उसे अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। इसके लिए बड़ा भीषण युद्ध लड़ा गया। कहा जाता है कि इस युद्ध में एक लाख लोग बंदी बनाए गए तथा डेढ़ लाख लोग घायल हुए। मरने वालों की संख्या इससे भी अधिक थी। कई लाख स्त्रियाँ विधवा तथा बच्चें अनाथ हो गए।

कलिंग के युद्ध में भीषण नरसंहार हुआ, जिसे देखकर अशोक के ह्रदय पर गहरा प्रभाव पड़ङ्ग। उसके विचार एकदम परिवर्तित हो गए तथा उसने साम्राज्यवादी नीति को सदा के लिए त्याग दिया। इतिहासकार हेमचन्द्र राय चौधरी के अनुसार 'कलिंग विजय मगध ही नही अपितु भारत के भी इतिहास में अत्यंत महत्वपूर्ण साबित हुई'। इसके साथ ही मगध साम्राज्य के इतिहास में साम्राज्य विस्तार के उस काल का अन्त हुआ जिसका सूत्रपात हर्यांक वंश के शासक बिम्बिसार ने अंग राज्य के अधिग्रहण से किया था। कलिंग युद्ध के भीषण रक्तपात से अशोक के ह्रदय पर इतना प्रभाव पड़ा कि उसने राज्य विस्तार की नीति की परित्याग कर दिया तथा यह निर्णय लिया कि भविष्य में वह कभी युद्ध नही करेगा। 'भेरीघोष' का स्थान 'धम्मघोष' ने ले लिया तथा अशोक ने राज्य विजय के स्थान पर धर्मविजय को महत्व देना आरम्भ कर दिया। कलिंग युद्ध के उपरान्त अशोक ने यह घोषणा की थी –''कलिंग देश की विजय के समय जितने लोग मारे गए, घायल अथवा बन्दी बनाए गए, उसके शतांश अथवा सहस्रांश की भी आज हानि हो तो देवनाम्प्रिय को भारी दुख होगा। यही नही यदि देवनाम्प्रिय को कोई हानि भी पहुँचाए तो उसे यथासम्भव सहन कर लेना चाहिए। अब सम्राट के विचार में वास्तविक विजय धर्म विजय की थी अतएव भेरीघोष की जगह धर्म घोष की गूँज सुनायी देगी और दिग्विजय के स्थान पर धर्म विजय का प्रयत्न किया जाएगा।''

अशोक के ये विचार केवल सद्भावनाओं की अभिव्यक्ति मात्र नही थे। अशोक ने जो संकल्प किया उसे जीवन भर निभाया। कलिंग युद्ध के बाद उसने कोई युद्ध नही किया। यद्यपि अशोक के समय में मौर्य साम्राज्य काफी विस्तत हो चुका था, फिर भी भारतवर्ष में तथा उसकी सीमाओं पर अनेक छोटे–छोटे राज्य थे। कलिंग युद्ध के पश्चात् अशोक ने उन्हे जीतने का कभी प्रयत्न नही किया। अशोक ने यह निश्चय केवल अपने तक ही सीमित नही रखा वरन् अपने पुत्र तथा पौत्र को भी यह उपदेश दिया कि युद्ध न करें। इसका प्रमाण हमें उसके अन्य अभिलेखों से भी मिलता है। प्रथम कलिंग शिला अभिलेख में सीमान्त जातियों के प्रति अपनी नीति का उल्लेख करते हुए अशोक कहता है कि ''वे मुझसे अनुद्विग्न रहें, मुझसे आशवासन प्राप्त करें और मुझसे सुख ही लाभ करें, मुझसे दुख न पावें। वे इस प्रकार समझें कि जहाँ तक क्षमा करना संभव है देवों का प्रिय हम लोगों को क्षमा करेगा।''

इतना ही नही अशोक ने विदेशियों के साथ भी सहिष्णुता तथा मैत्रीपूर्ण नीति अपनाई। तेरहवें अभिलेख में यवन राजाओं एवं दक्षिण भारत के शासकों का उल्लेख है। ये यवन शासक थे, सीरिया के राजा एंटिओकस द्वितिय, मिस्र का राजा टॉलमी द्वितिय, मकदूनिया (Macedonia) का राजा ऐंटिगोनस, साइरिन का राजा मगस (Magas) एवं एपिरस का राजा एलेक्जेण्डर। उसने इन देशों में अपने

विचारों के प्रसार के लिए दूत भेजे। इसी प्रकार चोल, पांड्य, सरिय पुत्र, केरल पुत्र (चेर) तथा ताम्रपर्णी में भी अशोक के दूत गए। इससे पता चलता है कि अशोक ने युद्धविजय की अपेक्षा ह्रदय परिवर्तन तथा धर्म विजय पर अधिक जोर दिया।

यह भी सही है कि इस युद्ध के बाद अशोक ने हिंसा का जो त्याग किया उसका परिणाम मार्य साम्राज्य के लिए बड़ा ही अहितकर सिद्ध हुआ। उत्तरोतर में उसका पतन होने लगा। इस कारण भारत के राजनैतिक जीवन पर इसका बड़ा ही बुरा प्रभाव पड़ा। परन्तु धार्मिक एवं सांस्कृतिक दष्टि से इसका अत्याधिक महत्व है। इस युद्ध के उपरान्त अशोक ने बौद्ध धर्म को अपना लिया और आजीवन उसके प्रचार व प्रसार का कार्य किया। अन्य राज्यों से मैत्री सम्बन्ध स्थापित कर अशोक ने भारतीय सभ्यता–संस्कृति का बाहर के देशों में प्रचार किया।

इस दष्टिकोण से कलिंग युद्ध का महत्व विश्व के इतिहास में भी बहुत हो जाता है। विश्व के इतिहास में प्रायः यही देखा गया है कि युद्ध में विजय प्राप्त करने के पश्चात् विजय की आकांक्षा ओर भी बढ़ जाती है। परन्तु यह शायद इतिहास का एकमात्र ऐसा अनूठा उदाहरण है कि विजय प्राप्ति के बाद भी एक शासक ने अपनी महत्वाकांक्षा को दबा लिया तथा संकल्प कर लिया कि वह दिग्विजय के स्थान पर धर्म विजय करेगा। अशोक ने विजय के तुरंत बाद अहिंसात्मक बौद्ध धर्म को अपना लिया और उसके पचार एवं प्रसार में अपना तन–मन और धन अर्पित कर दिया।

अशोक का साम्राज्य विस्तार :-

यह सर्व विदित है कि कलिंग विजय ही अशोक की एकमात्र विजय थी। यदि प्राचीन कशमीरी इतिहास ग्रन्थ **राजतरंगिणी** पर विश्वास किया जाए तो कशमार विजय को भी अशोक की साम्राज्य वादी गतिविधियों से जड़ सकते हैं। परन्तु इनके अतिरिक्त उसके द्वारा साम्राज्य विस्तार के लिए किए गए प्रयास की कोई सूचना नही मिलती। अशोक के साम्राज्य के विस्तार को सही–सही निश्चित करना कोई कठिन कार्य नही है। हमें यह जानकारी है कि अशोक को विरासत में ही अपने पितामह चन्द्रगुप्त मौर्य तथा पिता बिन्दुसार से एक विशाल साम्राज्य मिला था। उत्तर–पश्चिम की ओर उसकी सीमाऐं निश्चय ही हिन्दुकुश तक फैली हुई थी। इसका अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि ऐशिया (हेरात), आरकोसिया (कन्धार), गेड्रोशिया (ब्लूचिस्तान) तथा पैरोपनेशिया (काबुल) के क्षेत्र पहले ही सेल्युकस निकेटर के द्वारा अशोक के पितामह चन्द्रगुप्त मौर्य को सौंप दिया था। बिन्दुसार तथा अशोक के समय में इन प्रदेशों पर किसी प्रकार के युनानी अधिपत्य का कोई प्रमाण नही मिलता। साथ ही देश के विभिन्न भागों से हमें जो अशोक के अभिलेख मिलते हैं उनसे उसके साम्राज्य को निश्चित करने में बड़ी सहायता मिलती है। उसके बुहत् चौदह शिलालेखों में से दो उत्तर–पश्चिम में शाहबाजगढ़ी (पेशावर जिला) तथा मनसेहरा (हजारा जिला) से प्राप्त हुए है जिससे यह स्पष्ट है कि अशोक का साम्राज्य दक्षिणी अफगानिस्तान तक फैला हुआ था। इसके साथ ही चीनी यात्री युवान च्वांग भी अपने वतांत में कफ्रिस्तान (कपीरा) तथा जलालाबाद में अशोक द्वारा निर्मित स्तूपों का वर्णन करता है। यही यात्री, राजतरंगिणी के लेखक कल्हण के साथ यह भी घोषित करता है कि कशमीर पर अशोक ने अधिकार कर लिया था। इस सम्बन्ध में यह जानना अति रूचिकर है कि श्रीनगर की स्थापना से भी अशोक को जोड़ा जाता है तथा यह कहा गया है कि उसने कशमीर घाटी में अनेक स्तूपों का निर्माण करवाया था। इन्ही बहद् चौदह शिलालेखों में से एक उत्तर में कालसी (यमुना व होन्स संगम पर) जो कि देहरादून जिले में पड़ता है, मिला है। इसी के साथ नेपाल की तराई में स्थित लघु स्तंभ लेख रूम्मनदेई तथा निग्लीवा और बिहार में चम्पारन में स्थित रामपुरवा, लौरियाअरराज एवं लौरियानन्दनगढ़ स्तम्भ लेखों से यह पता चलता है कि उत्तर में अशोक का साम्राज्य आधुनिक बिहार, उत्तरांचल तथा नेपाल तराई क्षेत्र को अपने में समाए हुए था। इसके साथ ही प्राचीन परम्पराओं के अनुसार नेपाल में ललितट्टन नामक स्थान का निर्माण भी अशोक ने करवाया था।

यदि पूर्व दिशा की बात करें तो ऐसा प्रतीत होता है कि बंगाल भी अशोक के साम्राज्य का एक हिस्सा था। युवान च्वांग ने पुड्रवर्धन (उत्तरी बंगाल) में अशोक के स्तूप देखे थे तथा बोगरा जिले में स्थित महास्थान स्तम्भ लेख, जो कि मौर्य काल से सम्बन्धित है और ब्राहनी लिपि में है, से भी यह जानकारी मिलती है कि अशोक का बंगााल के ऊपर अधिकार था। यह तो सर्वविदित है ही कि कलिंग को जीतकर अशोक ने अपने साम्राज्य में मिला लिया था। कलिंग (उड़ीसा) के विभिन्न प्रदेशों पर अशोक के अधिपत्य की पुष्टि यहासे प्राप्त उसके पुरी जिले में स्थित धौली तथा गंजाम जिले में स्थित जौगढ़ नामक शिलालेखों से भी होती है। अशोक के गिरनार (काठियावाड़–गुजरात) तथा सोपारा (थाणे जिला–महाराष्ट्र) से यह ज्ञात होता है कि अशोक का साम्राज्य पश्चिम में सौराष्ट्र तथा अरबसागर तक फैला हुआ था। इस बात की पुष्टि रूद्रदमन के जूनागढ़ शिलालेख से भी होती है जिसमें यह बताया गया है कि यवनराज तुशष्प सौराष्ट्र में अशोक के प्रतिनिधि के क्ष्प में कार्य कर रहा था। दक्षिण भारत की ओर आन्ध्रप्रदेश के कुर्नूल जिले में स्थित एरागुड़ी तथा आन्ध्रप्रदेश के ही रायचूर जिले में स्थित मास्की लघु शिलालेख एवं कर्नाटक में पालकी गुन्डु, ब्राहनी गिरी, जतिंग रामेश्वर, सिद्धपुर तथा गोविमठ लघु शिलालेखों से यह पता चलता है कि दक्षिया भारत में चित्तलदुर्ग तथा मैसूर तक अशोक के

साम्राज्य की सीमाऐं फैली हुई थी। जैसा कि अशोक के शिलालेख दो (R.E. II) से पता चलता है, दक्षिण भारत का एक छोटा सा भाग ही उसके साम्राज्य से बाहर था जिसमें चोल, पांड्य, सतीपुत्र तथा केरलपुत्र (चेर) इत्यादि छोटे–छोटे राज्य थे।

अंततः अशोक के शिलालेखों से ही हमें उसके साम्राज्य के बड़े नगरों जैसे कि बौद्धगया, तक्षशिला, तोसली, समापा, उज्जैयनी, सुवर्णगिरी, इसिला, कौशाम्बी, पाटलीपुत्र आदि के संदर्भ मिलते है।

यह सभी साक्ष्य इसी ओर इंगित करते है कि अशोक के समय में मौर्य साम्राज्य उत्तर–पश्चित में हिन्दुकुश से लेकर पूर्व में बंगाल तक विस्तत था तथा उत्तर में नेपाल की तलहटी एवं कशमीर से लेकर दक्षिण में चित्तलदुर्ग तक फैला हुआ था। अरब सागर के तट पर स्थित सौराष्ट्र तथा बंगाल की खाड़ी से लगे कलिंग भी उसके साम्राज्य के हिस्से थे। शिलालेख चौदह (R.E. XIV) में अशोक स्वयं ही अपने साम्राज्य के बारे में जब यह कहता है कि ''महाल के हि विजितं'', अर्थात ''मेरा साम्राज्य विशाल है'', तो यह अतिश्योक्ति नही लगता। निश्चय ही प्राचीन भारत में कोई अन्य शासक इतने विशाल साम्राज्य का कभी स्वामी नही रहा।

अशोक का धम्म :-

अशोक भारतीय इतिहास में न सिर्फ एक विजेता एवं कुशल प्रशासक के रूप में विख्यात है बल्कि वह एक महान् धर्म नेता के रूप में प्रसिद्ध है। उसने मानव के केवल भौतिक कल्याण के लिए ही कार्य नही किए अपितु वह स्वयं अपने एवं जनसाधारण के आध्यात्मिक कल्याण के लिए प्रयत्न शील था। यदि अशोक के व्यक्तिगत धर्म की बात की जाए तो अपने शासन काल के आरम्भ में अपने पुर्वजों की ही भांति ब्राह्मण धर्म का अनुयायी था। **महावंश** के अनुसार वह प्रतिदिन ६०ए००० ब्राह्मणों को भोजन दिया करता था और अनेक देवी–देवताओं की पूजा कया करता था। कल्हण ने भी **राजतरंगिणी** में शिव को अशोक का इष्ट देव बताया है किन्तु अपने राज्यारोहण के नवें वर्ष में उसके द्वारा कलिंग विजय हुई। इस युद्ध में हुए भीषण रक्तपात का अशोक के धार्मिक जीवन और उसके विचारों पर बड़ा ही महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। इस युद्ध का अशोक के हृदय पर इतना गहरा असर पड़ा कि उसने अपना धर्म ही बदल लिया और वह बौद्ध धर्म का अनुयायी हो गया। उत्तर भारत की अनुश्रुतियों के अनुसार उपगुप्त के मार्गदर्शन में अशोक ने बौद्ध मत ग्रहण कर लिया। एक अन्य परम्परा के अनुसार हमें यह पती चलता है कि अपने बड़े भाई सुसीम के पुत्र के प्रवचन को सुन कर ही अशोक ने बौद्ध धर्म अपनाया था। यद्यपि पहले कुछ इतिहासकारों को अशोक के बौद्ध धर्मावलम्बी होने में संदेह था और जैसा कि उसके लघुशिलालेख एक (M.R.E. I) से विदित होता है कि बौद्ध धर्म में दीक्षित होने के बाद भी लगभग एक साल तक अशोक ने केवल एक उपासक का जीवन व्यतीत किया तथा बौद्ध धर्म के प्रसार में सक्रिय भाग नही लिया तथापि उसके बौद्ध होने के कई स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। उसके ही चतुर्दश शिलालेखों में से तेरहवें शिलालेख में ही अशोक के बौद्ध होने का स्पष्ट साक्ष्य मिलता है। इस शिलालेख में यह घोषणा अंकित है–''कलिंग युद्ध के बाद शीघ्र ही देवनामप्रिय अशोक धम्म के अनुकरण, धम्म के प्रेम और धम्म के उपदेश के प्रति उत्साहित हो उठा।'' बौद्ध ग्रन्थ **दीपवंश** और **महावंश** में स्पष्ट कहा गया है कि अशोक एक बाल पंडित था जिसने बाद में बौद्ध धर्म की शिक्षा ली थी। चीनी यात्री युवान च्वांग ने भी अशोक के बौद्ध होने की परम्परा का उल्लेख किया है। **भाब्रुलेख** में भी अशोक ने अपने आप को बुद्ध, धर्म तथा संघ का भक्त बताया है। सारनाथ के लघु स्तम्भ लेख में उसने अपने को ''संघ रक्षक'' कहा है तथा संघ में फूट डालने वालों के लिए दण्ड निश्चित किया है। उसके ही शिलालेख आठ (R.E. VIII) तथा लघु स्तम्भ लेख से यह पता चलता है कि उसने बौद्ध तीर्थ स्थानों की यात्रा की तथा अनेक स्तूप बनवाने का कार्य किया। शिलालेख एक (R.E.I) से हमें यह पता चलता है कि उसने बौद्ध धर्म की शिक्षिकाओं के अनुसार ही पशुहत्या, व्यर्थ के उत्सव समारोहों तथा यज्ञादि पर प्रतिबन्ध लगा दिया। इस प्रकार अशोक ने बौद्ध धर्म के व्यवहारिक पक्ष के समर्थक सिद्धान्तो का प्रचार आरम्भ किया।

अशोक के धम्म का स्वरूप :-

अशोक ने जिस धर्म का प्रचार किया वह अशोक का धम्म कहा जाता था। अशोक के ''धम्म'' (संस्कृत के ''धर्म'' शब्द का प्राकृत रूप) के स्वरूप को लेकर विद्वानों में मतभेद है। इस संदर्भ में मुख्यतः दो विचारधाराएं प्रचलित हैं। कुछ विद्वान इसे बौद्ध धर्म मानते हैं तो कुछ दूसरे विद्वान इसे अशोक की खोज मानते हैं। हेरास के अनुसार अशोक ब्राह्मण धर्म का अनुयायी था। कुछ विद्वान उसे जैन धर्मावलम्बी भी मानते हैं। डा०आर०जी० भण्डारकर के मत में अशोक का 'धम्म' धर्म निरपेक्ष बौद्ध धर्म था। एफ०डबल्यु०थॉमस भी अशोक को बौद्ध धर्मावलम्बी ही मानता है। नीलकण्ठ शास्त्री का भी लगभग यही विचार है कि अशोक बौद्ध र्धमावलम्बी था।

इतना ही नही बौद्ध ग्रन्थों में अशोक के अभिलेखों तथा मौर्यकालीन कलाकृतियों से भी अशोक का बौद्ध धमग के प्रति अनुराग स्पष्ट तथा प्रकट होता है। प्रथम लघु शिलालेख में अशोक अपने आप को ''बंद्ध शाक्य'' और प्रकाश्य रूप से 'शाक्य' घोषित करते हुए अपने बौधत्व की विभिन्न अवस्थाओं पर प्रकाश डालता है। उसने स्वयं लुम्बनी एवं बोधगया की यात्रा की, अनेक स्तूपों की रचना करवाई, अहिंसा पर बल दिया तथा पाटलीपुत्र में तीसरी बौद्ध संगति बुलवाई। इसके अतिरिक्त अशोक स्तम्भों पर भी हाथी, सांड, घोड़ा और सिंह की मूर्तियाँ पाई जाती है। जिनका बंद्ध के जीवन से गहरा सम्बन्ध रहा है। इन प्रमाणों के आधार पर अशोक को अनेक विद्वान बौद्ध मानते है तथा उसके धर्म को बौद्ध धर्म मानते है।

परन्तु बौद्ध धर्म से समानता रहने पर भी अशोक के 'धम्म' में बौद्ध धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों की चर्चा नही की गई है। इसमें ''चार आर्य सत्य'', ''अष्टांगिक मार्ग'', तथा ''निबबान अथवा निर्वाण'' आदि का उल्लेख नही मिलता। अशोक न तो अपने **धम्म** के लिए संघ की ही व्यवस्था करता है और ना ही भिक्षुक का जीवन व्यतीत करने को कहता है। यद्यपि अशोक ने स्वयं बौद्ध धर्म अंगीकार कर लिया था तथापि वह किसी भी रूप में धार्मिक रूप से असहिष्णु अथवा धर्मान्ध नही था। इसके बिल्कुल विपरित उसने विभिन्न मतानुयाईयों को संरक्षण प्रदान किया उसने पूर्व में बराबर पर्वत श्रंखला में आजीवन धर्मावलम्बियों को कुछ गुफाएं रहने के लिए अनुदान में दी। इसके अतिरिक्त उसने ब्राह्मणें, श्रामणों तथा निग्रन्थों को मुक्त हस्त से दान दिए।अपने शिलालेख सात(R.E. VII) में भी वह सभी सम्प्रदायों के बीच सहिष्णुता का आह्वान करता है। शिलालेख बारह (R.E. XII) में पुनः सम्प्रदायों के बीच सहिष्णुता का निवेदन करता है तथा विभिन्न मतावलम्बियों से आत्म नियन्त्रण रखने का आग्रह करता है। वह सभी धर्मावलम्बियों को बहुश्रुत अर्थात विभिन्न धर्मो की पूर्ण जानकारी रखने तथा विरोधी मतों के प्रति सम्मान का भाव रखने के लिए कहता है। इस प्रकार अनेक समानताओं के रहने पर भी अशोक का 'धम्म' बौद्ध धर्म से भिन्न है। यही कारण है कि अनेक विद्वान उसे बौद्ध धर्म नही मानते। विभिन्न इतिहासकारों के अनुसार अशोक का 'धम्म' तत्कालीन सभी धर्मों का सार था। उस पर सभी धर्मों का प्रभाव था। वास्तव में जिस धर्म में अशोक को जो सिद्धान्त अच्छा लगा वही उसने चुन लिया। वस्तुतः अशोक ने जिस धर्म को अपनाया और प्रचार केया वह सर्वहितकारी तथा लोककल्याणकारी था। उसने ऐसे नैतिक सिद्धान्तों का प्रचार किया जिन्हे प्रत्येक जाति, धर्म तथा देश के व्यक्ति मान सकते थे। राधा कुमुद मुखर्जी ने अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि ''अशोक का धर्म जीवन तथा विचारों के आधारभूत सिद्धान्तों का समन्वय था जो आज भी सर्वमान्य है तथा जिन्हे समस्त मानवता पर लागु किया जा सकता है।'' सम्राट अशोक के धर्म के सम्बन्ध में सेनार्ट ने भी लिखा है कि ''अशोक का धम्म केवल आचार सम्बन्धी सिद्धान्तों का समुह था उसने बौद्ध धर्म के विशेष तथा गूढ़ तत्वों पर बहुत कम ध्यान दिया गया था।'' अशोक के द्वारा चुने गए सिद्धान्त जो कि धार्मिक होने की अपेक्षा नैतिक अधिक थे उनकी व्याख्या द्वितिय स्तम्भ लेख (P.E. II), सत्त स्तम्भ लेख (P.E. VII) तथा सत्रम् शिलालेख (R.E. VII) में की गई है। इस व्याख्या के अनुसार अशोक का धम्म दान, दया, सच अथवा सत्यम्, संयम, भाव शुद्धि, साधुता, कृतज्ञता, दढ़ भक्ति आदि गुणों का समुह है (यदि नकारात्मक रूप से देखा जाए तो जैसा कि स्तम्भ लेख तीन (P.E. III) में वर्णित है, अशोक के धम्म का अर्थ था पाप, क्रोध, नैष्ठुर्य (हिंसा), मान (अंहकार) तथा ईर्ष्या से मुक्ति।

किन्तु अशोक का धर्म कोरे सिद्धान्तों तक सीमित नही था उसने धर्म के व्यवहारिक रूप को भी सामने रखा। माता–पिता, बन्धु–बान्धव, मित्र–साथी, गुरु, नौकर, दास सभी की सेवा तथा भक्ति उसके धर्म के मूल मंत्र थे। उसका उपदेश था कि गहस्थों को चाहिए कि वह ब्राह्मणों तथा श्रामणों का आदर करें तथा पशुओं तक के साथ दया का बर्ताव करें। इस दुष्टिकोण से देखा जाए तो अशोक के धम्म में मुख्यतः पाँच अंगों में विभक्त किया जा सकता है। (1) **सुश्रुषा**– जिसका अर्थ है माता–पिता, गुरुओं तथा बड़ों का आदर करना और उनकी आज्ञा का पालन करना। (2) **अपचिति**– जिससे तात्पर्य है गुरु तथा शिष्य में आपसी सौहार्दय, आदर तथा प्रेम का भाव होना। (3) **सम्प्रतिपत्ती**– जिसका अर्थ है ब्राह्मणों, श्रामणों, साधुओं, सम्बन्धियों, मित्रों, आश्रितों, दासों तथा निर्धन एवं दलित लोगों के साथ उचित व्यवहार करना। (4) **दानम्**– जिससे तात्पर्य है साधु–सन्तो, ब्राह्मणों, श्रामणों, निरग्रन्थों तथा वद्ध तथा जरूरतमन्द लोगों को दान–दक्षिणा देना। (5) **अविहिंसा**– अर्थात पशु हत्या प्रतिबन्ध करना।

अशोक के धर्म की सबसे बड़ी विशेषता सहिष्णुता की भावना थी। वह संसार की सभी जातियों एवं धर्मों में समन्वय स्थापित करना चाहता था। उसका बारहवां शिलालेख इसी बात का प्रमाण है। अहिंसा अशोक के धर्म का अन्य महत्वपूर्ण अंग था, उसका कहना था कि जीवन के सभी रूप पवित्र हैं। उसकी अहिंसा मनुष्यों तक ही सीमित नही थी वरन् पशु–पक्षियों के जीवन को भी उसने पवित्र माना। शाही भोजनालय के लिए सैकड़ों पशुओं का वध होता था, उसे उसने बन्द करवा दिया। अहिंसा के सिद्धान्त को उसने व्यक्तिगत जीवन तक ही सीमित नही रखा बल्कि राजनीति के क्षेत्र में भी उसको कार्यान्वित किया। कलिंग विजय के उपरान्त उसने युद्ध तथा साम्राज्य विस्तार की नीति को सदैव के लिए त्याग दिया। संसार के इतिहास में इस प्रकार का उदाहरण मिलना असम्भव है। अशोक ने समसामयिक प्रथाओं तथा परम्पराओं का भी ज्यों की त्यों नही अपनाया। अपने अहिंसा के सिद्धान्त को प्रतिपादित करते हुए वह पशु बलि को प्रतिबन्धित करने में बिल्कुल नही हिचकिचाया (R.E. I) इसी प्रकार उसने बहुप्रचलित ऐसे उत्सवों का भी विरोध किया जो कि उसकी दष्टि में निरर्थक थे। शिलालेख नौ (R.E. IX) में उसने जन्म, बीमारी, विवाह आदि के उपरान्त तथा यात्रा से पूर्व हाने वाले समारोहों की निन्दा की है। पत्नियों तथा माताओं द्वारा समारोह मनाने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। इसके स्थान पर अशोक धम्म पर बल देता है और समारोहों की व्यर्थता की बात करता है।

वास्तव में अशोक के धम्म के कुछ सैधान्तिक पक्ष भी हैं। वह परलोक में विश्वास करता था तथा अपनी प्रजा के भौतिक एवं इहलौकिक कल्याण की कामना करता था, वह उदार विचार का था एवं सभी धर्मों में का प्रसार चाहता था। वह पशुओं की अवध्यता, धार्मिक सहिष्णुता, धर्म मंगल की श्रेष्ठता एवं धर्म दान की महत्ता स्थापित करने का प्रयत्न करता था। धर्मोन्नति के लिए पराक्रम आत्म परीक्षण,

उत्साह और निझति (ध्यान) से प्राप्त हो सकता था। वह धर्म विजय और सच्चे यश की भी कामना करता था। 'धम्म को वह अपने शासन का मुख्य आधार मानता था– 'धम्मेन पालना, धम्मेन विधाने, धम्मेन सुखियाना, धम्मेन गोति। अशोक स्वयं धर्म का पालन करता था, वह प्रजा से भी इसकी कामना करता था, अपने उत्तराधिकारियों से इसकी आकांक्षा करता था तथा अपने अधिकारियों को इसके पालन का आदेश देता था।

धम्म के प्रचार के उपाय :-

अशोक महान धर्मोपदेशक ही नही अपितु बहुत बड़ा धर्मप्रचारक भी था। उसने अपने धर्म के प्रचार के लिए अनेक उपाय किए। अपने सातवें स्तम्भ लेख (P.E. VII) में उसने स्वयं उसका उल्लेख किया है। उसके लिए उसने 'धर्म श्रुवण' (धार्मिक घोषणाएं), 'धर्म स्तम्भों का निर्माण' तथा 'धर्म–महात्माओं' की नियुक्ति की। इसके अतिरिक्त उसने लोक कल्याणकारी कार्य भी किए। माता–पिता की सेवा, दासों एवं भत्यों के प्रति सम्यक व्यवहार की नीति अपनाई एवं धर्म यात्रा प्रारम्भ की। शिलालेख आठ (R.E. VIII) के अनुसार उसने इस विषय में व्यक्तिगत उदाहरण प्रस्तुत करते हुए ''विहार यात्राओं'' (आखेट स सम्बन्धित) के स्थान पर ''धम्म यात्राओं अपनाया। इसी उद्देश्य की प्रतिपूर्ति के लिए, जैसा कि वह स्तम्भ लेख सात (P.E. VII) में कहता है, उसने धम्म महा स्तम्भों की स्थापना की तथा धम्म महामात्रों की नियुक्ति की। अपने धर्म प्रचार के संदर्भ में अशोक ने धर्म श्रुवण को सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया। यह घोषणा राजकर्मचारियों एवं जनसाधारण दोनों के ही मध्य करवाई गई। ततीय शिलालेख में अशोक ने यह भी आज्ञा दी कि उसके साम्राज्य में सर्वत्र **युक्त**, **राजुक** और **प्रादेशिक** पाँच–पाँच वर्षो पर धर्मानुशासन के लिए निकलें। इसके साथ ही धर्म महामात्रों की नियुक्ति कर उसने जनता की भौतिक एवं आध्यात्मिक आकांक्षाओं और आवशकताओं को भी पूरा करने का प्रयास किया। उसने धर्म महात्माओं की नियुक्ति अपने राज्याभिषेक के तेरहवें वर्ष में की। धार्मिक क्षेत्र में इनकी भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण थी। अशोक ने अपने सातवें स्तम्भ लेख में स्वयं उनके कार्यो का उल्लेख किया है। धर्म महामात्र साम्राज्य के विभिन्न भागों में भ्रमण करके धर्म प्रचार के कार्यों में भरपूर सहायता प्रदान करने लगे। इन महामात्रों का कार्य अकारण कारावास तथा मत्युदण्ड को रोकना था। इसके अतिरिक्त वे धर्म के नियमों का भी प्रचार किया करते थे। स्त्रियों के नैतिक जीवन का भी उन्हे प्रचार करना पड़ता था। इस प्रकार अशोक ने सरकारी पदाधिकारियों को धर्म के कार्य में लगाया। इतने सुसंगठित रूप से कार्य करने का ही परिणाम था कि सम्राट को अपने उद्देश्यों में आशातीत सफलता मिली जिसका उल्लेख उसने धर्म लेखों में किया है।

अशोक ने कल्याणकारी कार्यो को भी अपने धर्म प्रचार का माध्यम बनाया। ऊपर पहले ही वर्णन किया जा चुका है कि उसने पशु बलि को प्रतिबन्धित कर दिया था। शिलालेख एक (R.E. I) में आगे वर्णित है कि इस सिद्धान्त की अनुपालना में उसने राजकीय भोजनालय में मांस का पकाना निषिद्ध कर दिया तथा स्वयं भी मांस खाना त्याग दिया। इसी तरह स्तम्भ लेख पाँच (P.E. V) में भी वह पशु बलि तथा पशु हिंसा के विरूद्ध निर्धारित किए गए कई नियमों का उल्लेख करता है। शिलालेख दो (R.E. II) के अनुसार भी चिकित्सा एवं उपचार के विषय में बात करता है।

विदेशों में धर्म प्रचार :-

अशोक के शासन काल की एक महत्वपूर्ण घटना थी, उसके राज्याभिषेक के सत्रहवें वर्ष में उसके द्वारा ततीय बौद्ध संगति का आयोजन करना। इस संगति का आयोजन बौद्ध धर्म के विभिन्न मतों के आनसी मतभेदों को दूर करने के लिए पाटलीपुत्र में हुआ। इस संगति के अध्यक्ष मोगली पुत्र तिस्स तथा उपाध्यक्ष उपगुप्त थे। इस संगति के समापन पर भारत में ही नही अपितु विदेशों में अशोक ने धर्म विजय एवंप्रचार के लिए धर्मप्रचारकों भेजा। अनुश्रुति के आधार पर यह जानकारी प्राप्त होती है कि अशोक ने अपने पुत्र महेन्द्र तथा पुत्री संघमित्रा को सिंहलद्वीप (श्री लंका) भेजा था। वहां के राजा तिस्स ने उन दोनो का भव्य स्वागत किया था। मझांतिक नामक भिक्षु धर्मप्रचार के लिए कशमीर तथा गांधार गया वहीं मझिम हिमालय प्रदेश में, महादेव महीशमण्डल (मैसुर) में, सोन तथा उत्तर स्वर्ण भूमि (बर्मा) में, महाधर्म रक्षित तथा महारक्षित क्रमशः महाराष्ट्र एवं यवन प्रदेशों में भेजे गए। उसने धर्म प्रचार के लिए श्री लंका, बर्मा, तिब्बत, जापान, कोरिया, सीरिया, मिस्र तथा पूर्वी द्वीप समुह आदि देशों में अन्य भिक्षु–भिक्षुणियों को भेजा। भण्डारकर का कहना है कि अशोक ने धम्म को इतना महत्वपूर्ण स्थान दिया कि अन्य सभी कार्य प्रष्ठभूमि में चले गए और अशोक चक्रवर्ती धर्मराज के रूप में स्वीकार किया जाने लगा। इस धर्म विजय के विषय में अशोक ने स्वयं लिखा है, ''देवनामप्रिय धम्म द्वारा ह्रदय विजय को वास्तविक समझता है। यहां तक कि 600 योजन दूर के देशों में भी देवनामप्रिय को यह विजय मिली।'' इस प्रकार अशोक ने धार्मिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किए। उसने मानवोचित गुणों के विकास के पालन पर जोर दिया जिससे मानव कल्याण हो सके। अशोक के धम्म की अपनी विशिष्टता है, वह जीवन के व्यवहारिक पहलु पर जोर देता था तथा नागरिकों में सामाजिक नैतिकता का विकास करना चाहता था।

अशोक की धर्मिक नीति का मुल्याकंन :-

अशोक की धार्मिक नीति की सफलता एवं असफलता तथा उसके नीति के प्रभावों को लेकर इतिहासकारों के बीच मतभेद हैं।

मध्यकालीन महान मुगल सम्राट अकबर की 'दीन–ए–इलाही' की भांति अशोक ने भी अपने 'धम्म६ के माध्यम से सामाजिक एवं राष्ट्रीय एकता की स्थापना तथा धार्मिक उदारता का वातावरण तैयार करना चाहा। धम्म की नीति में ऐसे कार्य भी शामिल थे जो आज भी नागरिक कल्याण के सम्बन्ध में प्रासंगिक है। यह कहना तो कठिन है कि अपने राष्ट्रीय एवं सयामाजिक उद्देश्यों की प्राप्ति में अशोक किस सीमा तक सफल रहा पर इस दष्टि से धम्म के प्रभाव हितकारी ही रहे होगें। अतः प्रो०रोमिला थापर के इस कथन को पूरी तरह सवीकार करना कठिन है कि ''अशोक की धम्म की धम्म की नीति सफल नही रही।'' वस्तुतः इस प्रकार की आदर्शवादी नीतियों की पूर्ण सफलता सदा ही इतिहास में सन्दिग्ध रही है। महत्व सफलता को नही अपितु उद्देश्य को दिया जाना चाहिए। इस दष्टि से भारतीय इतिहास में अशोक की महानता सदैव बनी रहेगी।

मौर्य कालीन प्रशासन :-

प्राचीन भारत में साम्राज्य निर्माण के क्षेत्र में महत्वपूर्ण परिवर्तन का सूत्रपात तब हुआ जब महाजनपदों के स्थान पर एक केन्द्रीय मगध राज्य का उदय हुआ। यह वही काल था जब चन्द्रगुप्त ने मौर्य साम्राज्य की नींव रखी तथा कौटिल्य (चाणक्य) द्वारा **अर्थशास्त्र** में प्रतिपादित **सप्तांग सिद्धान्त** का महत्व उजागर हुआ। इस **सप्तांग सिद्धान्त** के द्वारा पहली बार कुशल प्रशासन चलाने के लिए राजा के अतिरिक्त मन्त्री, सेना, जनपद, राजकोष, दुर्ग तथा मित्र, इन छह अंगो को भी उचित महत्व दिया गया। आवश्यकता से अधिक उत्पादन तथा इस आधिक्य की उगाही और इसका वितरण एवं खर्च ऐसे कुछ कारण थे जिन्होंने मौर्य प्रशासन को जटिल बना दिया क्याकिं एक विशाय मौर्य साम्राज्य की आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक गतिविधियां इसी उत्पादन के आधिक्य पर आधारित थी।

चन्द्रगुप्त मौर्य एक महान विजेता ही नही अपितु एक कुशल प्रशासक भी था। उसके द्वारा स्थापित प्रशासन में यउि अशोक के छिटपुट परिवर्तनों को छोड़ दें, तो मौर्य साम्राज्य के अन्त तक किसी प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता नही पड़ी। मौर्य प्रशासन के सन्दर्भ में कौटिल्य के **अर्थशास्त्र** तथा मेगस्थनीज के **इंडिका** से हमें बहुत महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। ये दोनो ही ग्रन्थ बड़े विस्तार से मौर्य प्रशासन के विभिन्न अंगो का वर्णन करते हैं।

केन्द्रीय प्रशासन :-

मौर्य काल में राजतन्त्र ही शासन की सबसे प्रचलित विधि थी। साम्राज्य का केन्द्र और प्रधान राजा स्वयं था। राजा की सारी शक्ति उसी में केन्द्रित रहती थी। व्यवस्थापिका, कार्यपालिका, न्याय एवं सेना सम्बन्धी सभी विषयों में अन्तिम सत्ता सम्राट के हाथों में थी। वह प्रधान सेनानति, प्रधान न्यायाधीश और प्रधान दण्डाधिकारी होता था। वह राजाज्ञा निकालता था तथा प्रधान कर्मचारियों की नियुक्ति करता था। राज्य की आय–व्यय का निरीक्षण, युद्ध संचालन तथा न्याय प्रतिपादन उसके प्रधान कार्य थे। उसका सबसे महत्वपूर्ण कार्य **दण्डधर्म** को धारण करके **वर्णश्रम धर्म** की रक्षा करना था। यद्यपि वह अपने मन्त्रियों की सलो से ही शासन कार्य को संभालता था तथापि वह इन मन्त्रियों का परामर्श मानने के लिए बाध्य नही था। कौटिल्य के अनुसार राजशासन धर्म व्यवहार और चरित्र (लोकाचार) दोनो ही से ऊपर था। राजा ही राज्य की नीति निर्धारित करता था फिर भी वह स्वेच्छाचारी या निरंकुश नहीं था। कौटिल्य ने ही स्वयं अर्थ शास्त्र में लिखा है – "सतकर्म वह नहीं है जिससे केवल राजा का मनोरंजन हो, वास्तविक सुकर्म वह है जिससे प्रजा सुखी तथा प्रसन्न हो।" अर्थात राजा अपनी प्रजा को पुत्रवत समझता था। यद्यपि बाद में अशोक ने देवनामप्रिय (देवताओं के प्रिय) जैसे विशेषणों का प्रयोग किया फिर भी मौर्य काल में राजा अपनी शक्ति को ईश्वर प्रदत नहीं मानता था और ना ही वह अपने को ईश्वर का प्रतिनिधि मानता था अपिमु वह धार्मिक और सामाजिक परम्पराओं का आदर करता था। मैगस्थनीज ने भी इस बात की पुष्टि की है और कहा है कि चन्द्रगुप्त अपनी प्रजा का शोषक नहीं पोषक था। इस प्रकार चन्द्रगुप्त मौर्य की शासन व्यवस्था को हम उदार–निरकुंश शासन कह सकते हैं। सम्राट प्रजा के सुख दुःख का बड़ा ध्यान रखता था और प्रजा की शिकायतों को सुनने के लिए सदा तत्पर रहता था। चाणक्य का विचार था कि राजा को अपने द्वार पर किसी न्यायाकांक्षी प्रजा जन को अधिक समय तक प्रतीक्षा में खड़ा नहीं रहने देना चाहिए। राजा के प्रजाहितकारी होने का प्रमाण हमें अर्थ शास्त्र में राजा के लिए निर्धारित अत्यावश्यक गुणों से भी मिल जाता है। जिसमें यह कहा गया है कि राजा को उच्च कुल का होने के अतिरिक्त धर्म का संरक्षक होना चाहिए, छोटे राजाओं तथा सामन्तों को अपने नियन्त्रण में रखने की क्षमता होनी चाहिए, सैनिक रुप से प्रशिक्षित होना चाहिए तथा **वित्त** (आर्थिक कार्य) एवं लिपि (लेखन) का ज्ञान होना चाहिए। संक्षेप में उसके शासन में उदारता, न्याय तथा निरंकुशता का समुचित समन्वय होना चाहिए।

मन्त्री मण्डल- एक व्यक्ति के लिए इतने विशाल साम्रज्य का संचालन करना असम्भव था। अतएव सम्राट को शासन संचालन के लिए अमात्य एवं सचिवों से युक्त एक मन्त्री परिषद की स्थापना करने की सलाह दी गई है। कौटिल्य कहता है कि राजत्व सहायता के बिना सम्भव नहीं है। एक अकेला पहिया कभी नहीं चल सकता। अतः राजा को मन्त्रियों की नियुक्ति करनी चाहिए तथा उनके परामर्श को मानना चाहिए। अशोक के शिलालेख तीन (R.E.III) में भी यह कहा गया है कि मन्त्री परिषद से यह आशा की जाती

थी कि वह यह सुनिश्चित करें कि नए प्रशासनिक सुधान राज्य में लागू हो जाएं। इसी प्रकार शिला लेख छह (R.E. VI) में भी मन्त्रियों को यह परामर्श दिया गया है कि वे राजा की अनुपस्थिति में उसके द्वारा प्रतिपादित नीति पर आपस में विचार विमर्श करें तथा आवश्यकतानुसार उसमें संशोधन करें।

राजा द्वारा मुख्य मन्त्रियों तथा पुरोहित का चुनाव उनके चरित्र की भलीभांति जांच के बाद किया जाता था। इस क्रिया को **उपधापरीक्षण** कहा गया है। राज्य के सभी कार्यों में मन्त्रीगण सुझाव देते थे तथा उनके सुझावों पर ध्यान दिया जाता था, लेकिन अन्तिम निर्णय राजा के ही हाथ में था। सचिवों में सबसे प्रमुख मन्त्रिन (Mantrin) प्रतीत होते थे जो अशोक के अभिलेखों में वर्णित महामात्र से मिलते जुलते हैं।

इनकी संख्या बहुत कम तीन या चार होती थी। इन्हें मन्त्री सभा या आन्तरिक मन्त्री मण्डल भी कहा जा सकता है मन्त्री सभा के अतिरिक्त एक मन्त्री परिषद भी हाती थी जो पद तथा वेतन के विषय में मन्त्री सभा से निम्न थी। यह एक सचिवालय के समान थी तथा इसमें बारह से ले कर बीस तक कम या अधिक मन्त्री रहते थे।

शासन की सुविधा के लिए केन्द्रिय प्रशासन मुख्यतः चार भागों में विभक्त था, इनकी व्याख्या निम्न लिखित है :–

(1) तीर्थ :– यह मन्त्री परिषद के अतिरिक्त मन्त्रियों में सबसे उच्च थे। इनकी कुल संख्या 18 थी।

(2) अध्यक्ष :– तीर्थों के बाद इन्हें मौर्य प्रशासन में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। ये मुख्यतः राज्य की आर्थिक एवं सैनिक गति विधियों से सम्बंधित थे। इनकी कुल संख्या 27 थी।

(3) महामात्य :– ये भी उच्च श्रेणी के कर्मचारी थे तथा मूल रुप से परामर्श दाताओं के रुप में कार्य करते थे।

(4) अमात्य :– ये वस्तुतः प्रशासकीय एवं न्यायिक गतिविधियों से सम्बंद्ध थे तथा आधुनिक सचिवों की तरह कार्य करते थे।

अर्थ शास्त्र में वर्णित 18 तीर्थ निम्नलिखित हैं –

(1) मन्त्री, (2) पुरोहित, (3) सेनापति, (4) युवराज– ये चारों तीर्थों में सर्व प्रमुख थे। (5) दौवारिक अथवा द्वारपाल (6) अन्तर्वशक अथवा अन्तः पुर रक्षा अधिकारी (7) प्रशत्री अथवा कारागार का अधिकारी (8) समाहर्ता अर्थात राज्य की सम्पति एवं आय व्यव का अधिकारी (9) सन्निधाता (सन्निधात्री) अर्थात राजकोष, अस्त्रागार एवं कोष्ठागार का अधिकारी। (10) प्रदेष्टा (प्रदेष्त्री) अथवा कमीश्ना (11) नायक अर्थात नगर रक्षक (12) पौर यानि कोतवाल (13) व्यवहारिक अर्थात मुख्यान्यायाधीश (14) कारमांतिक अर्थात कारखानों एवं खानों का अधिकारी। (15) मन्त्री अथवा मन्त्रीमण्डलाध्यक्ष (16) दण्डपाल अर्थात पुलिस का प्रधान (17) दुर्गपाल अर्थात गह अधिकारी (18) अन्तपाल अर्थात सीमा रक्षा अधिकारी।

इनके अतिरिक्त विभिन्न अध्यक्षों की भी चर्चा अर्थ शास्त्र में की गई है। जो निम्नलिखित थे :–

(1) पर्ण्याध्यक्ष– व्यापार की देखभाल (2) अक्षपाटलाध्यक्ष– लेखाविभाग का प्रधान (3) कोषाध्यक्ष– खजाने का प्रधान (4) अक्राध्यक्ष–खानों का प्रधान (5) लोहाध्यक्ष– धातु विभाग का प्रधान (6) लक्षणाध्यक्ष– मुद्राव्यवस्था का प्रधान (7) लवणाध्यक्ष– नमक की देखभाल (8) सुवर्णाध्यक्ष– स्वर्ण आभूषणों का निर्माण (9) कोष्ठागाराध्यक्ष– भण्डार की देखभाल (10) कुप्याध्यक्ष– वन सम्पदा की देखभाल (11) आयुधगाराध्यक्ष– अस्त्र–शस्त्र की देखभाल (12) नगराध्यक्ष– नगर प्रशासन का प्रबन्धक (13) पौतवाध्यक्ष– नापतोल तथा बाजार पर नियन्त्रण (14) शुल्काध्यक्ष– शुल्क की वसूली (15) सूत्राध्यक्ष– कताई बुनाई की देखरेख (16) सुराध्यक्ष– शराब के उत्पादन वितरण एवं प्रयोग पर नियन्त्रण (17) गणिकाध्यक्ष– वेश्याओं पर नियन्त्रण (18) सीताध्यक्ष– राजकीय जमीन की देखभाल (19) सुनाध्यक्ष– बूचड़खाने का नियनत्रक (20) नावाध्यक्ष्य– जल मार्ग का प्रबन्धक (21) गौध्यक्ष– राजकीय मवेशियों का अध्यक्ष (22) अश्वाध्यक्ष– राजकीय घुड़साल का प्रबन्धक (23) हस्त्याध्यक्ष– हाथियों की देखरेख (24) रथाध्यक्ष– रथों का प्रबन्धक (25) देवता अध्यक्ष– देवता और मन्दिरों का प्रबन्धक (26) मानाध्यक्ष– समय को मापने के साधनों का नियन्त्रक (27) विविताध्यक्ष– चरागाहों का व्यवस्थापक।

प्रान्तीय शासन :– चन्द्रगुप्त मौर्य ने शासन की सुविधा के लिए विशाल मौर्य साम्रज्य को अनेक भागों अथवा प्रान्तों में विभाजित कर दिया था। वास्तव में चन्द्रगुप्त के समय में कितने प्रान्त थे इसके तो अनुमान नहीं लगता, परन्तु अशोक के समय में पांच प्रान्तों का उल्लेख उसके अभिलेखों में मिलता है जो निम्न है–

(1) उत्तरापथ– इसकी राजधानी तक्षशिला थी तथा इसके अन्तरगत कम्बोज, गान्धार, कश्मीर, पंजाब एवं अफगानिस्तान के इलाके आते थे।

(2) दक्षिणा पथ– विंध्याचल के दक्षिण का सारा प्रदेश इस प्रान्त में था और इसकी राजधानी स्वर्णागिरि थी।

(4) कलिंग– इसकी राजधानी तोसाली (धौली) थी।

(5) प्राच्य– इसमें बिहार, उत्तर प्रदेश और बंगाल सम्मिलित थे। इसकी राजधानी पाटली पुत्र थी।

प्रो. एच. सी. राय चौधरी के अनुसार इन पांच प्रान्तों में से पहले दो तथा अन्तिम चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में भी थे। इन प्रान्तों के शासकों को राष्ट्रपाल या गवर्नर कहते थे। मौर्य साम्राज्य में दो प्रकार के प्रान्त थे – एक वैसे प्रान्त जो अधीनस्थ शासकों के राज्य थे और दूसरे वे प्रान्त जो मौर्य सम्राटों के राज्य को विभिन्न हिस्सों में बांट कर शासन की इकाइयों के रुप में बनाए गए थे। इनमें से सीमावर्ती प्रदेश कुमारों (राजकुमारों) के द्वारा शासित होते थे एवं मध्य के प्रान्तों (Home Province) पर सम्राट स्वयं अधिकारियों की मदद से शासन करता था। प्रान्तीय शासन भी केन्द्रिय शासन के आधार पर ही चलता था। राजा का उन पर कठोर नियन्त्रण था।

स्थानीय शासन– प्रान्तीय शासन के नीचे स्थानीय शासन का संगठन भी महत्वपूर्ण था। प्रान्त अनेक मण्डलों में तथा प्रत्येक मण्डल बहुत से जनपदों में विभक्त थे। जनपदों के भी विभिन्न भाग होते थे जिन्हें अर्थ शास्त्र में 'द्राणमुख', 'खार्वटिक', 'संग्रहण' और 'ग्राम' कहा गया है। शासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम थी। दस गाावों के समूह को संग्रहण कहते थे तीस बीस संग्रहणों से एक खार्वटिक बनता था। दो खार्वटिकों से एक प्रोणमुख और द्राण मुखों से एक स्थानीय बनता था। ग्राम का शासक ग्रामिक, संग्रहण का गोप और स्थानीय का स्थानिक कहलाता था। संपूर्ण जनपद के शासक को 'समाहर्ता' कहते थे। समाहर्ता के ऊपर 'महामात्र' होते थे जो 'चक्रों' के अन्जर्गत विविध मंडलों का शासन करते थे। महामात्रों के ऊपर 'कुमार' होते थे और सबसे ऊपर 'सम्राट' होता था।

ग्राम शासन– शासन की दष्टि से प्रत्येक ग्राम अपना पथक और स्वतंत्र अस्तित्व रखता था। ग्राम का शासक ग्रामिक कहलाता था। वही गांव का शासन तथा झगड़ों का न्याय पंचायत के सदस्यों की सहायता से करता था। उसे ग्रामवासी ही चुनते थे तथा उसका पद अवैनिक था। प्रत्येक गांव में सम्राट का एक भत्य कर तथा लगान आदि वसूल करने के लिए रहता था जा ''ग्राम भतक'' कहलाता था।

नगर शासन– चन्द्रगुप्त के शासन में देश मे जीवन में स्थानीय स्वराज्य संस्थाओं का बहुत महत्व था। मेगस्थनीज ने केवल पाटलीपुत्र के म्युनिसिपल प्रशासन का विवरण दिया है, किन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना गलत न होगा कि साम्राज्य के अन्य बड़े–बड़े नगरों में भी इसी प्रकार का प्रबन्ध रहा होगा।

मेगस्थनीज के अनुसार पाटलीपुत्र का शासन एक 30 सदस्यों वाली परिषद करती थी। यह परिषद 6 समितियों में बँटी हुई थी जिसमें 5-5 सदस्य होते थे। इनके कार्य निम्न थे –

पहली समिति– शिल्पियों एवं कारीगरों की देखभाल करती थी तथा उनके लिए उचित मजदूरी भी तय करती थी।

दूसरी समिति– इसका काम विदेशियों की देखभाल करना था।

तीसरी समिति– इस समिति के जिम्मे नगर में होने वाले जन्म एवं मत्यु का लेखा–जोखा रखना था। यह व्यवस्था सम्भवतः टैक्स निर्धारित करने के लिए की गई थी।

चौथी समिति– यह समिति व्यापार–वाणिज्य की देखभाल करती थी। इसके साथ–साथ यह मापतोल का भी प्रबन्ध करती थी।

पाँचवीं समिति– यह समिति कारीगरों द्वारा तैयार माल की देखभाल तथा उनकी बिक्री का प्रबन्ध करती थी।

छठी समिति– इस समिति के जिम्मे विक्रय की गई वस्तुओं पर बिक्री कर वसूलना था। यह कर बेचे गए मूल्य का 1/10 वाँ हिस्सा होता था।

इन कार्यो के अतिरिक्त संयुक्त रुप से यह बोर्ड सार्वतनिक भवनों, बाजारों, बन्दरगाहों, मन्दिरों आदि की देखभाल करता था। वह ही मूल्य भी निर्धारित करता था। मेगस्थनीज ने इस बोर्ड के सदस्यों को **अस्टनोमई** (Astonomoi) कहा है। इन्हें नगर कमिश्नर भी कहा जाता था।

सैनिक प्रशासन– चन्द्रगुप्त मौर्य ने एक विशाल सेना की स्थापना की। प्लिनी के अनुसार उसकी सेना में 6 लाख पैदल सैनिक, 30 हजार घुड़सवार, 9 हजार हाथी तथा 8000 रथ थे। जबकि प्लूटार्क के अनुसार चन्द्रगुप्त की सेना में 2 लाख पदाति, 8 हजार घोड़े, 6 हजार हाथी तथा 8 हजार रथ थे। वास्तव में चन्द्रगुप्त ने एक चतुरङ्गिणी अर्थात हाथी, घोड़े, रथ तथा पैदल सेना का संगठन किया था जिसे चाणक्य ने अर्थशास्त्र में चतुर्गबल की संज्ञा दी है। सम्राट स्वयं सेना का प्रधान सेनापति होता था तथा उसने अपनी सेना के प्रशिक्षण का समुचित प्रबन्ध किया था। चन्द्रगुप्त ने जल सेना का भी संगठन किया था। मेगस्थनीज के अनुसार सम्पूर्ण सेना के प्रबन्ध के लिए 30 सदस्यों की एक समिति होती थी। सेना का प्रबन्ध छह भागों में विभक्त थ और प्रत्येक विभाग का प्रबन्ध पाँच–पाँच सदस्यों के हाथ में रहता था। प्रत्येक विभाग का एक अध्यक्ष होता था। पहला विभाग जल सेना का प्रबन्ध करता था। दूसरा विभग सेना को हर प्रकार की सामग्री तथा रसद भेजने का प्रबन्ध करता था। तीसरा विभाग पैदल सेना, चौथा अश्वारोहियों, पाँचवाँ हाथियों की सेना तथा छठा रथ सेना का प्रबन्ध करता था। सेना के साथ एक चिकित्सा विभाग होता था जो घायल सैनिकों की चिकित्सा करता था। चन्द्रगुप्त की सेना स्थायी थी और उसे राज्य की ओर से वेतन तथा अस्त्र शस्त्र मिलते थे। अस्त्र–शस्त्र बनाने के लिए सरकारी कारखाने हों।

पुलिस एवं गुप्तचर व्यवस्था– चन्द्रगुप्त ने राज्य में कानून एवं व्यवस्था की स्थापना के लिए पुलिस एवं गुप्तचर सेवा का भी प्रबन्ध किया। इसके दो उप–विभाग थे, अर्थात प्रकट पुलिस तथा गुप्तचर विभाग। प्रकट पुलिस के सिपाहियों को **रक्षिन** कहा जाता था। गुप्तचरों के दो वर्ग थे– **संस्थान** तथा **संचारण**। संस्थान वर्ग के गुप्तचर एक स्थान पर रहते थे और संचारण वर्ग के गुप्तचर भ्रमण करते थे। स्त्रियों को भी गुप्तचर नियुक्त किया जाता था। गुप्तचरों के अनेक कार्य थे। वे सरकारी कर्मचारियों की गतिविधियों पर ध्यान रखते हुए उनके कार्यों तथा चरित्र के सम्बन्ध में सम्राट को सूचना देते थे। साथ ही वे चोरों , अपराधियों तथा शत्रुओं का भेद लगाते थे। गुप्तचरों के कार्यों की देखभाल के लिये उन पर भी अन्य गुप्तचर नियुक्त थे।

न्याय व्यवस्था:- राजा स्वयं न्याय का प्रधान था। उसका न्यायालय साम्राज्य में सर्वाच्च था। नगरों एवं जनपदों (जिलों) के लिए अलग–अलग न्यायालय बने हुए थे। अर्थशास्त्र में हमें दो प्रकार के न्यायालयों का उल्लेख मिलता है– **धर्मस्थीय** या **धर्मेष्ठ** तथा **कंटकशोधन**। पहले प्रकार का न्यायलय दीवानी मामलों से सम्बन्धित था तथा इसमें तीन धर्मस्थ (कानून वेत्ता) एवं तीन अमात्य होते थे। दूसरे प्रकार का न्यायालय जो फौजदारी मामलों की देखरेख करता था, उसमें तीन प्रदेस्त्रि तथा तीन अमात्य होते थे। इन न्यायालयों की अतिरिक्त जाति पंचायत एवं श्रेणी न्यायालय भी थे। छोटे मोटे झगड़े ग्राम पंचायतों के द्वारा सुलझाऐ जाते थे। इन के पश्चात जनपद सन्धि न्यायालय होता था जो सबसे छोटा न्यायालय था। उसके ऊपर संग्रहण न्यायालय, फिर द्रोणमुख न्यायालय और उसके बाद स्थानीय न्यायालय था। स्थानीय न्यायालय की अपील सम्राट के न्यायालय में सुनी जाती थी। सम्राट का निर्णय अंतिम होता था। इन न्यायालयों में से प्रत्येक में छह न्यायाधिश बैठते थे।

कौटिल्य तथा मेगस्थनीज के विवरण से ही यह स्पष्ट है कि दण्ड विधान बहुत कठोर था। छोटे अपराधों के लिए जुर्माने किये जाते थे। इससे बड़े अपराधों के लिए अंग–भंग और मत्युदण्ड था। झूठी गवाही देने पर जीभ काट ली जाती थी। शिल्पियों को क्षति पहुँचाने, राज्य कर न देने तथा सरकारी कर्मचारियों के विरूद्ध अपराध करने पर मत्युदण्ड दिया जाता था। दण्ड विधान कठोर होने के कारण चोरी, व्यभिचार आदि अपराध कम होते थे। शुभ अवसरों जैसे कि सम्राट के जन्मदिन, राज्याभिषेक, राजकुमार के जन्म आदि के उपलक्ष में कैदियों को छोड़ देने की रीति भी प्रचलित थी।

अशोक के द्वारा मौर्य प्रशासन में किए गऐ सुधार– अशोक के समय में भी मौर्य प्रशासन लगभग वैसा ही रहा जैसा चन्द्रगुप्त के समय में था। उसने तो केवल चन्द्रगुप्त के समय से चली आई प्रशासन व्यवस्था को और अधिक सुसंगठित एवं सुव्यवस्थित किया किन्तु कलिंग युद्ध का अशोक के राजनैतिक सिद्धान्तों तथा हष्टि कोण पर व्यापक प्रभाव पड़ा। अशोक ने अपने धार्मिक और नैतिक विश्वासों के कारण अपना सारा राजनैतिक और व्यक्तिगत जीवन प्रजा की सेवा में अर्पित कर दिया। अशोक के राजत्व के सिद्धान्त का सबसे महत्वपूर्ण पहलू यह है कि वह अपने को राजा के अतिरिक्त प्रजा पालक भी समझता था। वह पितवत शासन का हिमायती था। कलिंग के दूसरे अभिलेख में वह कहता है, ''सब प्रजाजन मेरे पुत्रों के समान हैं, जिस प्रकार मैं अपने पुत्रों की इहलौकिक तथा तथा पारलौकिक हर प्रकार समद्धि चाहता हूं, उसी प्रकार से मैं सब लोगों की समद्धि चाहता हूं।''

अशोक ने उपर्युक्त कारणों से कुछ प्रशासनिक सुधार किए। उसने धर्ममहामात्य (धर्म महामात्र) नामक एक नए विभाग की लोगों के नैतिक तथा आध्यात्मिक जीवन में सुधार हेतु स्थापना की। शिलालेख पांच (R.E. V) में इन महामात्यों के कार्यों का उल्लेख करते हुए यह कहा गया है कि इनका मूल कार्य राज्य में रह रहे विभिन्न धर्मों के मतानुयाइयों के बीच में परस्पर सौहार्द की भावना पैदा करना था। इसके अतिरिक्त लोगों के उत्पीड़न को रोकना, दण्ड को कम करवाना तथा दान को बढ़ावा देना भी इनका मुख्य दायित्व था। इसके साथ ही अशोक ने राजुक, प्रादेशिक तथा युक्त आदि पदाधिकारियों को हर पांच वर्ष में राज्य में भ्रमण करने के आदेश दिए ताकि वे सीधे जमा थे। सम्पर्क में आ सकें तथा उनकी समस्याओं को समझ सकें (R.E. III)

शिलालेख छह (R.E. VI) में अशोक ने प्रतिवेदक (सूचना देने वाला) नामक अधिकारी को यह आदेश दिए हैं कि वह अतिमहत्वपूर्ण नागरिक मुद्दों को किसी भी समय उसके समक्ष प्रस्तुत कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त उसने राजकों को दण्ड तथा सम्मान देने के विषय में ओर अधिक स्वतन्त्रता दे दी जिससे कि वे अपना कर्त्तव्य ओर अधिक विश्वास एवं निर्मयता के साथ निभा सकें। (स्तम्भ लेख चार) इसी प्रकार जैसे कि स्तम्भ लेख पांच (R.E. V) में वर्णित है अशोक अपने राज्याभिषेक के वार्षिकोत्सव पर बन्दियों को रिहा करने की प्रथा का आरम्भ किया। मत्युदण्ड पाए हुए अपराधियों को दण्ड मिलने से पहले तीन दिन का अवकाश दिया जाता था ताकि वे उपवास, चिन्तन आदि के द्वारा दूसरी जगह की तैयारी कर लें।

अशोक को अपनी प्रजा की आध्यात्मिक तथा नैतिक उन्नति में ही रूनि न थी अपितु उसने, जनता की भौतिक उन्नति और सुख के लिए भी कार्य किए। उसने स्वयं लिखा है कि ''मैंने सड़कों पर बरगद तथा आम के वक्ष लगवाए, हर आधे कोस पर कूएं खुदवाए ओर पशुओं तथा मनुष्यों के लिए जलाशय बनवाए।'' साथ ही उसने मनुष्यों एवं पशुओं की चिकित्सा के लिए अस्पताल खुलवाए। वास्तव में अशोक की यह धारणा थी कि सभी प्राणियों का उस पर ऋण है और इस ऋण से मुक्ति पाने के लिए वह बहुत व्यग्र था। इस आधार पर यह कहना अनुचित न होगा कि मौर्य साम्राज्य सुच्यवस्थित होने के साथ–2 प्रजा हितकारी भी था।

अशोक के उत्तराधिकारी :– 232 ई. पू. में अशोक की मत्यु हो गई। प्राचीन परम्पराओं में उसके उत्तराधिकारी को लेकर मत भेद है। यद्यपि प्राचीन अनुश्रुतियों में अशोक के कई पुत्रों का उल्लेख मिला है तथा उसके शिला लेख उसके केवल एक पुत्र तीवर का उल्लेख करते हैं। साहित्यिक अनुश्रुति में कुमार तीवर का उल्लेख नहीं मिलता जिससे यह प्रतीत होता है कि वह कदाचित अशोक के जीवन काल में ही परलोक वासी हो गया था। बौद्ध अनुश्रुतियों में हमें अशोक की रानी असंघमित्रा के पुत्र महेन्द्र का उल्लेख मिलता है जो भिक्षु हो कर श्रीलंका में बौद्ध धर्म के प्रचार हेतु चला गया था। तिब्बती साहित्य में अशोक के एक पुत्र पुस्तन का भी उल्लेख मिलता है जिसने खोतान में एक स्वतन्त्र भारतीय उपनिवेश की स्थापना की थी। कल्हण की **राजांिगणी** में अशोक के एक पुत्र जालौक का भी उल्लेख मिलता है जो शैव मत का अनुयायी था तथा जिसने पिता की मत्यु के बाद कश्मीर में स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की थी।

वायु पुराण से विदित होता है कि अशोक की मत्यु क पश्चात उसके सबसे बड़े पुत्र कोणाल (अथवा सुयश) को सिंहासन प्राप्त हुआ। परन्तु दक्षिणी परम्पराओं में यह बतलाया गया है कि अशोक की एक रानी तिष्यरक्षिता के कपट के कारण कोणाल को अन्धा करवा दिया गया तथा वह शासन चलाने योग्य नहीं रहा। दूसरी ओर **अशोकावदान** से हमें यह पता चलता है कि अशोक के समय में ही कोणाल का पुत्र सम्प्रति युवराज के पद पर नियुक्त था तथा वह इतना प्रभावशाली हो गया था कि उसने अशोक को राजकोष से बौद्ध धर्म संघ को दान देने का निषेध कर दिया था। इन्हीं कारणों से कुछ ग्रन्थों में अशोक के पश्चात सम्प्रति को मौर्य शासक दर्शाया गया है।

जो भी हो कोणाल का शासन काल जो कि सम्भवतः 232-224 ई. पू. तक था उसमें विशाल और शक्तिशाली मगध साम्राज्य का विघटन आरम्भ हो गया। कश्मीर पाटलीपुत्र के प्रभुत्च से मुक्त हो गया और वहां जालौक ने अपना प्रथक राज्य स्थापित कर लिया। सम्भवतः अशोक के शासन काल के अन्तिन समय में यवनों ने मगध राज्य पर आक्रमण करना आरम्भ कर दिया था। बिन्दुसार के समय में जीता गया आन्ध्र प्रदेश भी कोणाल के समय में स्वतन्त्र को गया था।

वायु तथा मत्स्य पुराणों के अनुसार कुणाल की मत्यु के पश्चात उसका पुत्र दशरथ गद्दी पर बैठा। वायु पुराण के अनुसार कुणाल के उत्तराधिकारी का नाम 'बन्धुपालित' था। सम्भवतः यह दशरथ का ही उपनाम था। अनुश्रुतियों से ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल में भी शासन की बागडोर सम्प्रति के हाथों में रही। सम्प्रति योग्य युवराज होने के कारण अशोक, कुणाल तथा दशरथ तीनों के समय में शासन कार्य करता रहा, सम्भवतः इसीलिए दशरथ को 'बन्धुपालित' जैसा विशेषण दिया गया है। चाहे जो भी हो दशरथ धार्मिक प्रवति का था तथा उसने आतीविकों के लिए नागार्जुनी की पहाड़ियों में गुफा–बिहार बनवाया। इसका शासन काल 224 से 216 ई. पू. तक रहा जिसमें मगध साम्राज्य निरन्तर विनाश की ओर अग्रसर होता गया। सम्भवतः कोल वंशीय शासक चैत्र राज ने 223 ई. पू. में कलिंग को मौर्य साम्राज्य की आधीनता से मुक्त करवा लिया।

दशरथ को कोई पुत्र नहीं था, इसलिए इसकी मत्यु के पश्चात उसका भाई सम्प्रति सिंहासन पर बैठा जिसने 216-207 ई. पू. शासन किया। बौद्ध साहित्य में जो स्थान अशोक का है, जैन साहित्य में वही स्थान सम्प्रति का है। जैन अनुश्रुतियों से विदित होता है कि वह जैन धर्म का अनुयायी था और उसने जैन धर्म के प्रचार के लिए अथक प्रयास किए। वास्तव में अशोक के बाद मौर्य साम्राज्य में यही एक शक्तिशाली शासक हुआ जो मगध साम्राज्य के अधिकांश भाग पर अधिकार कर सका। पाटलीपुत्र और उज्जैयनी इसकी दो प्रमुख राजधानियां थी।

राजा सम्प्रति की 207 ई. पू. में मत्यु के पश्चात शालिशुक अपने भाई को मार कर गद्दी पर बैठा। गार्गी संहिता के अनुसार यह 'दुष्टात्मा' प्रिय विग्रह, अपने राष्ट्र का घोरमर्दन करने वाला, धर्मवादी किन्तु अधार्मिक था। इसी के समय में कश्मीर के मौर्य राजा जालौक ने मगध पर आक्रमण किया तथा सम्प्रमि के पुत्र वषसेन ने सिन्धु के पश्चिमोत्तर प्रदेश पर अपना स्वतन्त्र राज स्थापित किया। इसी समय युनानी राजा अन्तियोकस III ने भारज पर आक्रमण किया परन्तु सीमा पर से ही सुभगसेन से सन्धि करके लौट गया।

राजा देव वर्मा शालिशुक के पश्चात पाटलीपुत्र के सिंहासन पर बैठा। उसके शासनकाल (206-199 ई. पू.) के समय बैकिट्रया के राजा डेमेट्रियस ने 200 ई. पू. में भारत पर आक्रमण उत्तरा पथ के कुछ प्रदेशों को जीत लिया। देव वर्मा के पश्चात शतधनुष मगध का शासक बना जिसने 199-191 ई. पू. तक शासन किया इसके काल में डेमेट्रियस ने भारत में अपना साम्राज्य काफी फैला लिया। शतधनुष के पश्चात 191 ई. पू. वहद्रथ मगध का राजा बना। शतधनुष का यह भाई मौर्य वंश का अन्तिम सम्राट था। सेना की सहायता से उसी के प्रधान सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने 184 ई. पु. में वहद्रथ की हत्या करके पाटलीपुत्र के राजसिंहासन पर अधिकार कर लिया तथा मौर्य साम्राज्य का अंत कर दिया।

मौर्य साम्राज्य के पतन के कारण :– चन्द्रगुप्त जैसे महान विजेता ने जिस विशाल साम्राज्य का निर्माण चाणक्य के सहयोग में किया था और जिसे अशोक जैसे महान सम्राट ने भी सुरक्षित रखा, उसी साम्राज्य का 184 ई. पू. में पतन हो गया। यह कोइे आकस्मिक घटना न थी अनेक कारण और परिस्थितियां पिछले कई वर्षो से साम्राज्य को अशक्त बना रही थी। अशोक का निधन 232 ई. पू.

में हो गया और उसके पश्चात करीब पचास वर्षों के भीतर की मौर्य साम्राज्य का अत्यन्त की नाटकीय ढ़ंग से विघटन हो गया। मौर्य साम्राज्य के पतन के अनेक कारण बतलाए जाते हैं। प्रथम– अशोक के निधनोपरान्त अयोग्य उत्तराधिकारी गद्दी पर बैठे। द्वितिय– साम्राज्य का पूर्वी और पश्चिमी दो भागों में विभाजन हो गया जिसके कारण प्रशासन शिथिल पड़ गया। पूर्वी भाग दशरथ तथा पश्चिमी भाग कुणाल के अधीन था यदि विभाजन नहीं हुआ होता तो पश्चिमात्तर प्रदेश से युनानी आक्रमण इतनी शिघ्रता से नहीं होते। ततीय– अशोक की धम्म नीति के बुरे परिणाम हुए उसकी शान्ति और अहिंसा की नीति से मौर्य साम्राज्य की सैनिक शक्ति का ह्रास हो गया। चतुर्थ– ब्राह्मण प्रतिक्रिया के फल स्वरुप पुष्यमित्र शुंग ने अन्तिम मौर्य सम्राट वहद्रथ का वध कर दिया। इसके मूल में अशोक का बौद्ध और उसके उत्तराधिकारियों का जैन धर्मान्मुख होना है। पंचमलोक कल्याण कारी होने के बावजूद भी मौर्य राज्य में करों की अधिकता के कारण जनता असन्तुष्ट थी। षष्ठ– केन्द्री भूत प्रशासन भी मौर्य साम्राज्य के विघटन का एक कारण बन गया तथा कमजोर उत्तराधिकारियों के शासन काल में शासन का अतिकेन्द्रिय करण अभिशाप बन गया। सप्तम– अमात्यों द्वारा शोषण भी बढ़ गया। तक्षशिला मे अमात्यों के शोषण के विरूद्ध अशोक के राज्यकाल में ही विद्रोह हुआ था। अष्टम– राष्ट्रिय भावना के अभाव के कारण भी मौर्य साम्राज्य का पतन हो गया।

प्रो. रोमिला थापर के शब्दों में, ''मौर्य साम्राज्य के पतन की सन्तोषजनक व्याख्या यह कह कर नहीं की जा सकती कि सैनिक निष्क्रियता, ब्राह्मण प्रतिक्रिया, लोकप्रिय विद्रोह, आर्थिक दबाव आदि के कारण साम्राज्य का पतन हो गया। पतन के कारण मौलिक थे जिनका मौर्य कालीन जीवन से सम्बन्ध था।'' थापर का विचार है कि प्रशासनीक संगठन, राज्य या राष्ट्र की अवधारणा आदि साम्राज्य के पतन के मौलिक कारण थे।

अशोकादायित्व– अनेक विद्वानों ने अशोक को मौर्य वंश के पतन के लिए उत्तरदाई माना है। महामहोपाध्याय हर प्रसाद शास्त्री के मतानुसार अशोक की नीतियों के परिणामस्वरुप ब्राह्मण प्रतिक्रिया के चलते मौर्यवंश का पतन हुआ। अशोक ने पशु बलि पर प्रतिबन्ध लगा दिया, धर्म महामात्रों की नियुक्ति की जिन्होंने ब्राह्मणों का दमन किया, मौर्यो द्वारा ब्राह्मणों के विशेषाधिकार को समाहा किया जाना आदि कारणों के चलते ब्राह्मणों में प्रतिक्रिया हुई एवं पुष्यमित्र नामक ब्राह्मण ने अन्तिम मौर्य शासक की हत्या कर इस वंश का नाश कर दिया। ब्राह्मण अशोक की व्यवहार समता और दण्ड समता से भी विक्षुब्ध थे तथा उसे शूद्र मानते थे। हर प्रसार शास्त्री के अतिरिक्त डा. हेमचन्द्र राय चौधरी ने भी अशोक को मौर्य साम्राज्य के पतन के लिए उत्तरदायी ठहराया है। उनके अनुसार कलिंग विजय के पश्चात अशोक ने अहिंसा की नीति अपना ली जिसने सैनिक शक्ति को दुर्बल बना दिया। इसके परिणानस्वरुप राज्याधिकारियों पर शासन का नियन्त्रण कमजोर हो गया, वे मन माने अत्याचार करने लगे जिसके चलते लगातार विद्रोह हुए। साम्राज्य की कमजोरी का फायदा उठा कर युनानियों ने भी भारत पर आक्रमण आरम्भ कर दिया। अन्ततः पुष्यमित्र ने इस मौर्य दुर्बलता का लाभ उठा कर सत्ता हड़प ली।

परन्तु इन दोनों इतिहासकारों के मतपूर्णतः सत्य नहीं है। यह सही है कि कलिंग विजय के पश्चात अशोक द्वारा अपनाई अहिंसा की नीति ने उसके राजनैतिक आदर्शों को प्रभावित किया किन्तु इसके चलते ही मौर्य साम्राज्य का पतन हो गया हो यह कहना उचित नहीं। इसी प्रकार यह भी नहीं कहा जा सकता कि अशोक की धार्मिक नीमि के चलते ही ब्राह्मणों की प्रति क्रिया हुई हो। अशोक ने ब्राह्मण धर्म विरोधी कार्य नहीं किए अपितु उसने मानव कल्याण के लिए सब को समान समझा, बराबर का महत्व दिया। अशोक ने ब्राह्मणों को दान दिया तथा धर्म महामात्रों के कार्यो में ब्राह्मणों के हित, सुख वद्धि को भी सम्मिलित किया।

साम्राज्य की विशालता– चन्द्रगुप्त मौर्य तथा अशोक ने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की जिसकी सीमाएं उत्तर में कश्मीर तथा हिन्दुकुश से लेकर दक्षिण में कर्नाटक तक तथा पूर्व में बंगाल और कलिंग से लेकर पश्चिम में काठियावाड़–सौराष्ट्र तक फैली हुई थी। अशोक की मत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारियों का इतने विशाल साम्राज्य पर शासन करना कठिन कठिन हो गया और यह मौर्य साम्राज्य के पतन का कारण था।

अशोक के कमजोर उत्तराधिकारीः– अशोक की मत्यु के पश्चात मौर्य साम्राज्य पर कई राजाओं ने शासन किया परन्तु उनमें कोई भी इतना योग्य नहीं था जो इतने बड़े साम्राज्य पर शासन का उचित प्रबन्ध कर सके। इस तरह साम्राज्य का पतन को गया और अशोक के उत्तराधिकारी उसे छिन्न भिन्न होने से नहीं रोक सके।

प्रान्तीय शासकों में स्वतन्त्रता की प्रवत्तिः – क्योंकि अशोक के उत्तराधिकारी निर्बल थे अतः उसकी मत्यु के साथ ही साम्राज्य के प्रान्त एक–2 करके स्वतन्त्र होने लगे। कल्हण की राजतरंगिनी के अनुसार अशोक के दूसरे पुत्र जालौक ने कश्मीर में अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर अपनी सत्ता कन्जौज तक बढ़ा ली। इसी प्रकार तिब्बती इतिहासकार तारानाथ के किरण से ज्ञात होता है कि अशोक के अधिकारी वीरसेन ने अपने आप को गन्धार का स्वतन्त्र शासक घाषित कर दिया। इतना ही नहीं **मलविकाग्निमित्रम्** से ज्ञात होता है कि विदर्भ भी मौर्य साम्राज्य से अलग हो चुका था। इस प्रकार अशोक की मत्यु के पश्चात शिघ्र ही मौर्य साम्राज्य खण्डित हो गया।

प्रान्त पतियों के अत्याचारः– मौर्यो के पतन का एक और कारण दूर के प्रान्तों में मौर्य गवर्नरों का जनता पर अत्याचारपूर्ण व्यवहार था। यह पहले ही बताया जा चुका है कि बिन्दुसार के समय में तक्षशीला के लोगों ने वहां के शासक के अन्यायपूर्ण व्यवहार क विरूद्ध विद्रोह का झण्डा उठाया था। अशोक के काल में एक बार पुनः तक्षशिला में विद्रोह हुआ जिसका कारण भी पहले सा ही था।

आवागमन के साधनों का अभावः– उस समय आज की भांति आवागम के उचित साधनों का विकास नहीं हा पाया था और यातायात के सुविकसित साधनों के अभाव में इतने विशाल साम्राज्य पर नियन्त्रण रखना एक दुष्कर कार्य था। परिणामस्वरुप दूरस्थ प्रदेशों की शासन व्यवस्था धीरे–2 शिथिल होने लगी तथा केन्द्रिय नियन्त्रण कमजोर होता चला गया।

विदेशी आक्रमणः– कुछ विद्वानों ने भारत पर होने वाले युनानी आक्रमण को मौर्य साम्राज्य के पतन का कारण माना है। युनानी लेखक पोलिबियस के विवरण तथा गार्गी संहिता से इसका आभास मिलता है। गार्गी संहिता के विवरण से यह ज्ञात होता है कि अन्तिन मौर्य शासकों के काल में युनानी बहुत बड़ी शक्ति बनकर उभरे। युनानीयों का सामना न कर सकने के कारण निश्चित की मौर्य साम्राज्य का पतन हुआ।

अतिकेन्द्रियकरण की नीतिः– डा. रोमिला थापर ने अपनी पुस्तक **अशोका एण्ड दि डिक्लाइन ऑफ दि मौर्याज** में मौर्य साम्राज्य के पतन के मूलभूत कारणों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार मौर्य वंश के पतन का मुख्य कारण केन्द्रिय नौकर शाही व्यवस्था और राज्य तथ राष्ट्र के विचार का अभाव था। मौर्य शासन में केन्द्रियकरण की प्रवति बहुत अधिक थी। यह व्यवस्था नौकर शाही पर ही आधारित थी। प्रशासनिक सुव्यवस्था अधिकारियों की योग्यता एवं वफादारी पर आधारित थी। ये अधिकारी व्यक्तिगत तौर पर राजा के प्रति वफादार रहते थे, राज्य के प्रति नहीं। मौर्यो ने इनकी योग्यता को रखने एवं उन्हें राज्य के प्रति उत्तरदायी बनाने का कोई प्रयत्न नहीं किया। फलतः उनमें राष्ट्रियता की भावना का अभाव था जो मौर्य साम्राज्य के पतन का कारण बना।

आर्थिक कारणः– डा. डी. डी. कौशाम्बी ने मौर्यें की आर्थिक दुर्बलता को उनके पतन का मुख्य कारण माना है। चन्द्रगुप्त के समय से ही मौर्यो ने एक विशाल सेना और नौकर शाही की व्यवस्था की। इसकी देखरेख पर राजस्व का बहुत बड़ा हिस्सा खर्च को जाता था। अर्थ शास्त्र में राजस्व के जितने स्रोतों का विवरण दिया गया है उससे पता चलता है कि जनता पर कर का अत्यधिक भार था। ऐसी अवस्था में जनता की आर्थिक अवस्था अच्छी नहीं रही। इसके साथ ही अशोक ने दान देने एवं कल्याणकारी कार्यों में बहुत धन खर्च कर दिया जिसके कारण आर्थिक संकट और अधिक गहरा को गया।

प्रो. रामशरण शर्मा ने भी अपनी पुस्तक 'प्राचीन भारत' में मौर्य साम्राज्य के पतनों के कारणों का उल्लेख करते हुए कहा है कि मगध साम्राज्य का विस्तार कतिपय मूलभूत भौतिक श्रेष्ठताओं पर निर्भर था। परन्तु साम्राज्य मे विस्तार के कारण मध्यभारत, दक्कन और कलिंग में संस्कृति के इन तत्वों (लोहे का प्रयोग, अतिरिक्त उत्पादन, सिक्के का प्रचलन,

व्यापार वाणिज्य की सुविधा आदि) के प्रयोग सम्बन्धि ज्ञान का प्रसार होते ही गंगाा घाटी जो साम्राज्य की मर्मस्थली थी अपनी विशिष्टता खो बैठी। लोहे के औजारों और हथियारों का बाह्य प्रान्तों में नियमित प्रयोग तथा मौर्य साम्राज्य का ह्रास एवं पतन साथ–2 हुआ।

उपरोक्त कारणों से ही मौर्य साम्राज्य का पतन हुआ। आर. सी. मजूमदार इस सम्बन्ध में कहते हैं, "अप्रवासियों का सफल विद्रोह, युनानियों का मगध साम्राज्य में दूर तक सफल आक्रमण तथा उत्तर पश्चिम अधिराज्य के अलग हो जाने से मौर्य साम्राज्य की शक्ति एवं सम्मान को गहरा धक्का लगा।" वस्तुतः मौर्य साम्राज्य के पतन के मौलिक कारणों में कमजोर उत्तराधिकारी, विशाल साम्राज्य, आर्थिक दुर्बलता, बाह्य आक्रमण एवं प्रान्तीय शासकों के अत्याचार तथा शोषण ही मुख्य हैं।

इकाई-III

अध्याय-1

शुंग वंश (187-5 ई. पूर्व से 75-3 ई. पूर्व)

पुराणों के अनुसार दस मौर्य राजा पथ्वी पर 137 वर्ष राज्य करगें तदउपरान्त शुंत्र वंश का राज्य होगा तथा सेनापति पुष्यमित्र बहद्रर्थ को मार कर 36 वर्ष राज्य करेगा। बाणभट्ट के हर्षचरित इस संदर्भ में कुछ और वतान्त भी देते हैं कि पुष्यमित्र ने राजा बहद्रर्थ को सेना की समीक्षा के बहाने सबके सामने मार दिया क्योंकि वह कमजोर शासक था तथा वह अपने सिंहासनरुढ़ होने के समय की शपथ को पूरी नहीं कर सका। इसी साक्ष्य में पुष्यमित्र को अनार्य कहा है। राजा की पूरी सेना के सम्मुख हत्या करना कोई आम बात नहीं है इसके पीछे एक पूर्व नियोजित योजना थी तथा सेनापति पुष्यमित्र का सेना पर इतना प्रभाव था कि वे अपने राजा के वध के समय चुप रहे। अब प्रश्न उठता है कि आखिर वह क्या अवसर था जिसके कारण सेना के निरीक्षण का आयोजन किया गया। महामहिम हरप्रसाद शास्त्री का विचार है कि इस समय यवनों के आक्रमण होने शुरू हो गए थे तथा पुष्यमित्र उन्हें हरा विजयी हो पाटलीपुत्र अपनी सेना के साथ लौटा था जहां पर सेना की परेड या किसी अन्य आयोजन हुआ था जहां पुष्यमित्र ने अपने स्वामी की हत्या कर दी। इस कथन के अनुसार मौर्य साम्राज्य के अन्त के समय युनानी आक्रमण प्रारम्भ हो गए। पतजलि के महाभाष्य में भी यवन आक्रमण के संदर्भ में वर्णन है कि यवन आक्रमण अयोध्या तथा राजस्थान में चितौड़ इत्यादि पर हुए थे (अरुणद् यवनः साकेतत अरुणद यवनः माध्यमिकाम)। पतजलि पुष्यमित्र का समकालीन था क्योंकि उसने सभी घटनाओं को वर्तमान काल में ही लिखा है जैसे इह पुष्यमित्रम् याजयामः इत्यादि।

पुष्यमित्र शुंग :- शुंग वंश का संस्थापक पुष्यमित्र था जिसके राज्य काल के बारे में हमें पुराणों, हर्षचरित, पतजलि के महाभाष्य, जैन लेखक मेरुतुंग की थेरावली (जिसमें उज्जैन के राजाओं की वंशावली दी गई है), कालीदास का मालविकाअग्निमित्र, धनदेव की अयोध्या अभिलेख, दिव्यावदान तथा हरिवंश इत्यादि से जानकारी मिलती है।

वंश :- हरप्रसाद शास्त्री का मत है कि इस वंश के राजाओं के नाम मित्रान्त हैं इससे लगता है कि ये राजा पारसीक थे जो मित्र या मिथिर (सूर्यदेव) के उपासक थे। परन्तु बाद में उन्होंने इस वंश को ब्राह्मण वंश माना। दिव्यावदान नामक बौद्ध ग्रंथ के अन्तिम भाग (29 वां अध्याय) में पुष्यमित्र को मौर्य कहा गया है। हर्षचरित में पुष्यमित्र को अर्नाय कहा है जिससे कुछ विद्यवानों ने इसके शुद्र होने का संकेत दिया है परन्तु अनार्य शब्द उसके दुष्कर्म या स्वामी हत्या के कारण प्रयुक्त किया लगता है। परन्तु अब तक प्राप्त साक्ष्यों के अनुसार पुष्यमित्र ब्राह्मण था। अहिंसात्मक बौद्ध नीति को मानने वाले अशोक के वंशजो की नीति के कारण राजा अपने राज्य की सुरक्षा करने में सफल नहीं रहे तथा ब्राह्मण धर्म की अपेक्षा के कारण ही नहीं आम जनता भी मौर्यों के विरुद्ध हो चुकी थी। अन्तिम मौर्य शासक के राज्य काल में कुव्यवस्था से तंग आ इस वंश का नाश करने के लिए शायद ब्रह्मणों ने सेना में आना प्रारम्भ किया शायद पुष्यमित्र ने सेनापति बनते अधिकाधिक ब्राह्मणों को सेना में लिया। इसी कारण शायद सेना राजा की हत्या के समय मौन रही। बहद्रथ की हत्या के पीछे बौद्ध धर्म के विरुद्ध गैर बौद्ध मतावलम्बियों का सामुहिक विरोध प्रतीत होता है।

कालीदास के मालविकाम्निमित्र में पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र को बैम्बिक कुल का बताया है। सुधाकर चट्टोपाध्याय इन को भारहुत अभिलेख में वर्णित बिम्बिका नदी से जोड़ते हैं। कुछ विद्वान इस कुल को बिम्बिसार से सम्बन्धित मानते हैं। परन्तु इस के कोई प्रमाण हमें उपलब्ध नहीं हैं। बौद्धायन श्रोतसूत्र के अनुसार बैम्बिक कश्यप गोत्र के थे जो कि ब्राह्मणों का एक महत्त्वपूर्ण गोत्र है। इसकी पुष्टि हरिवंश से होती है क्योंकि इस ग्रंथ में कलियुग में अश्वमेघ करने वाले एक औदभिज्ज कश्यप ब्राह्मण सेनापति का उल्लेख है। जयसवाल इस सेनानी का समीकरण पुष्यमित्र से करते हैं उनके अनुसार औदभिज्ज का अर्थ है आकस्मिक रुप से उदय होने वाला। उनके अनुसार अपने राजा को पार कर राजा बनना उसके आकस्मिक उदय का द्योतक है। दूसरी ओर पुराण तथा हर्षचरित पुष्यमित्र को कश्यप या बैम्बिक न मान शुंग कहते हैं। यह शुंग कौन थे इस का उल्लेख वहद्आरण्यक उपनिषद तथा लाट्यायन श्रोतसूत्र में है। इस के टीकाकारों का मत है कि शुंग आचार्य थे। कीथ तथा मैकडावल ने आश्वलायन श्रोतसूत्र के हवाले से मत प्रकर किया है कि शुंग आचार्य होते थे तथा प्राचीन भारत में आचार्य ब्राह्मण ही होते थे पाणिनी भी शुंगों को ब्राह्मण ही मानते हैं तथा भारद्वाज गोत्र वाला कहते हैं। अतः शुंग ब्राह्मण थे।

राज्यकाल :– येरुतुंग के अनुसार नंदों के बाद मौर्यों ने 108 वर्ष राज्य किया इसके बाद पुष्यमित्र ने 30 वर्ष राज्य किया। मत्स्य पुराण पुष्यमित्र का राज्य काल 36 वर्ष तथा वायु तथा ब्रहमाण्ड पुराण इसका काल 60 वर्ष बताते हैं। पारजीटर (Pargiter) का

मत है कि 60 वर्ष लिखना तो लेखक की गलती है वास्तव में यह 36 वर्ष ही है। पुराण मौर्यो को 137 वर्ष देते है जबकि मेरुतुंग 108 वर्ष मौर्य तथा 30 वर्ष देते है। जैन साक्ष्य अवन्ती के राज्य के अनुसार लिखे गए है उनके अनुसार शायद पुष्यमित्र मौर्यो के अन्तिम राजा के काल में वास्विक (de-facto) राजा रहा हो जबकि वह अवन्ति का शासक तथा मौर्यो का सेनापलि होना ही था सुधाकर चट्टापाध्याय के अनुसार 60 वर्ष का पुष्यमित्र का राज्य काल 24 वर्ष अधीनस्थ राजा तथा 36 वर्ष स्वतन्त्र शासक के रुप में हो सकते है। उनके अनुसार जब पुष्यमित्र के अश्वमेघ यज्ञ का घोड़ा छोड़ा गया तो उसके साथ सेना का संचालन उसका पोता वसुमित्र का रहा था। इससे भी उसके दीर्घ राज्य काल का पता चलता है।

पुराणों में मौर्यो का 137 वर्ष का काल दिया गया है इसका अर्थ हुआ कि अन्तिम मौर्य राजा का वध (322 ई. पूर्व – 137) 185 ई. पूर्व के आसपास हुआ। पुराणों के कथनानुसार उसका काल 36 वर्ष का इसका अर्थ हुआ कि वह 149 ई. पूर्व (185-36) तक राज्य करता रहा। परन्तु उसने कभी भी अपने आपको राजा नहीं कहा। पुराण, हर्षचरित, मालविकाग्निमित्रम् तथा धनदेव की अयोध्या अभिलेख इत्यादि सेनापति के रुप में ही पुष्यमित्र को वर्णित करते हैं। इन साक्ष्यों में उसके पुत्र अग्निमित्र का राजा कहा गया है।

यवनों से युद्ध :– युग पुराण (गार्गी संहिता), महाभाष्य इत्यादि से पता चलता है कि यवन ने भारत के पूर्वी हिस्सों राजस्थान तक को रौंद डाला। पजलि पुष्यमित्र के पुराहित थे तथा उन्होंने इस घटना का शायद आंखों देखा वर्णन किया हो सकता है क्योंकि उन्होंने इस घटना को अनद्यतन लंग लकार में वर्णित किया है जो कि भूत काल के लिए प्रयुक्त किया जाता है अर्थात जो घटना परोक्ष्ज्ञ रुप से घटी हो परन्तु यदि कोई देखना चाहे तो देख सकता है। युग पुराण के गार्गी संहिता में भी वर्णन है कि यवनों ने साकेत, पांचाल तथा मथुरा पर आक्रमण किया उसके बाद वे पाटलीपुत्र (कुसुमध्वज) तक पहुँच गए। उनके आक्रमण के कारण अव्यवस्था फैल गई। मालविकाग्निमित्रम् के अनुसार पुष्यमित्र के अश्वमेघ यज्ञ का घोड़ा घूमते हुए सिन्धु नदी के दक्षिणी तट (सिन्धैर्दक्षिणरोधसि) पर पहुँच गया जहां यवनों ने उसे पकड़ लिया। इस घोड़े के साथ गई सेना का सेनापति पुष्यमित्र का पोता वसुमित्र था जिसने यवनों को पराजित कर घोड़ा छुड़वाया।

उपरोक्त साक्ष्यों में कहीं भी साक्ष्य यवन नेता का नाम नहीं देता केवल दि लिखा है जो कि दिमित्र या डिमिट्रियस रहा होगा। रैप्सन, स्मिथ इत्यादि इस आक्रमण का नेता मीनान्डर को मानते है जो कि बौद्ध ग्रंथ मिलिन्दपान्हो का मिलिन्द है। हेमचन्द्र रायचौधुरी, भण्डारकर एवं काशीप्रसाद जयसवाल यवनों के नेता को डिमिट्रियस मानते है। स्टेन कोनी भी जयसवाल की तरह ही खाखेल की हाथीगुम्फा अभिलेख में वर्णित यवनराज दिमित्र (Demetriuls) ही मानते हैं। जबकि एन, एन घोष का मत है कि इस काल में दो यवन आक्रमण हुए प्रथम जिसका वर्णन पतजलि के महाभाष्य तथा गार्गी संहिता में है। इसका नेता दिमित्र (Demetrius) था। परन्तु स्वयं डिमिट्रिय ब्यास नदी के पार नहीं गया इस तरह पाटलीपुत्र आक्रमण न्यायसंगत नहीं लगता। घोष के अनुसार दूसरा आक्रमण पुष्यमित्र के शासन काल के अन्त में हुआ जिसका नेता मिनान्डर (मिलिन्द) था। उनके अनुसार मालविकाग्निमित्र में जिस आक्रमण का वर्णन है वह दूसरा आक्रमण है। घोष के अनुसार पुष्यमित्र के पोते वसेमित्र का सेनापति होना यह सिद्ध करता है कि यह घटना बाद की है।

अवधकिशोर नारायण के अनुसार सिक्कों के आधार पर हमें दो डिमिट्रियस राजाओं का पता चलता है। उत्तरपश्चिम भारत में पाए गए सिक्के डिमिट्रियस द्वितीय के हैं। अतः यह प्रदेश उसी ने जीता परन्तु उत्तरी भारत पर आक्रमण उसने नहीं किया उनके अनुसार यह मिनान्डर (Menander) ने जीता। उनके अनुसार युनानियों का एक ही आक्रमण इस क्षेत्र में हुआ था जब कि वे बहद्रथ के काल के अन्तिम चरण में साकेत पांचाल कुसुमध्वज (पाटलीपुत्र) तक गए थे। वी. पी. सिन्हा मानते हैं कि युनानियों ने इस काल में दो आक्रमण किए पहला तो बहद्रथ के अन्तिम दिनों में जब सेनापति पुष्यमित्र ने उन्हें हराया तथा फिर राजा को मार स्वयं शासक बना। इस यवन आक्रमण का नेता डिमिट्रियस था। उनके अनुसार द्वितीय यवन आक्रमण तब हुआ जब पुष्यमित्र के घोड़े को यवनों ने सिन्धु नदी पर पकड़ लिया जिस युद्ध का वर्णन मालविकाग्निमित्रम् में है। इसका नेता मिनान्डर था।

टार्न महोदय के अनुसार अपोलोडोटस ने भारत के भीतरी मात्र को जीत कर माध्यमिका (चितौड़) को जा घेरा जिसका वर्णन पतजलि ने किया है।

परन्तु इन आक्रमणों तथा संघर्षो के साथ यह जान लेना भी आवश्यक है कि जिस सिन्धु नदी पर वसुमित्र ने यवन को हराया क्या वह आज की सिन्धु ही है या कोई और है। कनिंघम इसे पंजाब की सिन्धु नदी नहीं मानते। वे इसे यमुना की सहायक नदी काली सिन्धु बताते हैं। स्मिथ, स्टेन कोनो एवं घोष इत्यादि विद्यवान भी कनिंघम के मत से सहमत है।

कुछ विद्यवान अब यह मानते हैं कि जिस यवन राजा ने भारत पर उस समय आक्रमण किया वह डिमिट्रियस ही था। युग पुराण में वर्णन है कि यवन भारत में अधिक देर नहीं ठहरे क्योंकि उनके अपने राज्य में ही सत्तासंघर्ष (Civil war) हो गया जोकि काफी भंयकर था। यह संघर्ष शायद युक्रेटाइडस तथा युथिडिमस परिवारों के राजाओं का आपसी संघर्ष था जिसमें डिमिट्रियस के बैक्ट्रिया से हटते ही युक्रेटाइडस ने सत्ता हथिया ली तथा गंगा घाटी से डिमिट्रियस को वापिस जाना पड़ा।

विदर्भ युद्ध :- मालविकाग्निमित्रम् के अनुसार विदर्भ को अग्निमित्र ने जीत शुंग राज्य में मिला लिया। क्योंकि पुष्यमित्र के काल में अग्निमित्र विदिशा का गवर्नर था वहीं से उसने विदर्भ को भी जीता। इस नाटक के अनुसार विदर्भ का शासक यज्ञसेन था जिसके बारे में हम कुछ और साक्ष्य से कुछ नहीं जानते। मालविकाग्निमित्रम के अनुसार विदर्भ नरेश, मौर्य राजा बहद्रथ के मंत्री विगत का बहनोई था तथा वह शुंगों का शत्रु था जिस समय पुष्यमित्र शासक बना तो उसने इस मंत्री को बन्दी बना लिया। विदर्भ के ही गवर्नर यज्ञसेन ने पुष्यमित्र की आधीनता स्वीकार करने से इनकार कर दिया। अन्त में अग्निमित्र ने यज्ञसेन को हरा दिया तथा विदर्भ को दो भागों में बांट दिया एक भाग यज्ञसेन के पास ही रहा दूसरा अगिनमित्र के सहयोगी माधवसेन को मिला। वर्धा नदी दोनों के बीच सीमा बनी। परन्तु बाद में संभवतः यज्ञसेन को पुष्यमित्र की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी।

राज्य विस्तार :- जैसा कि ऊपर दिए गए साक्ष्यों से विदित है कि पुष्यमित्र के पोते वसुमित्र ने यवनों को सिन्धु नदी पर हराया था इससे यह पता चलता है कि पुष्यमित्र का राज्य पश्चिम में सिन्धु नदी तक था। इस बात की पुष्ठि तारानाथ के वर्णन से भी होती है कि पुष्यमित्र ने मध्य देश से जालन्धर तक बौद्ध विहारों को नष्ट किया। दक्षिण में विदिशा–विदर्भ युद्ध के आधार पर भी वार्धा नहीं तक इसके राज्य की सीमा होने के प्रमाण हैं। पूर्व में पाटलीपुत्र तो इसकी राजधानी थी इसका अर्थ यह है कि यहां से आगे का काफी क्षेत्र भी इसके राज्य में होगा।

शासन प्रणालि (Administration) :- ऐसा प्रतीत होता है कि मौर्यो के समान ही इस काल में प्रशासन के लिए वही नीति अपनाई गई। यह विशाल साम्राज्य अनेक राज्यों का संघ था इन पर अनेक शासक राज्य करते थे जो कदाचित अपने आन्तरिक विषयों में पूर्ण रुप से स्वतन्त्र थे। अश्वमेघ के घोड़े की सुरक्षा के संदर्भ में हमें इसका और प्रमाण मिलता है। ऐसा बताया गया है कि एक विशाल सेना का नेतत्व वसुमित्र कर रहा था तथा उसके साथ 100 राजा भी थे। इसका अर्थ यह हुआ कि पुष्यमित्र के आधीन काफी मात्रा में शासक थे जिन्हे संभवतः राजा कहा जाता था। राजपरिवार के सदस्यों या राजकुमारों को प्रान्तों का गवर्नर लगाया जाता था। स्वयं अग्निमित्र विदिशा का गवर्नर था। इसी तरह अयोध्या में भी गवर्नर राजपरिवार से था। धनदेव के अभिलेख में धनदेव अपने आप को पुष्यमित्र का छटा वशंज कहता है। वायुपुराण के अनुसार पुष्यमित्र के आठ पुत्र एक की समय विभिन्न प्रदेशों में राज्य करते थे। इसके अतिरिक्त राज्य के अन्य अधिकारी भी थे। एक अमात्य परिषद का भी उल्लेख है। पतजलि एक सभा का भी वर्णन करते हैं।

बौद्ध विराधी कार्य :-

दिव्यावदान के अनुसार पुष्यमित्र अपनी राजधानी पाटलीपुत्र में रहता तथा इसमें उसके शाक्यमुनी के धर्म के विरोधी होने के प्रमाण दिए हैं। इसके अनुसार उसने सम्पूर्ण देश में बौद्ध स्तूपों का विनाश किया। परन्तु वह पाटलीपुत्र के कुक्कुटा राम (Kekkutarama) विहार को नष्ट नहीं कर सका क्योंकि वहां उसने तुमुल सिंहनाद सुनाई दिया तथा वह डर कर पाटलीपुत्र भाग गया। मध्य देश के अन्य बौद्ध विहारों को नष्ट कर वह साकल पहुँचा जहां उसने घोषणा की कि जो उसे श्रमण सिर देगा उसे वह 100 दिनार देगा। परन्तु वह अपने इस प्रयास में सफल नहीं हो सका तथा कृमीश नामक यक्ष द्वारा मार दिया गया। परन्तु दिव्यावदान काफी बाद में लिखी गई इसलिए इसके प्रमाण को सत्य नहीं माना जा सकता दूसरे इस बौद्ध ग्रन्थ का ब्राह्मण विराधी होना स्वाभाविक है इसलिए इसकी सत्यता पर संदेह किया जा सकता है इसी तरह तारानाथ का भी कथन है कि पुष्यमित्र ने बौद्ध स्तूपों एवं विहारों को नष्ट किया। आर्यमंजुश्रीमूलकल्प में भी दिव्यावदान जैसा ही वर्णन है परन्तु पुष्यमित्र को बौद्ध विरोधी बताने वाले सारे साक्ष्य ही बौद्ध साक्ष्य है जिनका ब्राह्मण सेनापति का शासक बनना और वह भी एक बौद्ध राजा को मार कर, अनुचित लगा इसीलिए उन्होने ऐसा लिखा। जबकि साक्ष्य इसके विपरीत हैं। सांची के स्तूपों में बहुत सा निर्माण कार्य स्वयं पुष्यमित्र के काल में ही हुआ था। यदि वह बौद्ध विरोधी होता तो क्या यह संभव था।

ब्राह्मणधर्म का पुनरुत्थान :- पुष्यमित्र के शासक बनते ही बौद्ध संघ को राजकीय सहायता मिलनी बन्द हो गई। ऐसा भी कहा जाता है कि उसने बौद्ध स्तूपों एवं विहारों को मन्दिरों में बदल दिया। इस काल के अर्धवत्ताकार मन्दिरों (apsidal temples) को बौद्ध स्तूपों में कुछ और additions करके बनाया गया माना जाता है इसके अतिरिक्त उसने ब्राह्मण होते हुए भी क्षत्रियों की भांति शस्त्र ग्रहण किए क्योंकि शास्त्रों में लिखा है कि जब राजा दुबर्ल हो धर्म से विचलित हो जाए तो उसका वध करना है। स्वयं मनु ने भी परोक्ष रुप से इस तरह का समर्थन किया है। पुष्यमित्र ने इसी तरह किया। अपनी विजयों तथा राज्य विस्तार के बाद उसने ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार अश्वमेघ यज्ञ किया इस प्रकार ब्राह्मण धर्म की इस राजाओं के लिए उचित यज्ञ का पुनरुद्धार किया जो मौर्यो के शासन काल में बन्द हो गए थे।

धार्मिक सहिष्णुता :- जहां एक ओर पुष्यमित्र को बौद्ध विरोधी तथा ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान करने वाला माना गया है वहीं इसके

धार्मिक सहिष्णु शासक होने के प्रमाण भी मिलते हैं। शुंगकाल में भारहुत, बौद्धगया, सांची इत्यादि स्तूपों को ओर विशाल बनाया गया है। भारहुत के स्तूप पर तो एक लेख भी इस बाल का समर्थन करता है दिव्यावदान से विदित होता है कि पुष्यमित्र ने बौद्धमन्त्रि भी नियुक्त किए थे। अग्निमित्र, जो कि उस समय विदिशा का गवर्नर था, ने अपनी राज्यसभा में भगवती कौशिकी नामक स्त्री को नियुक्त किया जो शायद बौद्ध धर्म से सम्बन्धित थी।

पुष्यमित्र के उत्तराधिकारी :- पुष्यमित्र के पश्चात हमें ऐसे कोई प्रमाण नहीं मिलते कि इतना बड़ा साम्राज्य एक जुट रहा। उत्तर भारत छोटे–2 राज्यों में बंट गया तथा पुष्यमित्र के वंशज केवल विदिशा के आसपास के ही राज्य संतुष्ट होकर रह गए प्राप्त साक्ष्यों के अनुसार शुंग वंश में दस राजा हुए। पुष्यमित्र के बाद अग्निमित्र राजा बना जिसका पता हमें मालविकाग्निमित्र से लगता है वह विदिशा का शासक था। अग्निमित्र नाम वाली बहुत सी मुद्राएं इस क्षेत्र में मिली है जिन्हें जयसवाल अग्निमित्र शुंग ही से संबन्धित मानते है जबकि कनिंघम इसे किसी स्थानीय शासक की मानते हैं। अग्निमित्र के बाद वसुज्येष्ठ राजा बना कुछ मुद्राओं पा हमें जेठमित्र का नाम मिलता है जो संभवता वसुज्येष्ठ था। वसुज्येष्ठ के बाद वसुमित्र राजा बना जो अग्निमित्र का पुत्र था इसके अतिरिक्त आन्ध्रक, पुलिण्डक, घोष वज्रमित्र, भाग और देवभूति राजा बने। नौवा शुंग राजा मात्र था जिसका समीकरण डा. भंडाकर बेसनगर के गरुड़ स्तम्भ में उल्लिखित राजा भागमद्र से करते हैं जिसकी राज्य सभा में एण्टियालकीडस ने अपने राजदूत हेलियोडोरस को भेजा था। अन्तिम शुंग राजा देवभूति था जो कि अत्यन्त कामुक नरेश था जिसे उसके अमात्य वसुदेवकण्व ने मार कर स्वयं राज्य छीन लिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शुंगों ने 112 वर्ष राज्य किया। पुष्यमित्र 187-5 ई. पूर्व शासक बना इस तरह शुंगों का काल 75-3 ई. पूर्व तक रहा जब इसके बाद ब्राह्मण मंत्री वसुदेव ने कण्व राजवंश का राज्य स्थापित किया।

अध्याय-2

कण्व वंश (75-30 ई. पूर्व)

कण्व वंश (75-30 ई. पूर्व)

विष्णु पुराण के अनुसार ब्राह्मण मंत्री वसुदेव ने अपने राजा देवभूति का वध कर दिया तथा कण्व शासन स्थापित किया। हर्षचरित में भी अमात्य वसुदेव द्वारा अतिकामी शुंगराज देवभूति की हत्या का उल्लेख है। यह वंश भी ब्राह्मण वंश था। परन्तु पुराणों में कुछ भ्रान्तियां भी है। जैसे वसुदेव जिसने शुंगराजा देवभूमि का वध किया को शुंग राजा बताया गया है। परन्तु वह कण्व या काण्वायन था जो उनके परिवारिक गोत्र कण्व के कारण था। इस वंश के चार राजाओं के नाम वसुदेव, भूमिमित्र, नारायण तथा सुशर्मन का राज्यकाल क्रमशः 9, 14, 12 तथा 10 वर्ष बताया गया है (कुल 45 वर्ष)। इस प्रकार इन्होंने 75-3 ई. पूर्व से 30-28 ई. पूर्व तक राज्य किया। पुराणों के अनुसार इन कण्व राजाओं ने अपने पड़ोसी राजाओं को जीता तथा राज्य नीति अनुसार किया। इसके अतिरिक्त कोई अन्य वर्णन इस वंश का नहीं मिलता।

कण्व तथा शुंगों के तिथिक्रम के बारे में भी कुछ भ्रान्तियां बनी हुई हैं। एक तरफ तो शुंगों का अन्त वसुदेव कण्व द्वारा बताया गया है दूसरी ओर पुराणों में ऐसे भी संदर्भ है जिनके अनुसार आन्ध्र राजाओं को कण्वों का अन्त करने वाले होने के साथ–2 बची खुची शुंग शक्ति का अन्त करने वाला भी बताया गया है। आर. जी. भण्डारकर के अनुसार इसका अर्थ यह है कि जब शुंग राजा कमजोर हो गए तो कण्वों ने आधुनिक काल के पेशवाओं की तरह ही आसली रुप से राज्य करना शुरू कर दिया। परन्तु 112 में से 45 वर्ष वे असली राजा रहे। परन्तु इस मत को मानने वाले कम ही हैं। पुराणों के इस कथन का अर्थ यह लगाया जा सकता है कि जब वसुदेव कण्व ने शुंगों की शक्ति का अन्त कर दिया तब भी शुंग विदिशा इत्यादि के आसपास राज्य करते रहे तथा आन्ध्रों ने कण्वों के साथ–2 इन बचे खुचे शुंग वंशीय राजाओं का भी अन्त कर दिया।

कण्वों के उत्तराधिकारी :-

पुराणों ने यद्यपि आन्ध्रों को कण्वों का अन्त करने वाला बताया है परन्तु हमारे पास कोई स्वतन्त्र साक्ष्य नहीं है जिसके अनुसार यह निष्कर्ष निकाला जा सके कि आन्ध्रों ने मगध पर शासन किया। मगध का इतिहास गुप्त राजाओं के उदय तक ठीक प्रकार से पता नहीं है। पांचाल, कौशाम्बी, मथुरा इत्यादि से बहुत से मित्र नाम से अन्त होने वाले राजाओं की मुद्राएं प्राप्त होती हैं जिन पर अग्निमित्र, भद्रघोष, जेठमित्र, भूमिमित्र इत्यादि तथा और बहुत से राजाओं के नाम है जो मित्र होने के कारण शुंग वंशीय बताए गए है। इनमें से अधिकतर को हम किसी पौराणिक या अन्य साक्ष्य में वर्णित शुंग राजा से नहीं मिला सकते। संभवत वे मित्र नाम वाले राजा शायद शुंग वंश से ही सम्बन्धित हो। परन्तु इन छोटे–2 क्षेत्र के मित्र वंशीय राजाओं में पांचाल के मित्रों का राज्य काफी विशाल था तथा इनकी एक शाख भानुमित्र के काल में पंजाब में भी आ गई बाद में वह स्वतन्त्र रुप से राज्य करने लगी। इसी तरह विदर्भ में भी मित्र नामान्त वाले राजाओं की मुद्राएं प्राप्त होती हैं।

उत्तर पश्चिमी भारत में मौर्यों के बाद तथा कुछ क्षेत्रों में शुंगों के बाद कई गणराज्य स्थापित हो गए थे तथा उन्होने अलग–2 क्षेत्रों में अपना राज्य स्थापित किया। इनमें यौधेय औयुम्बर, कुणिन्द राजन्य इत्यादि महत्त्वपूर्ण हैं।

अध्याय-3

हिन्द-युनानी शासक (Indo-Greeks)

भारत में मौर्य शासकों के पतन के लिए उत्तरदायी अनेक कारणों में से एक भारत में यवन आक्रमणकारियों का पदार्पण भी था। ये यवन उत्तर पश्चिम की ओर से भारत में आये तथा भारत में आने वाली विभिन्न विदेशी शक्तियों में वे पहले थे। भारत में उत्तर मौर्य काल का एक रूचिकर पहलू यह था कि इन विदेशी शक्तियों ने कालान्तर में उत्तरापथ, अपरान्त (प्राच्यदेश) तथा मध्यदेश के कुछ भागों में अपने को स्थापित कर लिया।

मध्यकालीन भारतीय साहित्य में **यवन** शब्द को **मलेच्छ** का प्रायवाची माना गया है तथा यह कहा गया है कि यह शब्द एक विदेशी के लिए प्रयुक्त होता था। परन्तु ईसा की प्रथम शताब्दियों तक एक भारतीय के लिए **यवन** का अर्थ केवल ग्रीक (ग्रीस का निवासी) अथवा युनानी ही था। इस शब्द की उत्पत्ति प्राचीन ईरानी भाषा के **यउन** से हुई है जो मूल रूप से आयोनिया के ग्रीक लोगों के लिए प्रयुक्त होता था। परन्तु कालान्तर में इसका प्रयोग समस्त ग्रीक जाति के लिए होने लगा। एजियन सागर तथा लाडिया प्रदेश, जिसे कि एशिया माइनर के नाम से जाना जाता था, के आयोनियन ग्रीक लोगों तथा उत्तर पश्चिम भारत के लोगों का परस्पर सम्पर्क खामिनी शासक डेरियस प्रथम (दारा प्रथम– 522-486 ई. पू.) के समय में हुआ क्योंकि ये दोनों ही प्रदेश इस समय इस ईरानी शासक के साम्राज्य का हिस्सा थे। ऐसा असम्भव प्रतीत नहीं होता कि खामिनी सरकार के आधीन युनानी तथा भारतीय मूल के सेवारत अधिकारी तथा व्यापारी प्रान्तीय राजधानियों तथा बड़े नगरों में परस्पर एक दूसरे के सम्पर्क में आते होंगें। अतएव यह तथ्य हमें बिल्कुल आश्चर्य चकित नहीं करता कि यह शब्द **यउन** (अर्थात यूनानी) जिसका सर्वप्रथम प्रयोग डेरियस प्रथम के दस्तावेजों में हुआ है, को ज्यों का त्यों भारतीयों ने अपना लिया।

यउन शब्द के संस्कृत रूप **यवन** के प्रयोग का उल्लेख सर्वप्रथम ई. पू. पाँचवी शताब्दी में पाणिनी कृत अष्टाध्यायी में मिलता है जबकि प्राकृत रूप **योन** का प्रयोग सर्वप्रथम अशोक के अभिलेखों में हुआ।

327-325 ई. पू. में सिकन्दर द्वारा उत्तर–पश्चिम भारत की विजय तथा वहां मकदनियाई साम्राज्य की स्थापना के साथ ही भारतीयों तथा यूनानियों के सम्बन्ध और अधिक प्रगाढ हुए। सिकन्दर द्वारा उत्तर–पश्चिम भारत विजय के उपलक्ष्य में स्थापित अलेग्जेण्डरिया, बुकेफल तथा निकाईया आदि नगरों में भी इस घनिष्ठ आपसी सम्पर्क में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। इन नगरों में रहने वाले यूनानी मौर्य काल में भी यहाँ बने रहे।

लगभग 325 ई. पू. से, जब सेल्युकस की चन्द्रगुप्त मौर्य से भिड़ंत हुई थी, से लगभग 100 वर्षों तक, अर्थात 206 ई. पू. तक जबकि अन्तियोकस ततीय ने उत्तर–पश्चिमी भारत पर आक्रमण किया था, यूनानियों के भारत के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रहे। मौर्य काल में यवनों के आसतित्व का पता इसी तथ्य से पता चल जाता है कि अशोक के राज्यकाल में उसके सौराष्ट्र प्रान्त का गवर्नर एक यूनानी था।

पातांजलि के **महाभाष्य** की रचना के समय तक **यवनों** तथा **शकों** ने भारतीय समाज में स्थान पा लिया था। जहाँ **महाभाष्य** में उन्हें **अनिर्वासित** (शुद्ध) क्षूद्र कहा गया है वहीं **मनुस्मति** उन्हें **निम्न क्षत्रिय** मानती है। यद्यपि इन दोनों ग्रन्थों में इस विषय पर मतभेद हैं तथापि उस समय भारत में **शुद्ध शूद्रों** तथा **निम्न क्षत्रियों** की सामाजिक स्थिति लगभग बराबर थी। **महाभाष्य** तथा **मनुस्मति** जिन बैक्ट्रिया तथा अफगानिस्तान में बसे युनानियों की बात करती हैं, धीरे–धीरे उनका भारतीयकरण हो गया तथा इन्होंने भारतीय नाम, धार्मिक विश्वास तथा पंरपराओं को अपना लिया। शनः शनः वे भारतीय समाज में विलीन हो उसके अंग बन गए।

250 ई. पू. के कुछ पश्चात् पार्थिया (कैस्पियन सागर के दक्षिण–पूर्व में स्थित क्षेत्र तथा खुरासान) तथा बैक्ट्रिया(प्राचीन बाहलीक, हिन्दूकश के परे उत्तरी अफगानिस्तान के आधुनिक बल्ख) प्रान्तों ने सेस्यूसिड शासक अन्तियोकस द्वितीय थिअकेस (261-246 ई. पू.) के विरूद्ध विद्रोह कर दिया। बैक्ट्रिया के इस विद्रोह का प्रणेता एक यूनानी गवर्नर डायोडोटस था। अन्तियोकस द्वितीय तथा उसके उत्तरधिकारी सेल्यूकस द्वितीय (246-226 ई. पू.) तथा सेल्युकस ततीय (226-223 ई. पू.) इतने शक्तिशाली नहीं थे कि वे इन विद्रोहों से निपट सकें। इनके एकदम बाद आये सेल्यूसिड शासक अन्तियोकस ततीय (223-187 ई. पू.) ने कुछ वर्षों तक पार्थिया तथा बैक्ट्रिया को जीतने का प्रयास किया। परन्तु आखिरकार निराश होकर इनसे शांति स्थापित कर ली तथा इन दोनों ही प्रान्तों की व्यावहारिक स्वतंत्रता को स्वीकार कर लिया।

डायोडोटस प्रथम ने बैक्ट्रिया में एक स्वतंत्र यूनानी (ग्रीक) राज्य की स्थापना की। जस्टिन के अनुसार डायोडोटस के पार्थिया के शासक से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध नहीं थे। इसी लेखक ने सिक्कों के आधार पर डायोडोटस द्वितीय को डायोडोटस प्रथम का पुत्र तथा उत्तराधिकारी बताया है। डायोडोटस द्वितीय ने अपने पिता की नीति को उलटते हुए पार्थिया के शासक से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किये।

डायोडोटस द्वितीय के पश्चात यूथेडमस नया शासक बना। यूथेडमस का अपने पूव्रव्रत शासकों से क्या सम्बन्ध था, इसका **ठीक-ठाक** आकंलन करना कठिन है। यूथेउमस ने सेल्यूसिड शासक अन्तियोकस ततीय से सन्धि स्थापित करने के लिए 206 ई. पू. में अपने पुत्र डिमिट्रियस को अपना दूत बना कर भेजा। यूथेडमस का देहावसान सम्भवतः 190 ई. पू. के लगभग हुआ। परन्तु उसके पुत्र डिमिट्रियस को ही भारत में यूनानी शक्ति का वास्तविक शासक माना जाता है। डिमिट्रियस ने भारत में एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की परन्तु भारत की ओर अधिक ध्यान केन्द्रित करने के कारण उसकी अनुपस्थिति में उसके ही एक सरदार युक्रेटाइडस ने बैक्ट्रिया में लगभग 171 ई. पू. में डिमिट्रियस के विरूद्ध विद्रोह कर दिया। यद्यपि डिमिट्रियस ने अपने छीने गए राज्य को यूक्रेटाइडस से पुनः प्राप्त करने का भरसक प्रयास किया तथापि इस कार्य में असफल ही रहा। कालान्तर में यूक्रेटाइडस ने भारत में डिमिट्रियस के साम्राज्य पर भी अपना प्रभाव जमा लिया। परन्तु कुछ समय पश्चात मिथ्राडेटस प्रथम (171-136 ई. पू.) के नेततव में पार्थियनों ने यूक्रेटाइडस को हरा कर बैक्ट्रियन के साम्राज्य के दो बड़े प्रान्तों पर अधिकार जमा लिया। हैलोल्कीज बैक्ट्रिया पर शासन करने वाला अन्तिम महान यवन शासक था। कालान्तर में पार्थियनों तथा उत्तर से आई यायावर जातियों (शक तथा यू–ची अथवा कुषाण) ने बैक्ट्रियन साम्राज्य का अन्त कर उसे आपस में बांट लिया।

इन्डोग्रीक (हिन्द-यवन) शासक

बैक्ट्रिया के विनाश के पश्चात भी यवन मध्य तथा दक्षिणी अफगानिस्तान एवं उत्तर पश्चिमी भारत पर शासन करते रहे। भारत में इस काल के यवन शासन की मुख्य विशेषता यह थी कि डिमिट्रियस तथा यूक्रेटाइडस के वंशज राज सत्ता प्राप्त करने के लिए निरन्तर रूप से आपस में लड़ते रहे। सिक्कों से हमें लगभग तीस हिन्द यूनानी शासकों के बारे में पता लगता है। इन राजाओं के वर्णित नामों में से कुछ नाम जैसे कि एण्टीमाकस, अपोलाडोटस, डिमिट्रियस, डायोडोटस, यूक्रेटाइडस, यूथैडमस, स्ट्रैटो तथा जोइलस ऐसे हैं जिन्हें सम्भवतः दो–दो ग्रीक शासकों ने अपनाया। ऐसा माना जाता है कि ऊपर वर्णित नामों में से एक ही नाम से पिता और पुत्र अथवा दादा और पौत्र ने शासन किया। इन सब शासकों ने भारत में शक–पार्थियन तथा कुशाण साम्राज्यों से पहले शासन किया।

क्योंकि डिमिट्रि्यस तथा यूक्रेटाइडस के वंशज लगभग तीस हिन्द यूनानी शासकों ने कुल मिलाकर दो शताब्दियों से भी कम समय तक शासन किया इसलिए यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि सम्भवतः इनमें से कुछ शासकों ने यवन साम्राज्य के विभिन्न क्षेत्रों से साथ–साथ शासन किया तथा इस तरह वे एक दूसरे के समकालीन रहे। इस प्रकार भारत में यवन शासन काल के विषय में पुराणों में दी गई तिथियां ठीक प्रतीत होती हैं।

मिनाण्डर :- अपोलोडोरस के द्वारा दिए गए सन्दर्भों के आधार पर स्ट्रैबों ने मिनाण्डर तथा डिमेट्रियस को महानतम हिन्द–यूनानी शासक माना है। पेरिप्लस (लगभग 70-80 ई.) के अज्ञात लेखक ने भी यह माना है कि सिकन्दर के पश्चात् अपोलोडोटस तथा मिनाण्डर के समय में भी बरीगाजा (भड़ोच) के अभिलेखों पर यूनानी चिन्ह तथा यूनानी सिक्के (द्रक्म) प्रचलित थे। भड़ोच का क्षेत्र सम्भवतः डिमेट्रियस, अपोलोडोटस तथा मिनाण्डर के समय में यूनानी साम्राज्य का हिस्सा था। जस्टिन की अप्राप्य चवालीसवीं पुस्तक में भी अपोलोडोटस तथा मिनाण्डर का वर्णन भारतीय राजाओं के रूप में हुआ है। प्लुटार्क के अनुसार मिनाण्डर अपनी न्यायप्रियता के लिए जाना जाता था तथा वह अपनी जनता के बीच इतना लोकप्रिय था कि जब एक सैनिक कैम्प में उसकी मत्यु हुई तो विभिन्न नगरों के लोगों मे उसकी अस्थियों के अधिकार को लेकर होड़ लग गई। यह बड़ी विचित्र बात है कि भारत के सभी यूनानी शासकों में एकमात्र मिनाण्डर को ही भारतीय बौद्ध परंपराओं में एक विद्वान तथा बौद्ध अनुयायी के रूप में विशिष्ट स्थान मिला है। उसकी पहचान राजा मिलिन्द से की गई है जो कि प्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थ **मिलिन्द-पान्हो** (मिलिन्द के प्रश्न) में बौद्ध भिक्षु नागसेन के साथ दूसरा प्रमुख पात्र है। इस पुस्तक की रचना बौद्ध भिक्षु नागसेन तथा राजा मिलिन्द के बीच संवाद पर आधारित है तथा इसमें इस भिक्षु को राजा मिलिन्द द्वारा उसके समक्ष प्रस्तुत किये गए समस्त प्रश्नों तथा संदेहों का सुगमतापूर्वक हल करते हुए तथा अंततः इसके परिणामस्वरूप राजा को बौद्ध अनुयायी बनते हुए दिखया गया है। क्षेमेन्द्र कृत **अवदानकल्पलता** में इस राजा के नाम का भारतीय रूप मिलिन्द्र दिया गया है जबकि शिन्काट अभिलेख में उसका उल्लेख मिनाद्रा के रूप में हुआ है जो कि उसके सिक्कों से प्राप्त सही नाम मिनाण्डर के काफी निकट है। **मिलिन्द-पान्हों** के अनुसार मिनाण्डर का जन्म अलसन्दा के दोआब अथवा द्वीप (काबुल के निकट अलेक्जेण्डरिया) के एक गाँव कलसी–ग्राम में हुआ तथा उसने शाकल (पाकिस्तान के पंजाब प्रान्त में स्थित सियालकोट) को अपनी राजधानी बनाया। ऐसा कहा जाता है कि मिनाण्डर ने अपना राज्य अपने पुत्र को सौंप दिया तथा इस संसार से निर्वासित हो बौद्ध भिक्षु तथा बाद में **अर्हत** के रूप में जीवन व्यतीत करना आरम्भ कर दिया। हिन्द–चीन परम्पराओं में उसे हिन्द–चीन में स्थित प्रसिद्ध बौद्ध प्रतिमा से सम्बंद्ध बताया गया है। हालांकि ऐसी अनुश्रुतियों को विश्वसनीय नहीं माना जा सकता, फिर भी इस संदर्भ में यह बहुत रूचिकर है कि एक विदेशी राजा ने भारतीय मस्तिष्क को प्रभावित किया।

साधारणतया मिनाण्डर का शासनकाल दूसरी शताब्दी ई. पू. का मध्य माना जाता है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उसने इसके कुछ

बाद, सम्भवतः 115-90 ई. पू. के दौरान शासन किया। कुछ विद्वानों ने अपोलोडोरस के अपुष्ट उद्धरण के आधार पर यह मत प्रस्तुत किया है कि मिनाण्डर की वह यवन शासक था जिसने पुष्यमित्र शुंग के समकालीन **महाभाष्य** के लेखक पातांजलि के जीवनकाल में साकेत तथा मध्यमिका पर आक्रमण किया था। परन्तु उन्होंने **गार्गी-संहिता** में वर्णित उस तथ्य को बिल्कुल अनदेखा कर दिया है जिसमें यह कहा गया है कि मध्य देश तथा पूर्वी भारत पर यूनानी आक्रमण परवर्ती मौर्य शासक शालिशूक के राज्यकाल के एकदम बाद तथा पुष्यमित्र के शासनकाल से पहले, संभवतः 187 ई. पू. में हुआ था। क्योंकि विद्वानों का इस विषय में मतैक्य है कि मिनाण्डर का राज्यकाल डिमेट्रियस की मत्यु, जो की लगभग 165 ई. पू. में हुई थी, के बाद ही आरम्भ हुआ, इसलिए हम यह मान सकते हैं कि अधिक से अधिक वह पुष्यमित्र के शासन काल के बाद के वर्षों में ही उनका समकालीन था तथा निश्चित तौर पर वह वो यवन शासक नहीं था जिसने दूसरी शताब्दी ई. पू. में मध्य देश तथा पूर्वी भारत पर आक्रमण किया था। हालांकि यह सुझाया गया है कि पुष्यमित्र ने यवनों से दो बार (पहली बार डिमेट्रियस से तथा दूसरी बार अपने अपने शासनकाल के अंतिम समय में मिनाण्डर से) युद्ध किये। परन्तु अन्य भारतीय परम्पराओं के अनुसार मिनाण्डर ने पुष्यमित्र शुंग के शासनकाल के बाद ही शासन किया।

कुछ अन्य लेखकों में पाये गये कुछ चौरस सिक्कों के आधार पर यह मत प्रस्तुत किया है कि यूक्रेटाईडस के शासन काल के अन्तिम वर्षों में मिनाण्डर उसका समकालीन था क्योंकि दोनों के ही प्राप्त सिक्के चौरस होते हुए न केवल एक दूसरे से मिलते जुलते थे अपितु वे एक ही क्षेत्र से जारी किये गए थे। परन्तु क्योंकि मिनाण्डर ने डिमेट्रियस के एक दम बाद के उत्तराधिकारियों अपोलोडोटस, अगथोक्लीज तथा एन्टीमाकस जिन्होंने यूक्रेटाइडस से युद्ध किये थे, के पश्चात ही शासन संभाला था इसलिए यह नहीं माना जा सकता कि वह यूक्रेटाइडस का समकालीन था अथवा उसने दूसरी शताब्दी ई. पू. के मध्य से पहले शासन किया हो। संभवतः मिनाण्डर के शासनकाल का आरम्भ तब हुआ जब यवन शासक बैक्ट्रिया, द्रंगिअना तथा आरकोसिया के कुछ प्रदेशों को तार चुके थे।

मिनाण्डर के साम्राज्य की विशालता का अनुमान उसके द्वारा बहुत अधिक मात्रा में जारी किये गए सिक्कों तथा इन सिक्कों के विभिन्न दूरस्थ क्षेत्रों में प्रसार से लगाया जा सकता है। ये सिक्के केवल काबुल घाटी तथा सिन्धु घाटी से ही नहीं प्राप्त हुए हैं अपितु उत्तरप्रदेश के पश्चिमी जिलों से भी मिले हैं। प्रथम शताब्दी ई. में उसके सिक्के काठियावाड़ में भी प्रचलित थे। अपोलोडोरस के अनुसार मिनाण्डर हैफनिस (ब्यास) नदी को पार कर इसेमस (प्राकृत इच्छुमई अथवा संस्कृत इक्षुमती के समतुल्य – जो कि पांचाल प्रदेश की एक प्राचीन नदी थी जिसकी तुलना रूहेलखण्ड, कुमायुँ तथा कन्नौज क्षेत्र से प्रवाहित होती आधुनिक कालीनदी से की जाती है) तक जा पहुँचा।

शिन्कोट में पकी मिट्टी के बक्स से प्राप्त दो खरोष्ठी लिपि में लिखे अभिलेखों में से पहला, जो कि मिनाण्डर के राज्यकाल का उल्लेख करता है, वह पंजकोरा तथा स्वात नदियों के संगम से बीस मील पश्चिम में स्थित बजोर जनजातियों प्रदेश से खोज निकाली गई है। ऐसा कहा जाता है कि वियकमित्र नामक एक राजकुमार (जो कि सम्भवतः मिनाण्डर का एक सामन्त था) ने सर्वप्रथम उपासना हेतु शाक्यमुनि बुद्ध के अस्थि अवशेषों को इस बक्से में स्थापित किया था। इसके पश्चात इस प्रथा को विजमित्र, जो कि कदाचित वियकमित्र का पुत्र अथवा पौत्र था, ने जारी रखा। अतएव शिन्कोट अभिलेख की खोज इस ओर इंगित करता है कि पेशावर तथा ऊपरी काबुल घाटी के क्षेत्रों पर मिनाण्डर का अधिकार था। इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि इस काल में यवन साम्राज्य अफगानिस्तान के मध्य भाग, उत्तर–पश्चिमी सीमा प्रान्त, पंजाव, सिन्ध, राजपुताना, काठियावाड़ तथा सम्भवतः पश्चिमी उत्तर प्रदेश तक फैला हुआ था।

एण्टिएलकिडास :– मिनाण्डर के अतिरिक्त एक अन्य हिन्द–यूनानी शासक के नाम का उल्लेख भी बेसनगर से प्राप्त एक अभिलेख में हुआ है। इस अभिलेख में तक्षशिला के एक यवन राजदूत हलियोडोरस, जिसने की **भागवत** (विष्णु अथवा वासुदेव का उपासक) की उपाधि धारण की हुई थी तथा जो मौर्य राजा कौतसी पुत्र भागमद्र की राजदरबार में उसके शासन काल के चौदहवें वर्ष में यूनानी राजा एण्डिएलकिडास के राजदूत के रूप में आया था, द्वारा बेसनगर (विदिशा) में भगवान वासुदेव के सम्मान में निर्मित **गरूड़-ध्वज** स्तम्भ का उल्लेख है। साधारणतया ऐसा माना जाता है कि हिन्द–यूनानी शासक एण्डिएलकिडास ने तक्षशिला को अपनी राजधानी बनाया था तथा वहाँ स्थायी रूप से अपने राजदूत की नियुक्ति की थी। साथ ही यह भी धारणा है कि वह यूक्रेटाइड का वंशज था तथा उसके एक उत्तराधिकारी के रूप में कपीश क्षेत्र से शासन करता था। इस संदर्भ में यह बताना आवश्यक है कि हिन्द–युनानी शासकों की यूक्रेटाइड शाखा के राजकुमारों के साम्राज्य में कपीश, पुष्पकलावती तथा तक्षशिला के प्रदेश आते थे।

सिक्कों के आधार पर एण्डिएलकिडास के सम्बन्ध यूक्रेटाइडस के पुत्र हेलोक्लीज से स्थापित करने का प्रयास किया गया है। कई विद्वान यह अनुमान लगाते हैं कि एण्डिएलकिडास हलिओक्लीज (हेलोक्लीज) का पुत्र तथा यूक्रेटाइडस का पौत्र था। परन्तु तक्षशिला से मिले कुछ सिक्कों के आधार पर अन्य विद्वान लीसियस को एण्डिएलकिडास का पिता बताया है। लीडियस का शासनकाल हलिओक्लीज तथा एण्डिएलकिडास के राज्यकाल के बीव में पड़ता है।

उपरोक्त वर्णन से हमें यह पता चलता है कि भागभद्र के शासन काल के 14 वें वर्ष में यूनानी राजा एण्डिएलकिडास का राजदूत

उसके दरबार में आयां यह तिथि लगभग 113 ई. पू. पड़ती है तथा यह प्रमाणित करती है कि इस समय हिन्द–यूनानी राजा एण्टिएलकिडास शासन कर रहा था। अतः इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं लगती कि जब यूथेडमस शाखा के शासक मिनाण्डर ने तक्षशिला तथा पुष्पाकलावती के क्षेत्रों में यूक्रेटाइड शाखा के राजाओं को हरा दिया तो उसकी शक्ति को सीमित करने के लिए एण्टिएलकिडास ने इस भारतीय राजा (भागभद्र) की सहायता ली।

भारत में यवन शासन का अंत :-

कुछ यवन शासकों की जानकारी हमें केवल उनके सिक्कों से ही मिलती है। ये सम्भवतः यूथेडमस तथा डिमेट्रियस कें वंशज थे। इनमें से कुछ सिक्के एक रानी अगथीक्लिया द्वारा जारी किये गऐ थे जो कि संयुक्त रूप से एक कनिष्ठ राजा स्ट्रेटों के साथ मिलकर चलाये गये थे। विद्वानों का मत है कि ये सिक्के रानी ने तब प्रचलित करवाये थे जब स्ट्रेटो अल्पवयस्क था तथा वह उसकी संरक्षिका के रूप में शासन कर रही थी। इसके पश्चात स्ट्रेटों (प्रचलित नाम सोटर), जो कि संभवतः अगथोक्लिया का पुत्र था, ने एंकाकी रूप से शासन करना आरम्भ किया तथा अपने स्वतन्त्र सिक्के जारी किये। परन्तु अपने शासन काल के अंतिम समय में स्ट्रेटो–सोटर ने भी अपने आधीन के कनिष्ठ राजा स्ट्रेटो फिलोपेटर, जो कि उसका पौत्र था, के साथ मिलकर संयुक्त रूप से शासन चलाया। इन नामों तथा सिक्कों की समानता के आधार पर ही विद्वानों ने यह सुझाव दिया है कि स्ट्रेटो I की माता एगथोक्लिया राजा एगथोक्लीज की पुत्री तथा राजा मिनाण्डर की पत्नी थी।

मिनाण्डर की मत्यु के पश्चात उसके उत्तराधिकारी शासक सम्भवतः गान्धार तथा अफगानिस्तान के क्षेत्रों पर अधिकार नहीं रख सके। ऐसा प्रतीत होता है कि एगथोक्लिया तथा स्ट्रेटो प्रथम (सोटर) ने केवल पंजाब के पूर्वी भागों पर शासन किया। सिक्कों से प्राप्त इस जानकारी के आधार पर कि स्ट्रेटो ने एक अल्पवयस्क के रूप में शासन आरम्भ किया था तथा वद्धावस्था तक शासन करता रहा, यह अनुमान लगाया गया है कि उसका राज्यकाल पचास वर्ष से भी अधिक था। इस प्रकार स्ट्रैटो प्रथम के शासन काल का अन्त लगभग 30 ई. पू. के आस पास हुआ। यूनानियों की यूथैडमियन शाखा के बाद के राजकुमार जैसे कि डायोनिसियस, लोइलस, अपोलोफेन्स, हिपोस्ट्रैटस तथा अपोलोडोटस (द्वितीय अथवा ततीय) का शासनकाल प्रथम शताब्दी ई. पू. का उत्तरार्द्ध माना जाता है तथा हिपोस्ट्रैटस एवं अपोलोडोटस को स्ट्रैटो प्रथम का उत्तराधिकारी माना जाता है।

अपने शासन काल के बाद के वर्षों में स्ट्रैटो प्रथम के सिक्कों का भंगित होना तथा उसके द्वारा स्ट्रैटो द्वितीय के साथ मिल कर संयुक्त रूप से सिक्के जारी करना यह दर्शाता है कि हिन्द यूनानियों की यूथैडमस शाखा का पराभव इस काल में आरम्भ हो गया था। इनके कुछ सिक्कों को सीथियन जाति के शक क्षत्रपों तथा कुछ भारतीय राजाओं ने बाद के समय में ज्यों का त्यों अपनाया। एक यवन शासक जिसका नाम सन्देहास्पद है तथा खारवेल के हाथी गुम्फा अभिलेख के अनुसार जिसका नाम दिमित बताया गया है, सम्भवतः प्रथम शताब्दी ई. पू. अन्तिम समय में शासन करता था। इसी अभिलेख के अनुसार उसका साम्राज्य मथुरा तथा उसके निकटवर्ती प्रदेशों में फैला हुआ था। यह निश्चित नहीं, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि प्रथम शताब्दी ई. पू. से पहले ही इस प्रदेश को पूर्वी ईरान से आए शक शासकों ने अपने अधिकार में ले लिया था। गान्धार तथा अफगानिस्तान इस समय हिन्द यवनों की यूक्रेटाइड शाखा के राजकुमारों के हाथ में थे। इन राजकुमारों को निम्न सिन्धु घाटी से आए शक शासक मऊज (20 ई. पू. – 22 ई.) ने प्रथम शताब्दी ई. के आरम्भिक समय में तक्षशिला तथा पुष्पकलावती क्षेत्रों से खदेड़ दिया।

हिन्द यवनों की एक अन्य यूक्रेटाइट शाखा के दो शासकों अमेण्टस तथा हरमियस ने माफिरिस्तान तथा काबुल क्षेत्र पर अपना अधिकार जमाया हुआ था। ऐसा प्रतीत होता है कि हरमियस, जिसका शासन काल प्रथम शताब्दी का पूर्वार्ध माना जाता है, काबुल घाटी में अन्तिम यवन शासक था तथा उसके पश्चात यह क्षेत्र पार्थियनों तथा बाद में कुशाणों के हाथ में चला गया।

निम्न सिन्धु प्रदेश में पार्थियन शक्ति का प्रसार दूसरी शताब्दी ई. पू. के मध्य के लगभग उनके शासक मिथ्राडेटीस के शासन काल में हुआ। इसके लगभग एक शताब्दी पश्चात पूर्वी ईरान (द्रंगियाना अथवा शईस्तान देश), जिस पर मूलतः पार्थियन शासकों के वायसरायों का अधिकार था, एक स्वतन्त्र साम्राज्य बन गया। आरकोशिया (दक्षिणी अफगानिस्तान का कन्धार प्रदेश) इस नए साम्राज्य का एक प्रान्त था और हरमियस के काल से बहुत पहले सम्भवतः मिथ्राडेटिज के शासन काल में ही यह यूनानी हाथों से निकल कर पार्थियनों के पास आ गया था। बाद के पार्थियन शासेक गोन्दोफरनीज (21-50 ई.) जो मूलतः आरकोशिया का शासक था, ने काबुल घाटी में यवन राज्य का अन्त कर दिया। परन्तु इस घटना के कुछ ही पश्चात प्रथम शताब्दी ई. के मध्य के लगभग स्वयं पार्थियन शासक कुशाणों के हाथों हार गए।

हमनें उपरोक्त पष्ठों में बैक्ट्रिया, उत्तरपश्चिमी भारत तथा अफगानिस्तान में स्थापित हिन्दयवन राज्य के क्रमिक पतन के देखा है। परन्तु सीथो–पार्थियन तथा कुषाण शक्ति के भारत में स्थाई हो जाने के पश्चात भी यवनों का भारतीय राजनीति से सम्बन्ध विच्छेद नहीं हुआ। ऐसे प्रमाण मिले हैं कि भारत के नए शासकों ने सहर्ष यवन अधिकारियों को अपनी सेवा में रखा। इसके साथ ही जिन यवन सरदारों ने सीथो–पार्थियन तथा कुषाण आधिपत्य को स्वीकार कर लिया उन्हें इन शासकों ने अपनी स्वतन्त्र बस्तियां बसाने का अधिकार दे दिया। सातवाहन शासक गौतमी पुत्र शातकर्णी के अभिलेखों से यह प्रमाण मिलते हैं कि उसने शक, पहलाव तथा यवन शासकों के साथ संघर्ष किया। सम्भवतः इस समय यवन काठियावाड़ तथा मालवा प्रदेशों में रहते थे तथा यही क्षेत्र गौतमी पुत्र शातकर्णी के साम्राज्य का उत्तरी छोर भी थे। कालीदास जिसका जीवन काल चौथी–पांचवी शताब्दी ई. माना जाता है ने भी **रघुवंश** में इन यवन बस्तियों का उल्लेख किया है। उसने रघु की दिग्विजय का वर्णन करते हुए अपरान्त (उत्तरी कोंकण) तथा पारसिका (पर्शिया अथवा ईरान) को यवनों की भूमि माना है। तीसरी शताब्दी ई. के उत्तरार्ध में नागार्जुन कोण्डा से प्राप्त एक अभिलेख में भी यवन राज्य का उल्लेख मिलता है जहां कुछ श्री लंकाई भिक्षुणियां देशाटन हेतु आई थी।

अध्याय-4

शक

ईसा के पूर्व द्वितिय शताब्दी में बैक्ट्रिया पर युनानियों का राज्य समाप्त हो गया तथा इनका स्थान मध्य एशिया से आने वाले कबिलाई लोगों ने ले लिया। इन लोगों के इतिहास को जानने के साधनों में प्रमुख्यतः चीनी साक्ष्य है। इनका सर्वप्रथम पता हमें सी–या–सियान के ग्रन्थ शी–की में चांग–कियान की रिर्पोट के आधार पर मिलता है जो कि 99 ई०पूर्व लिखी गई। इसके बाद के दो महतवपूर्ण ग्रन्थ है सीन–हान–शु या प्रथम हान राजवंश का इतिहास या दूसरी हाऊ–हान–शु या बाद के हान राजवंश का इतिहास। सीन–हान–शु 24 ई०पूर्व में पान–कु द्वारा तैयार की गई पिसे उसकी मत्यु के पश्चात् उसकी बहन पान–चा ने पूर्ण किया। इस पुस्तक में मध्य एशिया तथा चीन का इतिहास 202-100 ई०पूर्व के मध्य का दिया गया है जबकि हाऊ–हान–शु में 25 ई०पूर्व से 220 ई०पूर्व तक का इतिहास है।

इन चीनी ग्रन्थों के अनुसार चीन मंगोलिया सीमा या कशगरिया के उत्तर–पूर्व तथा पूर्वी क्षेत्र में एक कबिलाई लोग रहते थे। इनके पड़ोस में एक अन्य जाति हुंग–सु थी। इन्होंने अपने पड़ोस के अन्य कबीले यु–ची राजा मारा गया तथा पूरा कबीला तहस–नहस हो गया। इनका एक भाग पश्चिम की ओर चला गया जिन्हे ता–यु–ची कहा जाता है दूसरा दक्षिण की ओर बढ़ा। इन्हे साओ–यु–ची (छोटे युची) कहा गया। ता–यु–ची लोगों ने पश्चिमी की ओर बढ़ते हुए अपने क्षेत्र से लगे वू–सुन लोगों के क्षेत्र पर आक्रमण कर दिया। वू–सुन राजा मारा गया तथा इनके राजकुमार ने हुंग–सु (Hunuish) के यहाँ शरण ली जब यह राजकुमार व्यस्क हो गया तो उसने इन हुण लोगों की सहायता से यु–ची कबीले को हरा अपना राज्य पुनः प्राप्त किया। इस तरह यु–ची कबीले को पुनः पश्चिम की ओर नए प्रदेशों की खोज में जाना पड़ा। चीनी साक्ष्यों के अनुसार वहाँ उन्होंने एक अन्य जाति सई (Sai) या शको (Sakos) को हराया। हार के बाद शक जाति को दक्षिण की ओर जाना पड़ा तथा उन्होंने की–पिन (Ki-pin) पर अधिकार कर लिया परन्तु इन शकों के कई भाग हो गए तथा इन्होंने कई राज्य स्थापित किए। इनकी एक शाखा की–पिन (Ki-pin) थी जो कपिशा होती हुई भारत में प्रविष्ठ कर गई। दूसरी चीन की ओर बढ़ी तथा इनके बार–बार आक्रमणों के कारण चीनी राजाओं ने चीन की प्रसिद्ध दीवार बनवाई। इनकी ऐ शाखा पश्चिम की ओर के पाथियिन राजा फ्राटेज द्वितिय (Phraates-II) ई०पूर्व 138-28 इनके साथ युद्ध में मारा गया। इसके उत्तराधिकारी आटीबनुस द्वितिय (128-3 ई०पूर्व) Artabanus-II ने इन शकों से समझौता कर लिया परन्तु इन शकों की मागों से तंग आ उसने शस्त्र उठाए परन्तु युद्ध में मारा गया। 123 ई०पूर्व में मथरिडेटस द्वितिय (Mathridates-II) पाथियिनो का राजा बना जिसके कारण शकों को भारत की ओर मुख करना पड़ा। भारत में बोलन दर्रे के रास्ते सिन्ध क्षेत्र तक पहुँच गए इन्हे भारत में हिन्द सीथियन (Indo-Scythian) कहा जाता है जिनका प्रथम राजा मावेज (Mues) था जिसने सर्वप्रथम तक्षशिला में अपना राज्य स्थापित किया। उसे तथा उसके उत्तराधिकारियों को तक्षशिला के शक कहा जाता है।

भारतीय साक्ष्य :-

चीनी साक्ष्यों के अतिरिक्त अनेक भारतीय ग्रन्थों में भी शकों का वर्णन है। रामायण तथा महाभारत में शकों का यवन के साथ वर्णन है। पंतजलि तथा काव्यायन ने भी अपने ग्रन्थों में शक जाति का उल्लेख किया है। मनु ने भी शक संदर्भ दिया है। पुराणों के ऐतिहासिक भाग में भी शक तथा मुरूण्ड (Murunda) लोगों का वर्णन किया है उनके अनुसार जब आन्ध्र वंश का अंग होगा तो राज्य उनके भत्यों (नौकरों) को चला जाएगय। इनमें 10 आभीर (Abhira) राजे 7 गर्दभीन (Gardabhin), 18 शक के अतिरिक्त 8 यवन, 14 तुषार, 13 मुरूण्ड तथा 11 हुण राजे होगें। गार्गी संहिता में भी यवन आक्रमण के पश्चात् शकों के आक्रमण और मथुरा क्षेत्र पर उनके अधिपत्य का वर्णन है। देवी चन्द्रगुप्तम, हर्षचरित तथा काव्यमीमांसा नामक संस्कृति ग्रन्थों के अतिरिक्त जैन प्राक्रित ग्रन्थ कालकाचार्य कथानक में भी शक नरेशों (शाहि) का वणैन है। जिन सेन के हरिवंश ने भी इनका जिकर किया है। बौद्ध साक्ष्यों में मलिंदपहो में शक–जाति का उल्लेख है। समन्तपासादिका में शक नरेश रूद्रादामन का उल्लेख है। हेरोगेटस, स्ट्रबो, जस्टिन पेरिप्लस के लेखक, टालमी इत्यादि ने भी शकों का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त शकों के भारत में अभिलेख तथा मुद्राएं मिलती है जो कि इनके इतिहास निर्माण में महत्वपूर्ण है। तक्षशिला में सर जॉन मार्शल के उत्खनन से प्राप्त मुद्राओं से पता चलता है कि यहाँ का सर्वप्रथम शक राजा मावेज था। इसकी मुद्राओं पर पार्थियन प्रभाव मिलता है जिससे पता चलता है कि ये पार्थियाई लोगों के सम्पर्क में आए। डा० अल्लेकर का मत है कि मावेज प्रारम्भ में पार्थिया के अधीन राजा था क्योकिं इसके सिक्के पार्थियनों से मिलते है तथा केवल राजा की उपाधि उसने धारण की। संभवतः मिथरिडेटस द्वितिय (Mithridates-II) के पशचात् तब पार्थियाई साम्राज्य कमजोर हो गया तो इसने स्वतन्त्रता घेषित कर दी।

मावेज की तिथि :-

मावेज की तिथि के संदर्भ में विद्वानों में काफी मतभेद है। इसे जानने के लिए हमारे पास मुद्राशास्त्र के साक्ष्य तो है ही साथ ही तक्षशिला के ताम्बे की पट्टी (Taxila Copper Plate) पर लिखा अभिलेख है जो वर्ष 78 की है। इसमें एक महान राजा मोग (मावेज) का वर्णन है। इसके अनुसार क्षत्रप लियाक कु सुलक और उसके अधीन उसका पुत्र महादानपति पतिक इत्यादि मोग के आधीन थे। एक अन्य मानसेरा अभिलेख में भी लियाक का नाम मिलता है। हेमचन्द्रराय चौधरी के अनुसार तक्षशिला ताम्रपत्र तथा मानसेरा अभिलेख में वर्णित लियाक ही एक व्यक्ति है। तक्षशिला ताम्रपत्र (वर्ष 78) तथा मानसेरा अभिलेख (वर्ष 68) के अनुसार मावेज का साम्राज्य काफी विशाल था जिसमें की–पिन का क्षेत्र था जो कि 32 ई०पूर्व के बाद ही उसका राज्य इस क्षेत्र पर हुआ हो। इस समय विक्रमी सम्वत् का प्रारम्भ हो चुका था तथा घिर्षमैन (Ghirshman) नामक विद्वान के अनुसार सभी भारतीय प्राचीन रिकार्डो में इसका प्रयोग हुआ है। यदि हम तक्षशिला ताम्रपत्र की तिथि विक्रमी सम्वत् की माने तो मावेज की तिथि (78-58) 20 ई०पूर्व आंकी जा सकती है। इसके अनुसार मावेज का राज्य काल 30 ई०पूर्व तक रहा। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वान विक्रम सम्वत् को ऐजिज (Azes-I) प्रथम द्वारा संस्थापित किया मानते है परन्तु यह ठीक नही है। पातिक के अभिलेख से पता चलता है कि वह महाक्षत्रप से पहले अपने पिता के आधीन महादानपति तथा वह 20 ई०पूर्व में राजा बना।

राज्य विस्तार :-

मावेज ने न केवल अपने स्वामी पूर्वी इरान को महान राजाओं के राजा से सम्बन्ध विच्छेद कर स्वतन्त्र हो गया बल्कि अपना राज्य उत्तर–पश्चिमी भारत में फैलाकर राजाओं के राजा महान की उपाधि धारण की। इसके प्रारम्भिक सिक्कों पर बैसीलियस माओस (Basileos Mauou) युनानी भाषा में लिखा मिलता है परन्तु इसके बाद के सिक्कों पर युनानी भाषा में बैसिलियस, बैसीलियोन, मैगालस माओस (Basileos, Basileon, Megalou Mauou) तथा ख्रोष्ठी में रजदिरजस महतस माओस मिलता है जो इस बात का द्योतक है। दूसरे इसके सिक्कें युनानी सिक्कों से भी मिलते जुलते है। मावेज द्वारा गांधार तक्षशिला क्षेत्र का अधिपत्य वष 78 की तक्षशिला ताम्रपत्र से लगता है जिसमें उसके अधीन राजा (क्षत्रप) लियाक का उल्लेख है जो मावेज के आधीन चुक्श आधुनिक तक्षशिला पर राज्य करता था। उसने तथा उसके पुत्र पतिक ने तक्षशिला में बुद्ध के अवशेषें को स्थपित करवाया है। इसके अतिरिक्त मानसेरा अभिलेख में भी खत्रप लियाक कुसुलक का उल्लेख है। यह भी मावेज के आधीन शासन कर रहा था। इससे अंदाजा लगाया जा सकता है कि कशमीर का क्षेत्र भी इसके राज्य में था। पंजाब मथुरा का क्षेत्र संभवतः इसके उत्तराधिकारियों ने विजित किया होगा परन्तु मथंरा के सिंह शीर्ष पर लिखे लेख को स्टेन कोनो नामक विद्वान ने मुकि पढ़ा है जिसका समाकरण उन्होंने मोग या मावेज से किया है परन्तु दोनो का पाठ गलत लगता है।

राज्य प्रबन्ध :-

मावेज ने एक बड़ा साम्राज्य स्थापित लिया था तथा उसका प्रशासन बड़ी सूझबूझ से कर रहा था। अधीनस्थ राज्यों का संचालन करने के लिए उसने अपने क्षत्रप नियुक्त कर रखे थे जिनके अभिलेखों से हमें उनके द्वारा संचालित क्षेत्रों का भी पता चलता है। तक्षशिला ताम्रपत्र से क्षत्रप लियाक कुसुलक तथा मथुरा सिंह शीर्ष पतिक का पता चलता है।

एजिज प्रथम (Azes-I) 5 से 30 ई०पूर्व :-

मुद्राशास्त्र के साक्ष्यों से पता चता है कि तक्षशिा क्षेत्र में मावेज के पश्चात् एजिज प्रथम राजा बना। यह वही व्यक्ति था जो स्पैरिइसिस (Spalirises) का साथी था तथा दक्षिणी अफगाननिस्तान पर राज्य कर रहा था। एजिज किस वंश से था इस बारे में विद्वानों में मतभेद है। कुछ विख्यात इसे पहलव (पार्थियन) मानते है जैसे स्टेन कोनो परन्तु अधिकतर विद्वान इसे शक ही मानते है। इनमें रैप्सन (Rapson), टार्न (Tarn), गार्डनर, मार्शल, रायचौधुरी इत्यादि है। वह स्पैलिराइसिस के साथ उपराजा के रूप में राज्य कर रहा था क्योकिं सिक्कों पर महाराजा तथा उपराजा, राजा के नाम के कारण इसमें कोई सम्बन्धो का वर्णन नही होता। अतः हमें यह नही पता चलता कि इन दोनो का सम्बन्ध क्या था। कुछ विद्वान इा आधार पर ही एजिज को स्पैलिराइसिस का पुत्र मानते है। कुछ विद्वानों का मत है कि वह मावेज का पुत्र था तथा स्पैरिइसिस का दामाद था परन्तु यह स्पष्ट है कि उसने मावेज के पश्चात् राज्य किया तथा वह मावेज का ही पुत्र या दामाद तथा उत्तराधिकसरी था।

एजिज ने हिन्द युनानी राजाओं अपोलोडोटस द्वितिय (Appolodotus-II) तथा हिप्पोस्ट्रटस (Hippostratus) की मुद्राओं का पुनः निर्माण (Restruck) कर इनके कुछ चिन्हो (Monograms) को भी अपनाया। स्तरविन्यास के आधार पर हमें उत्खनन से अलग–अलग सतहों में एजिज के सिक्कें मिलते है जो इनके अलग–अलग काल के द्योतक है। दूसरे कुछ मुद्राएं पार्थियन (Parhian) राजा गोण्डोफरर्नीज (Gondopharnes) की मुद्राओं के साथ मिलती है। इससे इस एजिज (Azes) का पार्थियन राजा के समीप के काल में राज्य होना सिद्ध होता है। मुद्राओं पर एक प्रकार के सिक्के पर घोड़े पर सवार राजा के हाथ में भाला तथा दूसरे के हाथ में

चाबुक है। इससे पता चलता है कि एजिज नाम के एक नही बल्कि दो राजे हुए। इन दोनो के बीच एक अन्य राजा एजिलिसिस (Azilises) हुआ। कुछ विद्वानों का मत है कि एजिज ने ही 58 ई०पूर्व के विक्रमी सम्वत् का प्रारम्भ किया।

एजिज प्रथम, यदि हम मान भी लें कि वह स्पैलराइसिस का पुत्र था, का पूर्वी इरान के साम्राज्य से सम्बन्ध नही था। यह संभव है कि जब उसने मावेज के पश्चात् राज्य प्रारम्भ किया तो उसके स्पैलराइसिस से सम्बन्ध ठीक नही रहे। इसके प्रमाण हमें मुद्राशास्त्र तथा अन्य साक्ष्यों से मिलते है।

एजिज के राज्य काल के बारे में भी विद्वानों के मत एक नही है। कुछ मुद्राओं पर एजिज तथा स्पैलराइसिस दोनो के नाम मिलते हैं। इसी आधार पर स्मिथ तथा मार्शल इत्यादि विद्वान एजिज–I को मावेज का नही बल्कि स्पैलराइसिस का उत्तराधिकारी मानते है। एजिज–II ने हिपपोस्ट्रटस की पुरानी मुद्राओं को पुनः अंकित कर (Restruck) पर चलाया। इससे उसका पूर्वी पंजाब पर युनानी शासकों पर विजय का पता चलता है। एजिज ने मीनान्डर (Menander) की एथेना एल्किस प्रकार की मुद्राएं भी चलाई। इसी आध ाार पर टार्न (Tarn) नामक विद्वान मानते है कि एजिज प्रथम ने मीनान्डर के राज्य का सियाल कोट का क्षेत्र भी जीत लिया था परन्तु मीनान्डर का क्षेत्र तो प्रमुख्यतः काबुल क्षेत्र था। इसलिए एजिज ने काबुल अधिपत्य किया होगा।

एजिलिसिस :-

एजिज प्रथम के पश्चात् एजिलिसस (अयलिस) ने शक क्षंत्र पर राज्य किया। अन्य शक राजाओं की तरह ही इनके काल का पता भी हमें मुद्राशास्त्र के साक्ष्यों के आधार पर ही लगता है। कुछ मुद्राओं पर युनानी लेख में एजिज का नाम ह। परन्तु पष्ठ भाग पर खरोष्ठी में एजिज का नाम है जो कि एजिज द्वितिय था। इससे पता चलता है कि प्रारम्भ में वह एजिज प्रथम के साथ सहशासक के रूप में कार्य कर रहा था तथा एजिज प्रथम के बाद वह स्वतन्त्र शासक बना तथा अपने पुत्र या उत्तराधिकारी एजिज द्वितिय के साथ शासन करने लगा।

एजिलिसिस ने जियस प्रकार के पष्ठ वाले सिक्कों का निर्माण किया जो कि मार्शल के अनुसार कापिशा शैली के हैं। इससे हमें उसके आधीन यह क्षेत्र होने का पता चलता है। ब्लूचिस्तान से इसकी मुद्राओं का पाया जाना तथा पंजाब, हरियाणा इत्यादि में इसके सिक्कों का पाया जाना इन सभी क्षेत्रों का उसके राज्य में होने का प्रमाण है।

एजिज द्वितिय :-

जैसा कि हम ऊपर बता चुके है कि एजिलिस की मुद्राओं पर सहराजा के रूप में एजिज का नाम उल्लिखित है जिससे पता चलता है कि वह एजिज द्वितिय था जिसके सिक्के एजिज प्रथम से भिन्न तो है ही साथ ही एजिज द्वितिय के सिक्के उसके गर्वनर अश्पवर्मन (Aspavarman) के साथ चलाए मिलते है। इसी अश्पवर्मन का उल्लेख पार्थियन राजा गोण्डोफरनीज(Gondopharnes) के सिक्कों पर भी है। इसका अर्थ यह हुआ कि एजिज द्वितिय के पश्चात् गोण्डोफरनेज का राज्य आया तथा उसने एजिज द्वितिय के गर्वनर बनाए रखा तथा वह अब गोण्डोफरनेज के साथ एक अधीनस्थ गर्वनर के रूप में राज्य करने लगा। अस्पवर्मन के अतिरिक्त एजिज द्वितिय के मणिगुल तथा जिहेणिक इत्यादि भी गवग्नर थे जो पुष्कलावती में शासन करते थे जहाँ पर इनकी मुद्राऐं प्राप्त हुई।

तक्षशिला के शकों का पतन :-

इसी काल में हिन्द पार्थियन राजा गोण्डोफरनीज का उदय प्रारम्भ हो गया था तथा उसने अपना राज्य विस्तार प्रारम्भ कर दिया। इसके प्रमाण हमें तख्ते–ते–बाही (Takht-te-Bahi) अभिलेख से मिलते है। दूसरे पार्थिया के शासक फ्रायोटीज (Pharatos) ने शकों से तक्षशिला जीत लिया। इसके बाद गोण्डोफर्नीज ने तक्षशिला पर अधिकार कर लिया। इस काल मे विभिन्न राजवंशो (शक, पार्थियन) इत्यादि के अलग–अलग क्षेत्र में एक ही समय राज्य करने से इनके तिथिक्रम में काफी भ्रम (Confusion) है। मावेज ने 20 ई०पूर्व से 20 ई० तक राज्य किया। उसके पश्चात् एजिज प्रथम राजा बना जिसका काल मावेज के साथ भी रहा उसने 5 ई०पूर्व से 30 ई०तक राज्य किया। इसी समय दूसरी ओर हिनद पार्थियन राजा गोण्डोफरनीज कर राज्य भी अलग क्षेत्र में शुरु हो गया था। इसके बाद एजिलिसिस ने 28 ई० से 40 ई० तथा एजिज द्वितिय ने 35 ई० से 78 ई० तक राज्य किया।

मथुरा के शक :-

स्टेन कोनो के अनुसार जिस समय विक्रमादित्य ने मालवा में अपना स्वतनत्र शासन शकों को हरा 58 ई०पूर्व में किया। उस समय तक शक वहां राज्य कर रहे थे तथा उन्हे भगा कर मथुरा पहुँचे तथा वहां राज्य स्थापित किया। टार्न भी इसमत से सहमत है। ये दोनो विद्वान अपना मत कालकाचार्य कथानक नाक ग्रन्थ के आधार पर करते हैं जिसका ऐतिहासिक प्रमाण नगण्य है। इस उपलक्ष्य में विक्रमी सम्वत् का प्रारम्भ हुआ परन्तु इस कथन में कितनी सच्चाई है कह नही सकते। परन्तु यह तो निश्चित है कि शकों ने अपने राज्य संचालन के लिए क्षत्रप नियुक्तकिए थे। खत्रप अस्पवर्धन जो कि इन्द्रवमैन का पुत्र था। एजिज द्वितिय तथा महलव (पार्थियन) राजा गोण्डोफरनीज का क्षत्रप था। तक्षशिला में भी पहले क्षत्रप लियाक कुसुलुक राज्य कर रहा था जो मावेज के आधीन था इसी

तरह क्षत्रप पतिक का वर्णन भी हमें मिलता है। मथुरा में भी राज्य प्रबन्धन के लिए खत्रप नियुक्त किए गए थे। जिनमें एक नाम मेरकी हियिक का संदर्भ हमें मथुरा सिंह शीर्ष (Matura lion capital) से मिलता है। कुछ विद्वानों जैसे मार्शल का मत है कि मथुरा में क्षत्रप नियुक्त करना काफी महत्वपूर्ण था ताकि सातवाहनों का ध्यान रखा जा सके जो इस समय तक मालव क्षेत्र पर अधिपत्य कर चुके थे।

हगान तथा हगामस :-

सिक्कों के आधार पर पता चलता है कि मथुरा क्षेत्र के प्रारम्भिक क्षत्रप हगान तथा हगामस थे। इनमें से कौन पहले हुआ इसका अधिक प्रमाण हमें नही है। संभवतः हगान पहले क्षत्रप हुआ। एक विचार यह भी है कि ये दोनो संयुक्त रूप से इस क्षेत्र के क्षत्रप के रूप में शासन कर रहे थे। इनके सिक्के प्रकार तथा बनावट के आधार पर पाँचाल के सिक्कों तथा मथुरा के अन्य राजकुमारों जैसे गोमित्र तथा रामदत्त से मिलते–जुलते है। इन्ही के बाद हगान तथा हगामस ने अपना शासन मथुरा में प्रारम्भ किया।

राजुबुल :-

हगान तथा हगासय के पश्चात् हमें मुद्राशास्त्र के आधार पर मथुरा पर राजुबुल के अधिपत्य का पता चलता है। इसके सिक्क हिन्द युनानी राजाओं स्ट्रटो–I तथा द्वितिय (Strato-I & II) से बिल्कुल मिलते हैं तथा इन पर बैसीलियस, बैसीलियोन, युनानी लिपि में तथा पष्ठ पर क्षत्रप तथा अप्रतिचक्र लिखा है। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रारम्भ में इसने पूर्वी पंजाब में शासन किया तथा बाद में मथुरा का महाक्षत्रप बन बैठा। इसके छोटे ताम्बे के सिक्के तो पूर्वी पंजाब में मिलते है तथा मथुरा के आसपास अन्य प्रकार के सिक्के मिलते हैं जिनमें शुद्ध भारतीय प्रकार के सिक्के है जिन पर महाक्षत्रप रणुबुलास लिखा है। स्टेन कोनो का विचार है कि मथुरा सिंह शीर्ष अभिलेखके प्रथम भाग में युवराज खरोष्ट (Kharaosta) का नाम है जो राजुबुल का श्वसुर था जो मावेज के बाद स्वतन्त्र हो गया तथा राजाराज (King of King) की उपाधि धारण थी परन्तु रामस नामक विद्वान का मत है कि खरोष्ठ राजुबुल का पुत्र था जबकि फ्लीट इसे राजुबुल की पुत्री का पुत्र मानते है। मथुरा अभिलेख में हमें राजुबुल की महाक्षत्रप में पहचान है। टॉमस के अनुसार राजुबुल के राज्य काल में कुछ समय क्षत्रप रहने के बाद उसकी मत्यु राजुबुल के जीवन काल में ही हो गई तथा उसके बाद सोडास क्षत्रप बना।

सोडास :-

राजुबुल के पश्चात मथुरा के क्षेत्र में सोडास महाक्षत्रप बना। मथुरा सिंह शीर्ष अभिलेख में उसे केवल क्षत्रप कहा गया है जबकि आमोहिनी दानपट्टिका में उसे महाक्षत्रप विरूद्ध दिया गया है। इसका अर्थ है कि वर्ष 72 में (संभवतः 15 A.D.)

वह महाक्षत्रप बन गया। इसी क्षेत्र से हमें बहुत से सिक्के ऐसे भी मिलते हैं जिन पर क्षत्रपस प्र खरोष्टस अर्तस पुत्रस लिखा मिलता है। इससे पता चलता है कि खरोष्ट का एक पुत्र भी था जो अपने चाचा के साथ क्षत्रप के रूप में कार्य कर रहा था।

सोडास के सिक्के तथा अभिलेख केवल मथुरा के आसपास से प्राप्त होते है जिससे यह पता चलता है कि वह अपने पिता की तरह पूर्वी पंजाब इत्यादि का स्वामी नही था। सोडास के पश्चात उसका पुत्र तरणदास (Taranadasa) या भरणदास (Bharnadasa) महाक्षत्रप बना जिसके सिक्कें हमें इस क्षेत्र से मिलते है जो कि उस समय मावेज के अधीन आ चुके थे। इसके अतिरिक्त हमें एक अन्य क्षत्रप घटक का नाम भी मिलता है जो गनेसरा (मथुरा) अभिलेख से ज्ञात है। इसके अतिरिक्त हमें दो अन्य क्षत्रपों के सिक्के मथुरा क्षेत्र से मिलते है जिनके नाम है शिवघोष तथा शिवदत्त। जो संभवतः भारतीयकरण हुए शक क्षत्रप ही थे। प्रथम शताब्दी में विम कैडफिमस (रबताक Rabatak (Afghanistan)अभिलेख को माना जाए) या कनिष्क ने मथुरा के इन शकों को हरा कर इस इस क्षेत्र को अपने राज्य में मिला लिया।

अध्याय-5

पहलव (पार्थियन या हिन्द पार्थियन)

प्रारम्भिक पहलव या पार्थियन राज्यवंश तथा राजाओं के बारे में ठीक–2 रुप से नहीं कहा जा सकता। शकों तथा पहलवों का इतिहास इस काल में इतना आसपास में मिलजुल चुका है कि यह कह पाना भी कठिन है कि कौन शक है तथा कौन पहलव। इस कारण कई विद्यवान शक–पहलव संयुक्त रुप से भी प्रयोग करते हैं। शकों के प्रारम्भिक काल के वर्णन के समय हमने देखा कि पश्चिमी में जाते हुए शकों को एक शक्तिशाली पार्थियन साम्राज्य ने रोक दिया जहां पर उनका राजा मिथ्रडेटस प्रथम (Mithradates-I) पूर्वी इरान से बगदाद तक के क्षेत्र पर राज्य कर रहा था। परन्तु अधिक समय तक इसका राज्य नहीं रह सका क्योंकि शकों तथा पार्थियनों के बीच संघर्ष में उनके दो राजा मारे गए। पार्थिया के क्षेत्रों में बाद में कुछ स्वतन्त्र तथा अर्द्धस्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गए जो उनके गवर्नरों द्वारा स्थापित किए गए। ये गवर्नर या तो शक थे या शक–पार्थियन मिली जुली नस्ल के थे।

वोनोनीज (Vonones)

पूर्वी इरान में प्रारम्भिक राजा एक पार्थियन या पहलव था जिसने राजाओं के राजा महान की उपाधि धारण की वह वोनोनीज या पारसी का वानान था वोनोनीज अपने प्रारम्भिक जीवन में द्रगिंयाना (Drangiana) का गवर्नर था जो पूर्वी इरान में है। वोनोनीज नाम तो पार्थियन है परन्तु इसके भाईयों के जो कि इसके पिता की शक पत्नी से थे के नाम शक या सीथियाई है। वोनोनीज ने दक्षिणी अफगानिस्तान में अपने क्षेत्रयों से साथ उस समय राज्य किया जब पंजाब में मावेज राज्य कर रहा था। पार्थियन राजाओं के सिक्कों के अग्रभाग पर युनानी लिपि में महाराजा का नाम होता है तथा पष्ठ भाग पर उसके सहयोगी शासक का नाम जो सामान्यतः उसी के परिवार से सम्बन्धित होता था इसके सिक्के युक्रेटाइडस (Euiratides) वंश के राजाओं के सिक्कों से मिलते हैं। जिन्हे हरा इसने अपना राज्य बढाया होगा। दिनेशचन्द्र सरकार के अनुसार इसने इरानी शासक के आधीन 58 ई. पूर्व अपना राज्य प्रारम्भ किया बाद में स्वतन्त्र हो गया तथा 18 ई. पूर्व तक शासन किया।

मुद्राशास्त्र या सिक्के के आधार पर हमें प्रमाण मिलते हैं कि इसने अपने रिश्तेदारों के साथ शासन चलाया इनके नाम स्पलहोरा (Spalahora), स्पलगदम (Spalagadama) तथा स्पलराइसस (Spalarises) हैं। वोनोनस के सिक्कों पर स्पलहोरा को महाराजभ्राता या महाराज का भाई कहा गया है जबकि स्पलगदम को स्पलहोरा पुत्र कहा गया है। इससे अनुमान लगाया जाता है कि वोनोनस का भाई स्पलहोरा उसका गवर्नर था। ऐसा लगता है कि वह वोनोनस राज्य काल में ही मर गया तथा उसके बाद गवर्नर उसका पुत्र स्पलगदम बना।

स्पलराइसस (Spalarises)

वोनोजीज के पश्चात स्पलराइसस सिंहासन पर बैठा। हमें कुछ मुद्रााएं ऐसी मिलती है जिन पर स्पलराइसस को राजा का भाई कहा गया है तथा खरोष्ठी में लेख महारजसभ्राता धम्रमियस सपलराइसस। एक अन्य प्रकार की मुद्रओं पर उसके सिक्के उसे महाराज बताते हैं तथा खरोष्ठी लेख भी महाराजस महतकस स्पलिसस है। इसका अर्थ यह हुआ कि वह वोनोनीज का दूसरा भाई था जो स्पलहोरा के मरने के बाद अपने भाई के आधीन राज्य कर रहा था तथा उसके पश्चात सम्राट बना। परन्तु कुछ मुद्राएं जो वोनोनस ने चलाई थी को स्पलराइसस ने पुनः अंकित करवाया। सामान्यतः विजित राजा पराजित मुद्राओं को पुनः अंकित करवाता है। इससे कुछ विद्यवाने यह मत दिया है कि उसने वोनोनस से राज्य हथयाया था।

गोडोंफर्नीज

शकों के पश्चात पार्थियनों (Parthians) या पहलवों का सबसे महत्त्वपूर्ण राजा गोडोंफरनीज था जिसे गुदुफराज भी कहा जाता है। पहले पहल वह एक अधीनस्थ राजा था तथा उसने सीस्तान के सम्राट के साथ राज्य किया उसके पश्चात् वह पार्थियन राजा आथेग्रीज के साथ शासन करता रहा इसका प्रमाण कन्धार क्षेत्र से प्राप्त मुद्राओं से है जो पार्थियन प्रकार से ही अग्रभाग पर युनानी भाषा में अंकित है जिन पर आर्थेग्रीज का नाम है तथा पष्ठ भाग पर खरोष्ठी में गुदुफरस गुदन लिखा है। शकों के राजा एजिज द्वितीय के काल में उनके राज्य में कुछ कठिनाइयां अवश्य हुई जिसका पता हमें एजिज द्वितीय की मुद्राओं से लगता है जो बाद के काल में एकाएक कम चान्दी की तथा भौंडी बनावट की हो गई। इसका अर्थ यह है कि किन्ही राजनैतिक कारणों से उनकी आर्थिक स्थिति भी खराब हो गई संभवतः इस समय पहलव या पार्थियन आक्रमण कर रहे थे। इसी अनिश्चितता का लाभ उठा कर शकों

के तक्षशिला पर अधिकार को उन्होने समाप्त कर दिया। जब टाइना का अपोलोन्यूस (Appolonius of Tyana) तक्षशिला में पहुँचा (43-44 ई. पूर्व) तो उस समय वहां पर फ्रओटेस राज्य कर रहा था जो पार्थियन था। हरजफेल्ड (Herzfeld) तथा तार्न (Tarn) नामक विद्यवान मानते हैं कि वह गोण्डोफरनेज ही था क्योंकि उनके अनुसार यह शब्द उसके विरुद्ध का युनानी भाषा में अपभ्रंष रुप मानते हैं परन्तु प्राप्त साक्ष्यों के अनुसार ये दोनों अलग–2 व्यक्ति थे तथा गोंडोफर्नीज ने अपना राजनैतिक जीवन फ्रराओटेस (Phraotes) के अधीनस्थ राजा के रुप में प्रारम्भ किया जिसका प्रमाण मुद्राओं में मिलता है।

गोंडोफरनीज ने एजिज द्वितीय के पश्चात् शासन प्रारम्भ किया क्योंकि एजिज का गवर्नर अस्पवर्मन इसका भी गवर्नर रहा। तख्त–ए–बाही अभिलेख (वर्ष 103) के अनुसार गोंडोफर्नीज 45 ई. में राज्य कर रहा था तथा उसका राज्य काल 19 ई. से प्रारम्भ हुआ। परन्तु हमें एक ही समय में दो पार्थियन राजाओं के प्रमाण मिलते हैं। फ्राओटेस (Phraotes) 44 ई. में राज्य कर रहा था जबकि 45 ई. में गोंडोफरनेज। परन्तु तख्त–ए–बाही (Takht-i-Bahi) अभिलेख से यह स्पष्ट नहीं है कि उसने तक्षशिला को कब जीता संभवतः वह उसके राज्य के कई वर्ष बाद उसके आधीन आया जो फ्राओटेस की मत्यु के बाद होगा।

राज्यविस्तार :- मार्शल का विचार है अपने राज्य की चर्म सीमा में गोंडोफर्नेज का शासन सीस्तान सिन्ध कच्छ, काठियावाड़ दक्षिणी तथा पश्चिमी पंजाब, उत्तरपश्चिमी सीमान्त प्रान्त, दक्षिणी अफगानिस्तान में तो रहा ही साथ ही इस बात के भी प्रमाण हैं कि उसने सीस्तान के पश्चिम का क्षेत्र भी विजित किया।

पेशावर जिले में मिले तख्त–ए–बाही अभिलेख से उसके इस क्षेत्र में अधिपत्य का पता चलता है। पूर्वी इरान पर अधिकार का आधार है उसकी कुछ मुद्राओं का आर्थेगेनीज की मुद्राओं से मिलता जुलता होना पार्थिया के नरेशों के सिक्कों पर गोण्डोफर्नेज के चिन्ह का पाया जाना। जिसके आधार पर रैप्सन इस का अधिकार सीस्तान पर मानते हैं। चीनी यात्री तथा लेखक फान–ये का कथन है कि काबुल प्रदेश पार्थिया के आधीन था। बेग्राम तथा काबुल से इसकी काफी मुद्राओं का पाया जाना इस क्षेत्र में इसके अधिकार को सिद्ध करता है। कुछ विद्यवानों का मत है कि युनानी शासक हरमियस ने कुषाण राजा कुजुल कैडफिसेज (Kujula Kadphises) से पार्थियन राजा गोंडोफरनेज के विरूद्ध सन्धि की थी। स्टेन कोनो तख्त–ए–बाही अभिलेख में लिखे ऐर्झुन कप या कप को कुजुल कैडफिसिस मानते हैं। जिसके आधार पर कुषाण तथा पार्थियनों के सम्बन्ध ठीक ठाक थे। इसके अतिरिक्त पेरिप्लस सान्डनेज नामक राजकुमार का वर्णन करता जिसके काल मे कल्याण एक प्रमुख बाजार था तथा बड़ौच में युनानी जहाज आते थे। इस आधार पर विद्यवान कच्छ तथा सुराष्ट्र के क्षेत्र को इसके आधीन मानते हैं।

शासन प्रबन्ध :- पश्चिमी पंजाब, काबुल सीस्तान, ब्लुचिस्तान पार्थिया के कुछ भाग पश्चिमी भारत के इतने विशाल का प्रशासन करने में उसने अपने गवर्नरों को नियुक्त कर रखा था। अस्पवर्मा जो प्रारम्भ में एजिज द्वितीय का गवर्नर था, को गोंडोफरनेज ने अपने आधीन भी रहने दिया। जो स्वात घाटी का प्रशासन करता था। इसके बाद वहां उसने अपने भतीज सस को नियुक्त किया। तक्षशिला से प्राप्त मुद्राओं पर वहां के शासक सपेडनीज तथा सतवस्त्र का नाम मिलता है। पूर्वी इरान में उसका भतीजा एब्डगासिस (Abdagases) गवर्नर था। चुक्ष प्रदेश के गवर्नर का पता उसकी मुद्राओं से लगता है जिन पर जिहोणिकसेस लिखा है। इसके कुछ गवर्नरों ने महाराज राजाराज की उपाधि भी धारण की थी जैसे सपेडनीज तथा सतवस्त्र ने जो शायद अर्द्धस्वतन्त्र शासक के रुप में (Quasi independent) राज्य कर रहे होगें या किसी प्रकार के अर्धसंघीय (loose fedration) का प्रचलन रहा होगा।

गोंडोफर्नेज तथा सन्त टामस :- एक्टज आफ जुडाज टामस दी अपोसल (Acts of Judas Thomas the Apostle) की सीरियाई प्रति से पता चलता है कि सन्त टामस ईसा की मत्यु के कुछ समय पश्चात भारत आए थे तथा उसने गोंडोफर्नेज की इसाई मतवालम्बी बना दिया इस इसाई जन श्रुति में कितनी सत्यता है कहा नहीं जा सकता।

गोंडोफर्नीज के उत्तराधिकारी :- मुद्राशास्त्र के साक्ष्यों के आधार पर फ्रांसिस विधान लोहुइ जेन द ल्यु Lohui zen de leeuw का मत है कि गोंडोफर्नीज के पश्चात् उसका भतीजा राज्य सिंहासन पर बैठा। परन्तु एब्डागेसस क्या कभी राजा बना इसके प्रमाण कम है। उसके सिक्के गोंडोफर्नीज के संयुक्त रुप से मिलते हैं। शायद वह कभी स्वतन्त्र शासक नहीं रहा। परन्तु फ्रांसिस विद्यवान इसे स्वतन्त्र राजा मानते हैं जो कि गोंडोफर्नेज का भतीजा तथा जिसे जल्दी से पदच्युत कर दिया गया तथा उसने भाग कर पार्थिया के राज्य में शरण ली। जिसके बाद पकोरेस (Pakores) राजा बना जिसके सिक्के सीस्तान प्रकार के हैं। उसका राज्य तक्षशिला पर रहा हो कहा नहीं जा सकता। शायद पकोरेस का राज्य काफी थोड़े समय के लिए था। इसके पश्चात् ससस या गोंडोफर्नेज ससस् राजा बना जिसे गोंडोफर्नीज–द्वितीय भी कहा जाता है। इसके सिक्के भी प्राप्त हुए है जो इसके स्वतन्त्र शासक होने के प्रमाण हैं। परन्तु गोंडोफर्नेज का कोई भी उत्तराधिकारी इतना योग्य नहीं था जो इतने बड़े राज्य को संभाल सके। उसके पश्चात् तो इनका राज्य साइस्तान तथा तक्षशिला के आसपास ही सीमित रह गया क्योंकि महाराज राजराज जैसी उपाधियां धारण करने वाले गवर्नर शायद स्वतन्त्र हो गए इसी बीच कुषाणों ने अपने राजा कुजुल कैडफिसस के नेतत्व में अपना राज्य बढाना शुरू कर दिया। पंज्तर पाषाण अधिलेख (64 ई.) के अनुसार पेशावर में कुषाणों ने अपना अधिकार कर लिया। इस तरह पहलव या पार्थियन राज्य का अन्त हो गया।

अध्याय-6

सातवाहन राजवंश

प्राचीन भारत में मौर्य वंश के अन्तर्गत पहली बार राजनैतिक एवं सांस्कृतिक एकता स्थापित करने का प्रयास किया। बाद में चलकर सातवाहन वंश ने इस प्रयास को आगे बढ़ाया। यद्यपि इतिहासकार सातवाहनों को दक्कन में मौर्यो का उत्तराधिकारी हैं तथापि इस वंश के उदय को अशोक के बौद्ध राज्य के विरूद्ध सामान्य जैन तथा हिन्दु प्रक्रिया के रूप में भी समझा जाना चाहिए। सातवाहन वंश की स्थापना मौर्य वंश के पराभव से लगभग पचास वर्ष पहले हुई। उनका साम्राज्य दक्षिण भारत का सबसे प्राचीन और बड़ा साम्राज्य था। उत्तर भारत निरन्तर बदलते राजवंशीय परिदश्य (जहां मौर्यो के पतन के बाद छोटे–छोटे अन्तराल पर शुंग, कण्व तथा कुषाण वंशो की स्थापना हुई) के विपरित सातवाहनों ने दक्कन में अटूट, अविभाज्य तथा दीर्घकाल तक स्थाई रूप से चलने वाले एक साम्राज्य की स्थापना की जिसने लगभग साढ़े चार सौ वर्षो तक शासन किया।

इस काल के विषय में जितनी जानकारी हमें प्राप्त हुई है उससे हमें सातवाहनों की विलक्षणता तथा विभिन्न क्षेत्रों में उनकी अद्वितिय गतिविधियों का ज्ञान होता है। यदि पुराणों के वक्तव्यों पर विशवास किया जाए तो दक्कन के इस साम्राज्य की सीमाएं उत्तर भारत तक फैली हुई थी। मगध इस साम्राज्य का एक हिस्सा था, दक्षिणी भारत में भी फैलाव था तथा पूर्वी से पश्चिमी समुन्द्र तक इसकी सीमाएं विस्तत थी। उत्तर तथा दक्षिण भारत की मालव, भोज, पठनिक, रथिक, आन्ध्र, पारिन्द तथा द्राविड़ आदि विभिन्न प्रकार की प्रजातियों के समन्वय से इस साम्राज्य का निर्माण हुआ था तथा इस दष्टि से क्षेत्रफल में मौर्य साम्राज्य से कम होते हुए भी सातवाहन साम्राज्य उससे कहीं अधिक सुगठित था। ये सातवाहनों द्वारा मध्य भारत तथा दक्कन में प्रदत्त लम्बे एवं शान्तिपूर्ण शासन काल का ही परिणाम था कि कला एवं स्थापत्य का विकास हुआ जिनके उदाहरण हम पश्चिम भारत की शिलाओं में तराशी हुई गुहाओं तथा पूर्वी भारत के स्तूपों एवं विहारों में पा सकते है। इस काल में संस्कृति का भी अत्याधिक विकास हुआ तथा प्रकृत भाषा का आकर्षण राजदरबारों तक पहुँचा। यद्यपि सातवाहन राज्य एक हिन्दु साम्राज्य था तथपि उनके आधीन बौद्ध धर्म का अद्वितिय विकास हुआ। व्यापार, वाणिज्य एवं जल परिवहन के क्षेत्रों में भी अत्याधिक उन्नति हुई।

स्त्रोत :-

सातवाहनों के विषय में जानकारी देने वाले एवं स्त्रोंतो का नितान्त अभाव है। उनसे सम्बन्धित शिलालेखों की संख्या बहुत कम है और इस प्रस्तुत शिलालेखों में दिए गए सन्दर्भो में भी सातवाहनों के विषय में पूर्ण जानकारी नही मिलती। उनके विषय में हमारे पास पूर्वी दक्कन से प्राप्त उन्नीस शिलालेख ही हैं। जो इस वंश के तीस राजाओं तथा साढ़े चार सौ वर्षो के लम्बे शासन काल के विषय में जानकारी देने के लिए किसी भी दष्टिकोण से प्रयोग नही है। यद्यपि पुरातत्व विभाग ने प्राचीन हैदराबाद राज्य (जो अर्वाचीन तेलंगाना प्रदेश का हिस्सा था तथा आधुनिक आन्ध्र प्रदेश की राजधानी है एवं जिसे सातवाहनों को उद्‌गम क्षेत्र माना जाता है) में पैठान, मास्की तथा पोण्डापुर में खुदाई करवाई परन्तु यहाँ से अधिक साक्ष्य नही मिले। इस विषय में सातवाहन वशं के राजाओं द्वारा प्रचलित सिक्के जो पूर्वी तथा पश्चिमी दक्कन एवं मध्य प्रदेश से मिले हैं, से हमें इस वंश के विषय में महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। थामस, रैपसन, कनिघम, भगवान लाल इन्द्रा जी तथा स्कॉट जैसै विद्वानों नें इन सिक्कों से महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त की है। परन्तु इन सिक्कों के भंगित तथा कुछ सिक्कों के जाली होने के कारण कई विवाद उठ खड़े हुए हैं। इस विषय में साहित्यिक स्त्रोतों ने तो और भी अधिक निराश किया है। मौलिक पुराणों में कालान्तर में जुड़े अंशो के कारण इनमें सातवाहनों के विषय में दी गई सूचनाएं अब विश्वसनीय नही रह गई हैं। साथ ही विभिन्न पुराणों में सातवाहनों के संदर्भ में मर्तक्य न होने के कारण स्थिति ओर भी सन्देहास्पद हो गई है। यद्यपि गुणाढ़य द्वारा रचित **बहद कथा** को सातवाहन राज्य संरक्षण में लिखा हुआ माना जाता है तथापि यह कृति अब मूल रूप में नही मिलती तथा इा पर आधारित उसके बाद के संस्करणों में दी गई सूचनाओं की व्यवस्था विभिन्न विद्वानों अलग–अलग की है। इसी प्रकार **लीलावती** जो कि सातवाहन शासक काल के सैनिक अभियानों एवं विजयों से सम्बन्धित है, पर भी अधिक अधिक विश्वास नही किया जा सकता। इस कारणवश सातवाहन काल के विषय में अभी हमारी जानकारी सीमित है।

सातवाहनों का उदय तथा उनका मूल निवास स्थान :-

सातवाहनों के अभ्युदय तथा उनके मूल निवास स्थान को ले कर विभिन्न विद्वानों में गहरा मतभेद है। शिलालेख तथा सिक्कों में वर्णित सातवाहन और शातकर्णी शासकों को पुराणों में **आन्ध्र, आन्ध्र-मत्य** तथा **आन्ध्र जातीय** नामों से पुकारा गया है। इस आधार पर विद्वान इस निर्णय पर पहुँचे है कि सातवाहन अथवा शातकरणी राजा आन्ध्रों के समतुल्य थे। रैपसन, स्मिथ तथा भण्डारकर के

अनुसार सयातवाहन शासक आन्ध्र देश से सम्बन्धित थे। आन्ध्र लोगों के विषय में पुराण कहते है कि वे लोग प्राचीन तेलगु प्रदेश जो कि गोदावरी तथा कृष्णा नदी के मध्य में स्थित था, के निवासी थे। **एतरेय ब्राह्मण** में उनका उल्लेख ऐसी जाति के रूप में हुआ है जो आर्यो के प्रभाव से मुक्त थी। **इंडिका** में मैगस्थनीज उनकी शक्ति एवं समद्धि का उल्लेख किया ह। अशोक के शिलालेखों में उनका वर्णन ऐसे लोगों के रूप में हुआ है जो कि उसके साम्राज्य के प्रभाव में थे। परन्तु मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद उनका क्या हुआ इसका पता नही चलता। सम्भवतः उन्होनं अपने आपको स्वतन्त्र घषित कर दिया। ऊपर वर्णित इतिहासकार यद्यपि आन्ध्रप्रदेश को सातवाहनों का मूल निवास स्थान मानते है तथापि उनकी शक्ति के केन्द्र को लेकर इन विद्वानों में मतभेद हैं। जहाँ स्मिथ श्री काकुलम् को सातवाहनों अथवा आन्ध्रों की राजधानी मानते हैं। परन्तु सातवाहन के आन्ध्रों के साथ सम्बन्ध को लेकर विद्वानों में मतभेद है। सामवाहन वंश के शिलालेखों में इा काल के शासकों को निरन्तर रूप से सातवाहन अथवा शातकर्णी कहा गया है। साहित्यिक ग्रन्थों में इनके लिए यदाकदा **शाली वाहन** शब्द का भी प्रयोग हुआ है। परन्तु इस संदर्भ में आन्ध्र शब्द का प्रयोग इस वंश के किसी भी शिलालेख में नही है। दूसरी ओर शिलालेखों , सिक्कों तथा साहित्यिक स्रोतों के आधार पर पश्चिमी भारत को इनका मूल निवास स्थान माना गया है। इस तथ्य का प्रमाण नानाघाट (पुना जिला) तथा साची (मध्यप्रदेश) के आरम्भिक शिलालेखों से भी मिलता है। इस आधार पर डा० गोपालचारी ने प्रतिष्ठान (आधुनिक पैठान जो कि प्राचीन हैदराबाद राज्य के औरंगाबाद में स्थित है) तथा उसके आसपास के क्षेत्र के सातवाहनों का मूल निवास स्थान माना है। इसके अतिरिक्त वी०एस० सुकूथानकर ने बेल्लारी जिले को; एच०सी०राय० चौधरी ने अन्य देश के दक्षिणी हिस्से को तथा वी०वी० मिराशी ने वेन गंगा नदी के दोनों किनारों से लगे बरार प्रदेश को सातवाहनों का मूल निवास स्थान माना है। इस आधार पर सातवाहनों तथा आन्ध्रों का समतुल्य एवं सजातिय होना सन्देहास्पद ही है। इस विषय में विद्वानों ने यह सुझाया है कि सातवाहनों ने अपने आरम्भिक जीवन की दक्कन से शुरुआत की तथा कुछ ही समय में आन्ध्र प्रदेश को भी जीत लिया। कालान्तर में जब शक तथा अमीर आक्रमणों के कारण सातवाहन साम्राज्य के पश्चिमी तथा उत्तरी क्षेत्र उनके हाथों से जाते रहे तब कदाचित उनकी शक्ति गोदावरी तथा कृष्णा नदी के मध्य क्षेत्र अर्थात आन्ध्र प्रदेश तक सीमित हो गई तथा अब सातवाहनों को आन्ध्रों के नाम से जाना जाने लगा।

?सातवाहनों की उत्पति के विषय में भी हमें जानकारी नही है। कुछ विद्वानों ने उनकी तुलना अशोक के शिलालेखों में वर्णित **सतीयपुत्रों** से तथा कुछ ने प्लिनी द्वारा वर्णित **सेतई** से की है। कुछ अन्य विद्वानों ने शब्द भाशा विज्ञान के आधार पर **शातकर्णी** तथा **सातवाहन** शब्दों को परिभाषित किया है चाहे इन शब्दों की महत्ता कुछ भी रही हो परन्तु सातवाहन वंश के शिलालेखों के आधार पर यह लगभग निश्चित है कि सातवाहन भी शुंग तथा कण्व शासकों की तरह ब्राह्मण थे। इस बात का प्रमाण नासिक शिलालेख से भी मिल जाता है जिसमें गौतमी पुत्र श्री शातकर्णी को **एक ब्राह्मण** (अद्वितिय ब्राह्मण) तथा **खतिय-दप-मान-मदन** अर्थात क्षत्रियों का मान मर्दन करने वाला आदि उपाधियों से सुशेभित किया है। इसी शिलालेख के लेखक ने गौतमीपुत्र की तुलना परशुराम से की है। साथ ही **दात्रीशतपुतलिका** में भी शालीवाहनों को मिश्रित ब्राह्मण जाति तथा नागजाति से उत्पन्न माना गया है।

सातवाहनों का शासनकाल तथा कालक्रम :-

सातवाहनों के कालक्रम को लेकर विद्वानों में गहरे मतभेद हैं। एत्रेय ब्राह्मण जो कि पाँच सौ ई०पूर्व में लिखा गया था उसमें आन्ध्रों को ऐसे दस्यु बताया गया है जो कि आर्य परिधि से बाहर थे तथा जो विश्वामित्र के वंशज थे। इस आधार पर डा०डी०आर०भण्डारकर ने 500 ई०पूर्व को सातवाहनों की आरम्भिक स्थिति माना है। डा०वी०ए०स्मिथ के अनुसार आन्ध्र पहले अधीनस्थ थे परन्तु उसकी मत्यु के पश्चात् वे सिमुख के नेतत्व में स्वतन्त्र हो गए तथा यह घटना तीसरी शताब्दी ई०पूर्व में हुई। इस विषय में स्मिथ ने पुराणों का ही आधार माना है जिनके अनुसार आन्ध्रों के कुल तीस शासकों ने लगभग 460 वर्षो तक शासन किया। डा०गोपालचारी ने भी इस तथ्य को स्वीकारते हुए यह माना है कि सातवाहन वंश की स्थापना लगभग 235 ई०पूर्व तथा उसका पतन लगभग 255 ईस्वी में हुआ।

कलिंग के शासक खारखेल के राज्यकाल में उत्कीर्ण **हाथी गुम्फा** शिलालेख के आधार पर रैपसन सातवाहन वंश का आरम्भ 220 ई०पूर्व तथा 211 ई०पूर्व के बीच मानते है परन्तु सातवाहनों के याासन काल को लेकर विभिन्न पुराणों में भी मतान्तर है। एक ओर जहा **मत्स्यपुराण** उनका कुल याासन काल 460 वर्ष बताता है वहीं दूसरी ओर **ब्राह्मणपुराण** में यह अवधि 456 वर्ष बताई गई है। **वायुपुराण** के अनुसार सातवाहनों ने 411 वर्षो तक शासन किया जबकि **विष्णुपुराण** उनकी शासन अवधि 300 वर्ष मानता है।

दूसरी आर डा० आर० जी० भण्डारकर सातवाहन वंश की स्थापना 72-73 ई०पूर्व को मानते हैं। पुराणों में वर्णित एक वक्तव्य के आधार पर उन्होंने यह माना है कि, ''शुंग मत्य'' कण्व शासक शुंग शासकों के सेवक थे तथा पेशवाओं की भांति उनके साथ–साथ शासन करते थे तथा सिमुक अथवा शिशुक नामक सातवाहन वंश के संस्थापक ने कण्व राजा सुश्रमन को मारकर कण्व तथा शुंग दोनो वंशो का अन्त कर दिया तथा उनके साम्राज्य को अपने आधीन कर लिया। परन्तु यह तथ्य अविश्वसनीय है क्योकिं हम यह भली–भांति जानते है कि शुंग तथा कण्व वंश के शासकों ने कभी संयुक्त रूप से शासन नही किया तथा कण्व वंश के संस्थापक

वासुदेव कण्व ने अन्तिम शुंग शासक देवभूति की हत्या कर शासन की बागडोर सम्भाली थी। वायुपुराण के उस वक्तव्य जिसके आधार पर डा०भण्डारकर ने गलत व्याख्या की है, को डा०राय चौधरी ने सही ढ़ंग से परिभाषित किया है। उनके अनुसार यह गंद्याश मात्र इतना ही बताता है कि सिमुक ने जब कण्व वंश का अन्त कर सातवाहन वंश की स्थापना की तो उसने उन शुंग उपशासकों भी समाप्त कर दिया जो कि कण्व वंश के हाथों शुंग शासकों के पराजित होने के बाद भी बचे रह गए थे। अतएव सातवाहन शासकों ने 29 ई०पूर्व (72 ई०पूर्व – 45 वर्ष) में कण्व वंश का अन्त कर स्वयं शासन की बागडोर संभाली। परन्तु इस सब कारकों के होते हुए भी इस सम्भावना से इनकार नही किया जा सकता कि सिमुक जिसने 23 वर्षों तक शासन किया वह कुछ समय पहले ही अर्थात पहली शताब्दी ई०पू० के मध्य में ही सिंहासनारूढ़ हो गया होगा।

सातवाहन वंश के शासक :-

सिमुक (235 ई०पू० – 212 ई०पू०)**:-** सिमुक सातवाहन वंश का संस्थापक था तथा उसने 235 ई०पू० से लेकर 212 ई०पू० तक लगभग 23 वर्षों तक शासन किया। यद्यपि उसके विषय में हमें अधिक जानकारी नही मिलती तथापि पुराणों से हमें यह ज्ञात होता है कि कण्व शासकों की शक्ति का नाश कर तथा बचे हुए शुंग मुखियाओं का दमन करके उसने सातवाहन वंश की नींव रखी। पुराणों में उसे सिमेक के अतिरिक्त शिशुक, सिन्धुक तथा शिप्रक आदि नामों से भी पुकारा गया है। जैन अनुश्रुतियों के अनुसार सिमुक ने अपने शासन काल में जैन तथा बौद्ध मन्दिरों का निर्माण करवाया, परन्तु अपने शासन काल के अन्तकाल में वह पथभ्रष्ट तथा क्रुर हो गया जिस कारणवश उसे पदच्युत कर उसकी हत्या कर दी।

कान्हा तथा कृष्ण (212 ई०पू० - 195 ई०पू०) :-

सिमुक की मत्यु के पश्चात उसका छोटा भाई कान्हा (कृष्ण) राजगद्दी पर बैठा। अपने १८ वर्षों के कार्यकाल में कान्हा ने साम्राज्य विसतार की नीति को अपनाया। नासिक के शिलालेख से यह पता चलता है कि कान्हा के समय में सातवाहन साम्राज्य पश्चिम में नासिक तक फैल गया था। **शातकर्णी-I** (प्रथम) कान्हा के उपरान्त शातकर्णी प्रथम गद्दी पर बैठा। पुराणों के अनुसार वह कान्हा पुत्र था। परन्तु डा० गोपालचारी सिमुक को शातकर्णी प्रथम का पिता मानते हैं। कुछ विद्वानों ने यह माना है कि इसका शासन काल मात्र दो वर्ष रहा परन्तु नीलकण्ठ शास्त्री ने उसका शासन काल 194 ई०पू० से लेकर 185 ई०पू० माना है। जो भी हो यह सुस्पष्ट है कि उसका शासन काल बहुत लम्बा नही था। परन्तु छोटा होते हुए भी शातकर्णी प्रथम का कार्यकाल कुछ दष्टिकोणों से बड़ा महत्वपूर्ण है। सातवाहन शासकों में वह पहला था जिसने इस वंश के शासकों में प्रिय एवं प्रचलित, ''शातकर्णी'' शब्द से अपना नामकरण किया। **नानाघाट** शिलालेख के अनुसार शातकर्णी ने अपने साम्राज्य का खुब विस्तार किया तथा अपने कार्य काल में दो अश्वमेघ यज्ञ तथा एक राजसुय यज्ञ किया। उसकी रानी नयनिका के एक शिलालेख से हमें यह ज्ञात होता है कि शातकर्णी प्रथम ने पश्चिमी मालवा के साथ–साथ अनुप (नर्मदा घाटी का क्षेत्र) तथा विदर्भ (बरार) प्रदेशों भी जीत लिया। यदि शातकर्णी प्रथम ही वह शासक है जिसका उल्लेख सांची स्तूप के तोरण में हुआ है तो यह भी इस बात को प्रमाणित करता है कि उसके समय में मध्य भारत सातवाहनों के अधिकार में था। वह अपने छाटे से कार्य काल मे सम्राट बन गया तथा उसने **दक्षिण पथपति** तथा **अप्रतिहत चक्र** आदि उपाधियाँ धारण की। **नानाघाट लेख** तथा **हाथी गुम्फा** लेखों में प्रयुक्त लिपि की समानता के आधार पर ही यह सुझाया गया है कि कदाचित इसी शातकर्णी शासकों के शासन काल के दूसरे वर्ष में कलिंग के महान शासक खारखेल ने युद्ध क्षेत्र में हराया था। शातकर्णी प्रथम की पत्नि नयनिका अथवा नागनिका अंगीय कुल के एक महारथी त्रणकाइरो की पुत्री थी।

वेदश्री तथा सतश्री (अथवा शक्ति श्री) :-

शातकर्णी प्रथम की मत्यु के पश्चात उसके दो अल्पव्यस्क पुत्र वेदश्री तथा सतश्री सिंहासन पर बैठे। परन्तु अल्पव्यस्क होने के कारण प्रशासन की सारी बागडोर उनकी मां नयनिका के हाथों में आ गई जिसने अपने पिता की सहायता से शासन चलाया। ऐसा प्रतीत होता है कि वेदश्री की अल्पायु में ही मत्यु हो गई तथा सतश्री ने उसके उत्तराधिकारी के रूप में शासन संभाला। परन्तु पुराण इस विषय में एकमत है कि शातकर्णी प्रथम के पश्चात् **पूर्णोत्संग** नामक राजा सातवाहन सिंहासन पर आसीन हुआ। चाहे चतुर्थ सातवाहन शासक का नाम कुछ भी रहा हो, यह तो निश्चित है कि इस शासक के शासन काल में ही पुष्यमित्र शुंग ने अंतिम मौर्य शासक ब्रहद्रथ को मार कर मगध राज्य पर अधिकार कर लिया था। **मत्स्यपुराण** में **स्कन्दस्तम्भी** का उल्लेख सातवाहन वंश के पाँचवें शासक के रूप में केया है परन्तु अधिकतर विद्वान इस नाम को कल्पित मानते हैं।

शातकर्णी द्वितिय :-

शातकर्णी द्वितिय ने लगभग 166 ई०पू० से लेकर 111 ई०पू० तक शासन किया। यह कदाचित वही शासक था जिसका वर्णन हीथीगुम्फा तथा भीलसा शिलालेखों में हुआ है। यह प्रतीत होता है कि इसके शासन काल में सातवाहनों ने पूर्वी मालवा को पुष्यमित्र शुंग के एक उत्तराधिकारी से छीन लिया।

पुराणों के अनुसार शातकर्णी द्वितिय के पश्चात् **लम्बोदर** राजसिंहासन पर आसीन हुआ। लम्बोदर के पश्चात् उसका पुत्र **अपीलक** गद्दी पर बैठा। **अपीलक** जो कि आठवाँ सातवाहन शासक था, इन दोनां के मध्य का काल सातवाहनों के संदर्भ में अंधकार युग माना गया है जिसमें केवल **कुन्तल शातकर्णी** के काल को ही अपवाद माना जा सकता है। **कुन्तल शातकर्णी,** अपीलक के पश्चात् सातवाहनों का अगला महत्वपूर्ण शासक था। कामसूत्र में वात्सायन ने कुन्तल शातकर्णी का उल्लेख करते हुए लिखा है कि उसने अपनी उंगलियों को कैंची के रूप में प्रयोग किया तथा इसके प्रहार से उसकी पटरानी मलयवती की मत्यु हो गई। **काव्यमिंमाशा** में राजेश्वर ने कुनतल शातकर्णी का वर्णन करते हुए कहा है कि उसने अपने रनिवास में रहने वाली अपनी रानियों को यह आदेश दिया था कि वे केवल प्राकृत भाषा का प्रयोग करें।

हाल (20 ई०पू० - 24 ई०पू०) :-

हाल सातवाहनों का अगला महत्पूर्ण शासक था। यद्यपि उसने केवल चार वर्ष ही शासन किया तथापि कुछ विषयों उसका शासन काल बहुत महत्वपूर्ण रहा। ऐसा माना जाता है कि यदि आरम्भिक सातवाहन शासकों में शातकर्णी प्रथम योद्धा के रूप में सबसे महान था तो हाल शांतिदूत के रूप में अग्रणी था। हाल साहित्यिक अभिरूचि भी रखता था तथा एक कवि सम्राट के रूप में प्रख्यात हुआ। उसके नाम का उल्लेख पुराण, लीलावती, सप्तशती, अभिधान चिन्तामणि आदि ग्रन्थों में हुआ है। यह माना जाता है कि प्राकृत भाषा में लिखी **गाथा सप्तशती** अथवा **सतसई** (सात सौ श्लोकों से पूर्ण) का रचियता हाल ही था। **बहदकथा** के लेखक गुणाढ्य भी हाल का समकालीन था तथा कदाचित पैशाची भाषा में लिखी इस पुस्तक की रचना उसने हाल ही के संरक्षण में की थी। कालानतर में बुद्धस्वामी की **बहदकथा'यलोक-संग्रह**, क्षेमेन्द्र की **बहदकथा-मंजरी** तथा **सोमदेव** की **कथासरित सागर** नामक तीन ग्रन्थों की उत्पति गुणाढ्य की **बहदकथा** से ही हुई।

हाल के प्रधान सेनापति विजयानन्द ने अपने स्वामी के आदेशानुसार श्रीलंका पर आक्रमण कर उसे जीत लिया। इस विजय अभियान से वापिस लौटते समय वह कुछ समय के लिये सप्त गोदावरी **भीमम्** नामक स्थान पर रूका। वहाँ विजयानन्द ने श्रीलंका के राजा की अति रूपवान पुत्री लीलावती की चर्चा सुनी जिसका वर्णन उसने अपने राजा हाल से किया। हाल ने प्रयास कर लीलावती से विवाह कर लिया। किवदंती है कि हाल ने पूर्वी दक्कन में कुछ सैनिक अभियान किये परन्तु साक्ष्यों के अभाव में अधिकतर विद्वान इसे गलत मानते हैं।

यद्यपि हाल तक के सातवाहन शासकों के शासनकाल में राजनैतिक क्षेत्र के अतिरिक्त साहित्यिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में भी अत्याधिक विकास हुआ तथा व्यपार—वाणिज्य शहरों के विकास एवं जलपरिवहन की उन्नति हुई जो कि प्रथम शताब्दी ई० के दूसरे मुण्डलक अथवा पुरिद्रंसेन के शासन काल में अपने उत्कर्ष की पराकाष्ठा पर पहुँच गई, तथापि आने वाले लगभग पचास वर्ष सातवाहन साम्राज्य के लिए बड़े ही कठिन साबित हुए। ऐसा प्रतीत हुआ मानो के पश्चिम क्षत्रपों के रूप में हुए विदेशी आक्रमण के साथ ही सातवाहन साम्राज्य का पतन होने को है। कुषाण उत्तर—पश्चिम में अपना प्रसार कर रहे थे तथा उनके दबाव में शक तथा पहलाव शासक मध्य तथा पश्चिमी भारत की ओर आकर्षित होकर सातवाहनों से संघर्ष करने को आतुर थे। क्षहरात वंश के पश्चिमी क्षत्रपों ने अपने को पश्चिमा राजपुताना, गुजरात तथा काठियावाड़ में स्थापित कर लिया था। इन शक शासकों ने 35 ई० से लेकर लगभग 90 ई० तक सातवाहन राज्य पर आक्रमण किये। उन्होंने सातवाहनों से पूर्वी तथा पयिचमा मालवा प्रदेशों को जीता; उत्तरी कोंकण (अपरान्त) उत्तरी महाराष्ट्र, जो कि सातवाहन शक्ति का केन्द्र था तथा बनवासी (वैजयन्ती) तक फैले दक्षिणी महाराष्ट्र पर भी अपना प्रभुत्व जमा लिया।

क्षहरात वंश का पहला शासक घूमक था जिसकी जानकारी के स्त्रोत कुछ सिक्कें है जो कि अधिकांशतः गुजरात काठियावाड़ के तटीय प्रदेश तथा यदाकदा मालवा से पाए हैं। घूमक का उत्तराधिकारी नहपान था जिसकी जानकारी हमें उसके बहुसंख्य सिक्कों पर राजा (अथवा राजन्) की उपाधि धारण की है। वहीं शिलालेखों उसकी उपाधि **क्षत्रप** तथा **महाक्षत्रप** मिली। नासिक, कारले तथा जुनार (उत्तरी महाराष्ट्र) के उसके शिलालेख; एसके बहुसंख्य सिक्कें तथा उसके जामाता शक अशवदात के द्वारा उत्तरी तथा दक्षिणी भारत में दिए गए दान सब के सब ये प्रमाणित करते हैं कि नहपान के समय में क्षहरात वंश का साम्राज्य काफी विस्तुत था तथा उसने सातवाहन शासकों से काफी बड़ा प्रदेश छीन कर ही अपने साम्राज्य को इतना विशाल बनाया था। नहपान तथा उसके जामाता शक अशवदत ने मालवा, नर्मदा घाटी, उत्तरी कोंकण, बरार का पश्चिमा भाग एवं और दक्षिणी महाराष्ट्र को जीतकर पश्चिमी दक्कन में सातवाहन शक्ति को ल्ब्र्र उखाड़ फैंका। वे सातवाहन राजा जो नहपान के हाथों पराजित हुए कदाचित सुन्दर शातकर्णी, चकोर शातकर्णी तथा शिवसाती थे जिनका कि कार्यकाल बहुत ही छोटा था (इनमें से पहले दो का शासन काल मात्र डेढ़ वर्ष था) परन्तु यह परिस्थितियां अधिक समय तक नही चली तथा गौतमी पुत्र श्री शातकर्णी के सातवाहन शासक बनते ही इस क्षहरात—सातवाहन संघर्ष में नया मोड़ आया।

गौतमी पुत्र श्री शातकर्णी (70ई०-95 ई०)

लगभग आधी शताब्दी की उठा—पटक तथा शक शासकों के हाथों मान मर्दन के बाद गौतमी पुत्र श्री शातकर्णी के नेतत्व में अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा को पुर्नस्थापित कर लिया। गौतमी पुत्र श्री शातकर्णी सातवाहन वंश का सबसे तहान यासक था जिसने लगभग

25 वर्षों तक शासन करते हुए न केवल अपने साम्राज्य की खोई प्रतिष्ठा को पुर्नस्थापित किया अपितु एक विशाल साम्राज्य की भी स्थापना की। गौतमी पुत्र के समय तथा उसकी विजयों के बारें में हमें उसकी माता गौतमी बालश्री के नासिक शिलालेखों से सम्पूर्ण जानकारी मिलती है। उसके सन्दर्भ में हमें इस लेख से यह जानकारी मिलती है कि उसने क्षत्रियों के अहंकार का मान–मर्दन किया। उसका वर्णन शक, यवन तथा पहलाव शससकों के विनाश कर्ता के रूप में हुआ है। उसकी सबसे बड़ी उपलब्धि क्षहरात वंश के शक शासक नहपान तथा उसके वंशजों की उसके हाथों हुई पराजय थी। जोगलथम्बी (नासिक) समूह से प्राप्त नहपान के चान्दी के सिक्कें जिन्हे कि गौतमी पुत्र शातकर्णी ने दुबारा ढ़लवाया तथा अपने शासन काल के अठारहवें वर्ष में गौतमी पुत्र द्वारा नासिक के निकट पांडु–लेण में गुहादान करना– ये कुछ ऐसे तथ्य है जों यह प्रमाणित करतें है कि उसने शक शासकों द्वारा छीने गए प्रदेशों को पुर्नविजित कर लिया। नहपान के साथ उनका युद्ध उसके शासन काल के 17वें और 18वें वर्ष में हुआ तथा इस युद्ध में जीत कर र्गातमी पुत्र ने अपरान्त, अनूप, सौराष्ट्र, कुकर, अकर तथा अवन्ति को नहपान से छीन लिया। इन क्षेत्रों के अतिरिक्त गौतमी पुत्र का ऋशिक (कृष्णा नदी के तट पर स्थित ऋशिक नगर), अयमक (प्राचीन हैदराबाद राज्य का हिस्सा), मूलक (गोदावरी के निकट एक प्रदेश जिसकी राजधानी प्रतिष्ठान थी) तथा विदर्भ (आधुनिक बरार क्षेत्र) आदि प्रदेशों पर भी अधिपत्य था। उसके प्रत्यक्ष प्रभाव में रहने वाला क्षेत्र उत्तर में मालवा तथा काठियावाड़ से लेकर दक्षिण में कृष्णा नदी तक तथा पूवै में बरार से लेकर पश्चिम में कोंकण तक फैला हुआ था। उसने **त्रि-समुंद्र-तोय-पीत-वाहन** उपाधि धारण की जिससे यह पता चलता है कि उसका प्रभाव पूर्वी, पश्चिमी तथा दक्षिणी सागर अर्थात बंगाल की खाड़ी, अरब सागर एवं हिन्द महासागर तक था।

ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी मत्यु के कुछ समय पहले गौतमी पुत्र शातकर्णी द्वारा नहपान को हराकर जीते गए क्षेत्र उसके हाथ से निकल गए। गौतमी पुत्र से इन प्रदेशों को छीनने वाले संभवतः सीथियन जाति के ही करदामक वंश के शक शासक थे। इसका प्रमाण हमें ऑलमी द्वारा भूगोल का वर्णन करती उसकी पुस्तक से मिलता है। ऐसा ही निष्कर्ष 150 ई० के प्रसिद्ध रूद्रदमन के जूनागढ़ के शिलालेख से भी निकाला जा सकता है। यह शिलालेख दर्शाता है कि नहपान से विजित गौतमीपुत्र शासकर्णी के सभी प्रदेशों को उसस रूद्रदमन ने हथिया लिया। ऐसा प्रतीत होता है कि गौतमीपुत्र शातकर्णी ने करदामक शकों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर रूद्रदमन द्वारा हथियाए गए अपने क्षेत्रों को सुरक्षित करने का प्रयास किया। कन्हेरी से प्राप्त एक शिलालेख से यह पता चलता है कि वशिष्ठीपुत्र शातबर्णी, जो कि संभवतः गौतमीपुत्र

(b) पश्चिमी भारत के शक क्षत्रय

दूसरी शताब्दी ई. पू. में इन्डो–ग्रीक (हिन्द–युनानी) अथवा इन्डो–बैक्ट्रीयन शासकों ने सिन्ध, सौराष्ट्र तथा राजस्थान के कुछ भागों को जीत लिया। इससे अगली शताब्दी में पूर्वी ईरान के सीथियनों ने अपने आप को सिन्ध के निचले भाग में स्थापित करते हुए सौराष्ट्र तथा उसके साथ लगे क्षेत्रों में अपना प्रभाव जमा लिया। सीथियन शासकों ने पश्चिमी भारत के बहुत बड़े भाग पर, बहुत लम्बे समय तक अधिकार जमाए रखा। गुप्त वंश के आरम्भिक शासकों के समय में भी, पश्चिम भारत में सीथियन शासक सशक्त थे और उनकी शक्ति का ह्रास तभी हुआ जब चन्द्रगुप्त द्वितिय ने इन शासको को हरा कर पश्चिमी भारत को गुप्त साम्राज्य में मिला लिया।

I पश्चिम भारत में सीथियन शक्ति का उदय :-

पश्चिमी भारत में सीथियन शासन का उल्लेख सर्व प्रथम **पेरीप्लस** (C.A.D. 70-80) में मिलता है इस पुस्तक में निचली सिन्धु घाटी को सीथिया अर्थात सीथियनों का प्रदेश कहा गया है। यद्यपि हमें यह वर्णन मिलता है कि इस प्रदेश पर पार्थियन शासकों का अधिकार था जिनकी राजधानी मिन–नगर थी तथापि पैरीप्लस एक शक्तिशाली शासक माम्बरस का उल्लेख करती है, जिसकी शक्ति का केन्द्र एक दूसरा मिन नगर था तथा जो सम्भवतः एक सीथियन था। ऐसा प्रतीत होता है कि माम्बरस का वंश मूलतः सीथियन शासकों के शासकों के अधीनस्थ था परन्तु पार्थियन शासक एजेज–II के पश्चात व्यवहारिक तौर पर सिन्धु घाटी के निचले भाग का स्वतन्त्र शासक बन गया। पैरीप्लस के वर्णन से यह पता चलता है कि माम्बरस के साम्राज्य में सौराष्ट्र, गुजरात तथा राजस्थान के कुछ भाग सम्मिलित थे। परन्तु पैरीप्लस में ही आए इस उल्लेख से कि कलीइना नगर (थाठो जिले में स्थित कल्याण) जो कि पहले बड़े सारगैनस (शातकर्णी) के हाथ में था तथा जो बाद में जब इस पतन की व्यापारिक गति विधियों में व्यवधान आया, और जिस समय यह सन्दरीज के अधिकार में था, यह संकेत मिलता है कि प्रथम शताब्दी के मध्य तक आते–2 उत्तरी कोंकण पर सीथियनों का अधिकार हो गया था। यदि इस तथ्य पर विश्वास किया जाए तो यह मानना अनुचित्त न होगा कि सन्दरीज अयपरान्त– जो कि इस समय सात वाहनों से जीता गया था, में मैम्बरस का वायसराय था। कुछ विद्वान यह सुझाव देते हैं कि माम्बरस **नाम्बनस** का बिगड़ा हुआ रूप है तथा यह नाम्बनस भी ग्रीक भाषा में नैहपान का ही बिगड़ा हुआ नाम है। परन्तु हम यह जानते हैं कि एक क्षत्रय के रूप में नैहपान ने लगभग 119 ई. से 125 ई. तक शासन किया तथा इस आधार पर इन विद्वानों का उपरोक्त वर्णित सुझाव गलत ही प्रतीत होता है।

II क्षहरात वंश के क्षत्रय शासक :-

प्रथम शताब्दी के अन्त के आते–2 कुशाण शासक कनिष्क ने अपनी शक्ति का विस्तार मध्य तथा पश्चिमी भारत तक कर लिया। ऐसा प्रतीत होता है कि माम्बरस वंश के शासन को या तो कनिष्क ने समाप्त कर दिया अथवा उसके वंशजों को अपना अधीनस्थ बना लिया। अभी तक यह नहीं पता चल पाया है कि क्षहरात वंश के शासक, जिन्होंने कनिष्क तथा उसके वंशजों के क्षत्रय के रूप में पश्चिमी भारत पर शासन किया था, वे माम्बरस के ही वंश से सम्बन्ध रखते थे अथवा नहीं। क्षहरात वंश के क्षत्रय भी मूल रूप से सीथियन जाति के ही थे। इस वंश के कुछ मुख्य शासकों का वर्णन निम्नलिखित है :–

1. भूमक :- भूमक का उल्लेख कनिष्क के आधीन कुशाण साम्राज्य के दक्षिणी पश्चिमी भाग के सबसे पहले क्षहरात क्षत्रय के रूप में हुआ है। उसके सिक्के गुजरात तथा सौराष्ट्र के तटीय प्रदेशों तथा यदा कदा मालवा एवं राजस्थान में अजमेर क्षेत्र से प्राप्त हुए हैं। भूमक के सिक्कों पर वर्णित लेख ब्राहनीं तथा खरोष्ठी दोनों ही लीपियों में पाए गए हैं जो इस ओर इंगित करते हैं कि उसके समय में क्षत्रय साम्राज्य केवल मालवा, गुजरात तथा सौराष्ट्र तक ही सीमित नहीं था, जहां पर ब्राहनी लीपि प्रचलित थी अपितु पश्चिमी राजस्थान तथा सिन्ध प्रदेशों तक भी फैला हुआ था जहां पर खरोष्ठी लीपि का प्रयोग होता था। पश्चिम भारत के आरम्भिक शकक्षत्रयों ग्रीक (यूनानी) उल्लेख इस ओर इंगित करता है कि हिन्द–सीथिया में अभी तक भी हिन्द–यूनानी मुद्राएं प्रभावी तथा लोकप्रिय थी। **पैरीप्लस** भी इस तथ्य की साक्षी है। कुछ लेखकों का यह मत है कि आरम्भिक क्षत्रय सिक्कों पर खरोष्ठी लेखों का होना यह प्रमाणित करता है कि क्षत्रयों का मूल कहीं उत्तर में ही था। भूमक के शासन के विषय में हमें कोई जानकारी नहीं है। उसने कनिष्क के समय में सिक्के जारी किये अथवा कनिष्क की मत्यु के बाद उस समय में जारी किये जब कुषाणों का अपने सीमावर्ती प्रदेशों पर अधिकार कमजोर हो गया था, इसका निश्चित तौर पर पता नहीं चलता।

2. नहपान :- भूमक की मत्यु के पश्चात् नहपान उसके उत्तराधिकारी के रूप में क्षत्रय बना। यद्यपि नहपान भी भूमक की ही तरह क्षहरात वंश से सम्बन्ध रखता थ तथापि इन दोनों शासकों का आपस में क्या सम्बन्ध था, यह अभी तक पता नहीं चल पाया है। नहपान के शासन काल के विषय में हमें जानकारी केवल उसके सिक्कों ही से नहीं मिलती है अपितु उसके शिलालेखों से भी मिलती है जो कि एक विशेष सम्वत् के 41वें तथा 46वों वर्षों के बीच उत्तकीर्ण करवाए गए थे। यह विशेष संवत और कोई नहीं बल्कि कनिष्क द्वारा 78 ई. में चलाया गया शक संवत ही था तथा इस आधार पर यह अनुमान लगाना कठिन नहीं है कि नहपान ने सम्भवतः 119 ई. से लेकर 125 ई. तक शासन किया। जोगल थम्बी से प्राप्त सिक्कों से भी यह तिथि प्रमाणित होती है क्योंकि यहां से पाए गए सिक्कों से यह पता चलता है कि गौतमी पुत्र शातकर्णी ने जिन शक सिक्कों को पुनर्मुद्रित किया था वे नहपान के अतिरिक्त और किसी क्षहरात वंश के शासक के नहीं हो सकते। इस प्रकार यहा कहा जा सकता है कि नहपान तथा गौतमी पुत्र एक दूसरे के समकालीन थे तथा गौतमी पुत्र ने नहपान को हराया था। टोलमी की पुस्तक **ज्योग्रफी** में भी यह उल्लेख मिलता है कि 140 ई. के लगभग गौतमी पुत्र शातकर्णी का पुत्र पुलुमावी, सातवाहनों की राजधानी प्रतिष्ठान से शासन चला रहा था। इस वर्णन से भी यही प्रमाणित होता है कि गौतमी पुत्र तथा नहपान दूसरी शताब्दी ई. के पहले 25 वर्षों में ही शासन करते थे। जहां पहले लेख में नहपान को केवल एक क्षत्रप कहा गया है, वहीं शक संवत के 46वें वर्ष में उत्कीर्ण नहपान के बाद के शिला लेख में उसने महाक्षत्रप की उपाधि धारण की है। इसके अतिरिक्त इन शिला लखों में **राजन्** नामक एक अन्य उपाधि भी धारण की है जिससे यह पता चलता है कि राजनैतिक रूप से नहपान अपने पूर्वज भूमक से कहीं अधिक शक्तिशाली था। सिक्कों पर नहपान की केवल एक उपाधि **राजन्** ही मिलती है तथा उनमें से किसी पर भी क्षत्रप अथवा महाक्षत्रप आदि उपाधियों का उल्लेख नहीं मिलता। यहां यह बताना भी उचित होगा कि नहपान से सम्बन्धित किसी भी लेख में उसके किसी भी स्वामी का कोई उल्लेख नहीं है जो इस ओर इंगित करता है कि ऊपरी तौर पर कुशाणों के आधीन होते हुए भी व्यवहारिक तौर पर नहपान ने स्वतन्त्र शासक के रूप में शासन किया। क्षहरात वंश के शासकों के पश्चात उनके उत्तराधिकारी के रूप में गद्दी पर बैठे कारदमक क्षत्रप शासकों ने भी **राजन** (यदा कदा **महाराज** भी) की उपाधि धारण की।

नहपान ने चान्दी तथा ताम्बा धातु दोनों के ही सिक्के चलाए। उसके द्वारा चलाए गए चान्दी के सिक्के आकार, भार तथा रूप में यवन शासकों के हमी–द्रक्म की नकल थे तथा इस सन्दर्भ में नहपान द्वारा चलाए गए सिक्कों ने ऐसे मानक स्थापित किए जिनका अनुगमन आने वाले समय में लगभग 300 वर्षों तक केवल पश्चिमी शक क्षत्रप शासकों ने ही नहीं किया अपितु उनके पश्चात गुप्त तथा त्रैकूटक शासकों ने भी किया। इन सिक्कों की मुख्य विशेषता यह थी कि इनके मुख्य भाग की ओर रोमन शैली के सिक्कों की तरह ही राजा का सिर अंकित होता था, जिसके नीचे ग्रीको–रोमन लीपि में वर्णन मिलता था।

नहपान के सिक्के उत्तर में राजस्थान के अजमेर क्षेत्र में तथा दक्षिण में नासिक क्षेत्र में पाए गए हैं। उसका साम्राज्य बहुत विशाल था तथा शिला लेखों के अनसार वह अजमेर से लेकर उत्तरी मराठा देश तक फैला हुआ था। नहपान के एक अमात्य आर्यमन का

एक शिला लेख पूना जिले में स्थित जुनार से प्राप्त हुआ है है दिनिक का पुत्र ऋषभदत्त (उषवदात्त) जिसका विवाह नहपान की पुत्री दक्षमित्रा से हुआ था तथा जो अपने श्वसुर के साम्राज्य के दक्षिणी प्रान्तों का अधिस्वामी था, के भी दान सम्बन्धी अनेक शिला लेख नासिक तथा पूना जिले में स्थित कार्ले से प्राप्त हुए हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि गोवर्धन (नासिक) तथा मामाल (पूना) नामग आहार (जिला) ऋषभदत्त के आधीन थे तथा उसका अधिकार क्षेत्र सम्भवतः दक्षिणी गुजराज से आरम्भ हो कर उत्तरी कोंकण में भड़ौच से सौपारा तक विस्तरित था। ऋषभ दत्त के दान विषयक लेखों में वर्णित स्थानों जैसे कापूर आहार (प्राचीन बड़ौदा राज), प्रभास (दक्षिणी सौराष्ट्र में स्थित), भग, कच्छ (भड़ौच), दशपुर (पश्चिमी मालवा में मन्दसौर), शूरपार्क (थाना जिले में स्थित सौपारा), पुष्कर (अजमुर के निकट), पारादा (सूरत जिला), दमाना (दमन के निकट दमन गंगा), दाहनुका (थाना जिले में स्थित दहानु के निकट) तथा इसके साथ ही साथ तापी तथा बनास नदियों के वर्णन से तो यही प्रतीत होता है कि उसका शासन बहुत बड़े क्षेत्र पर फैला हुआ था। यद्यपि कुछ विद्वानों का यह मत है कि यह क्षेत्र ऋषभदत्त के आधीनस्थ नहीं थे तथा इन पवित्र स्थानों की यात्रा उसने केवल धार्मिक कारणों से की थी तथापि इस बात की सम्भावना कहीं अधिक है कि मालवा, सौराष्ट्र, गुजरात, उत्तरी कोंकण तथा मराठा क्षेत्र तथा राजस्थान का एक बहुत बड़ा भाग जिसमें कि निचली सिन्धु घाटी का भाग भी सम्मलित था, यह प्रदेश ऋषभ दत्त के श्वसुर नहपान के साम्राज्य के ही हिस्से थे। राजस्थान में अजमेर के अतिरिक्त नासिक तथा पूना के क्षेत्रों पर भी नहपान का अधिकार था। बाद के दोनों क्षेत्रों को नहपान अथवा उसके किसी पूर्वज पश्चिमी क्षत्रप शासक ने साताहनों से छीना था। शक संवत के वर्ष 46 (124-125 ई., जो कि नहपान के शासन काल की अन्तिक ज्ञात तिथि है) में अथवा उसके तुरन्त पश्चात शक क्षत्रप नहपान को सातवाहन शासक गौतमी पुत्र शातकर्णी ने युद्ध में हरा कर मार डाला तथा क्षहरात साम्राज्य के दक्षिणी प्रान्तों पर अधिकार कर लिया। गौतमी पुत्र का उल्लेख केवल क्षहरात वंश के दमन कर्ता के रूप में ही नहीं हुआ है बल्कि यह भी वर्णन मिलता कि उसने शकों के अतिरिक्त यवनों तथा पहलावों की शक्ति को उखाड़ फैंका तथा वह सौराष्ट्र, कुकुर (गुजरात–सौराष्ट्र क्षेत्र), अनूप (नर्मदा के समीप महेश्वर प्रदेश), अपरान्त (उत्तरी कोंकण), आकर (पूर्वी मालवा) तथा अवन्ती (पश्चिमी मालवा) आदि प्रदेशों का सर्वेसर्वा बन गया। नासिक तथा पूना जिले से प्राप्त गौतमी पुत्र शातकर्णी के शिला लेखों से यह पता चलता है कि किस प्रकार उसने इस प्रदेश से नहपान के जामाता ऋषभदत्त की शक्ति को उखड़ फैंका। नासिक जिले के जोगलथम्बी से प्राप्त नहपान के सिक्कों के विशासल भंडार से यह पता चलता है कि किसी प्रकार गौतमी पुत्र शातकर्णी ने क्षत्रप शासक के राजकोष पर अधिकार जमा कर नहपान के सिक्कों को पुनर्आंकित करवा उन्हे दोबारा प्रचलित किया। परन्तु अपने साम्राज्य के दक्षिधी प्रान्तों को सातवाहनों के हाथों हार जाने के पश्चात् भी शकों ने क्षहरात साम्राज्य के उत्तरी प्रान्तों को अपने अधिकार में बनाए रखा। ऐसा प्रतीत होता है कि नहपान की मत्यु के साथ ही क्षहरात वंश का अंत हो गया। कुषाण साम्राज्य के दक्षिण–पश्चिमी प्रान्तों के क्षत्रयों के रूप में अब कारदमक वंश के शक अथवा सीथियन शासकों ने अब क्षहरात वंश के शासकों का स्थान लिया।

III कारदमक वंश के क्षत्रप शासक :-

1. चष्टन :- पश्चिमी भारत में सीथियन अथवा शक जाति के नए राजवंश की स्थापना का श्रेय यशामोतिका (अथवा घसामोतिका) के पुत्र चष्टन, जो कि कारदमक वंश से सम्बन्ध रखता था, को जाता है। कुछ विद्वानों का मत है जिनमें हेमचन्द्र रायचौधुरी एक है, कि कारदमक वंश का नामकरण बैक्ट्रिया प्रदेश में स्थित करदम नदी के नाम पर हुआ है क्षहरात वंश के शासक नहपान की तरह ही चष्टन के भी आरम्भिक सिक्कों पर उसका उल्लेख क्षत्रप तथा बाद के सिक्कों पर महाक्षत्रप के रूप में हुआ है। साथ ही उसने **राजन्** की भी धारण की। कारदमन वंश के शासकों के आरम्भिक निवास स्थान की हमें कोई जानकारी नहीं मिलती; परन्तु ऐसा माना जाता है कि चष्टन अपने आरम्भिक काल में कुषाण शासकों के सामंत के रूप में सिंध प्रदेश पर शासन किया। नहपान की मत्यु के पश्चात् कुषाणों ने इस ध्येय से चष्टन को अपने दक्षिण–पश्चिमी प्रान्तों का अधिस्वामी बनाया कि वह सातवाहनों के हाथों हुई क्षहरात शासकों की हार का बदला लेते हुए छीने गए प्रदेशों को पुनर्विजित कर सके।

सीथियन तथा कुषाण साम्राज्यों के कुछ प्रान्तों में यह प्रथा प्रचलित थी कि इनका वायसराय (अधिस्वामी) महाक्षत्रप की उपाधि धारण कर अपने एक विश्वास पात्र अधीनस्थ जिसे क्षत्रप कहा जाता था, के साथ मिलकर प्रशासन चलाता था। अतः जब चष्टन भी बड़ी आयु में महाक्षत्रप बना, तब ऐसा प्रतीत होता है कि उसने अपने पुत्र जयदामन को अपना क्षत्रप चुना। परन्तु जयदामन शीघ्र ही मत्यु को प्राप्त हुआ तथा उसके मरणोंपरान्त नए क्षत्रप के रूप में उसके पुत्र रूद्रदामन को चुना गया।

कच्छ क्षेत्र में अन्धाऊ नामक स्थान से प्राप्त शिलालेखों से यह पता चलता है कि शक सम्वत् वर्ष 52 (130-31 ई.) में **राजा** चष्टन अपने पौत्र **राजा** रूद्रदामन के साथ मिलकर शासन कर रहा था। ऐसा लगता है कि इस समय चष्टन महाक्षत्रप तथा रूद्रदामन क्षत्रप के रूप में कार्य कर रहे थे।

अतएव हमें यह तो पता चल ही गया है कि कारदमक शासक नहपान की मत्यु के पश्चात् गौतमी पुत्र शाातकर्णी द्वारा स्थापित विस्तत साम्राज्य के सीमावर्ती प्रदेशों में तो कम से कम अपने को स्थायी कर ही चुके थे।

ऐसे प्रमाण मिले हैं जो यह दर्शाते हैं कि चष्टन तथा रूद्रदामन के आधीन शकों ने सातवाहन शासक को हरा उसके उन उत्तरी प्रान्तों को उससे छीन लिया जो मूल रुप से पूर्व में नहपान के साम्राज्य का हिस्सा थे। टोलमी की पुस्तक **ज्योग्राफी**, जो कि लगभग 140 ई. में लिखी गई थी तथा जिसमें इस तिथि से कुछ पहले की घटनाओं का मूल्यांकन किया गया है, में भी ओजीन अर्थात् उज्जैयनी जो कि अवन्ती अथवा पश्चिमी मालवा की राजधानी थी, का वर्णन तीअस्तनीज (जो कि निसन्देह चष्टन का बिगड़ा हुआ यूनानी नाम था) के मुख्यालय के रुप में हुआ है। रूद्रदामन के जूनागढ़ शिला लेख में भी इस शासक को आकर, अवन्ति, अनूप, अपरान्त, सौराष्ट्र तथा आनर्थ आदि अनेक देशों का स्वामी बताया गया है, जिन्हें शक शासकों ने गौतमी पुत्र से उस समय छीन लिया था जब सम्भवतः रूद्रदामन अपने दादा चष्टन के साथ एक क्षत्रक के रुप में शासन करता था। आगे रूद्रदामन यह भी दावा करता है कि उसने दक्षिण पथ के स्वामी शातकर्णी को दो बार हराया परन्तु उसका विनाश नहीं किया क्योंकि वह रूद्रदामन का निकट का सम्बन्धी था। ऐसा प्रतीत होता है कि यह शातकर्णी सम्भवतः गौतमी पुत्र अथवा एक दम बाद का उसका कोई उत्तराधिकारी रहा होगा। रूद्रदामन तथा गौतमी पुत्र के घनिष्ठ सम्बन्धों का हमें कान्हरी शिला लेख से भी मिलता है जो इस ओर इंगित करती है कि महाक्षत्रक रूद्र (निसन्देह रूद्रदामन) की पुत्री का विवाह वशिष्ठि पुत्र शातकर्णी से हुआ था जो कि वशिष्ठि पुत्र पुलुमावी का सहोदर भ्राता तथा गौतमी पुत्र शातकर्णी का पुत्र था।

चष्टन के आरम्भिक सिक्कों पर, 'चान्द तथा तारा' अंकित था। बाद में इस चिन्ह के अतिरिक्त पर्वत शिखर (कुछ लेखकों के अनुसार चैत्य) का भी चिन्ह चान्द तारे के चिन्ह के साथ जोड़ दिया। क्योंकि पर्वत शिखर का चिन्ह गौतमी पुत्र शातकर्णी तथा यज्ञश्री शातकर्णी के उत्तरी सिक्कों के साथ घनिष्टता से जुड़ा है इसलिए यह सुझाव दिया गया है कि यह प्रमाणित करता है कि सातवाहनों के स्थान पर चष्टन ने अपनी शक्ति का विस्तार कर लिया था। यद्यपि चष्टन के शासन काल के पश्चात शक सिक्कों पर ग्रीको–रोमन चिन्ह तो ज्यों के त्यों बने रहे परन्तु उन पर अब खरोष्ठी लीपि का प्रयोग समाप्त हो गया। संभवतः कारदमक मुख्यालय के खरोष्ठह लीपि प्रयोग करने वाले उत्तर–पश्चिमी क्षेत्र से उज्जैन स्थानांतरित हो जाने के परिणामस्वरुप ही चष्टन के पश्चात् इस वंश के शासकों के सिक्कों पर खरोष्ठी का प्रयोग बन्द हो गया।

2. रूद्रदामन :- १३०.३१ ई. के कुछ पश्चात् चष्टन के स्थान पर उसका पौत्र रूद्रदामन प्रथम महाक्षत्रप बन सिंहासनारूढ़ हुआ। उसके सभी प्राप्त सिक्के उसकके महाक्षत्रप बनने के बाद के काल के हैं। रूद्रदामन के शासनकाल के बारे में जानकारी प्राप्त करने का एक मुख्य स्रोत उसके द्वारा उत्कीर्ण जूनागढ़ शिलालेख है, जिसकी तिथि शक सम्वत् 72 अर्थात 150-51 ई. मानी जाती है। इस प्रशस्ति का मुख्य विषय सुदर्शन झील पर बने बाँध का पुनर्निमाण है, जिसका निर्माण उर्जयत (आधुनिक गिरनार) पहाड़ियों में से निकले सुवर्णसिक्ता तथा पलाषिनी जैसे झरनों के पानी को संरक्षित करने के उद्देश्य से हुआ था। यह झील गिरीनगर (आधुनिक जूनागढ़), जो कि सौराष्ट्र की प्राचीन राजधानी थी, से बहुत दूरी पर थी। चन्द्रगुप्त मौर्य के सौराष्ट्र प्रान्त के वायसराय पुष्यगुप्त ने जन संरक्षण के लिए इस विशाल बान्ध की स्थापना की थी। मौर्य शासक अशोक के समय में सौराष्ट्र के उसके गवर्नर यवन राज तुशाष्प ने इस झील से सिंचाई हेतु कई नहरें निकाली। इस झील से सौराष्ट्र के कृषकों को अनेक शताब्दियों तक लाभ होता रहा परन्तु 150-51 ई. से कुछ समय पूर्व एक भीषण चक्रवात के कारण इस बान्ध में बड़ी दरारें आ गई। जिस कारण वश सुदर्शन झील का महत्वहीन हो गई। तब किसानों की दुविधा को दूर करने के लिए इस झील पर बने बान्ध की मरम्मत हेतु रूद्रदामन ने अपने सलाहकारों तथा प्रशासनिक अधिकारियों को भेजा। परन्तु ये सभी अधिकारी इस कार्य को करने में असफल रहे। अन्ततः रूद्रदामन ने पहलाव वंश के पुलैप के पुत्र सुविष्प को आनर्त तथा सौराष्ट्र का गवर्नर नियुक्त किया। इस पार्थियन अधिकारी के अथक प्रयासों के परिणाम स्वरुप ही इस झील तथा बान्ध का जीर्णोद्धार सम्भव हुआ।

यह पहले ही वर्णित किया जा चुका है कि किस प्रकार रूद्रदामन ने दक्षिणपथ के स्वामी शातकर्णी को हरा कर मालवा, सौराष्ट्र, गुजराज, उत्तरी कोंकण तथा नर्मदा नदी के निकट के क्षेत्र माहिष्मती पर अधिकार कर लिया। इसके अतिरिक्त इस महाक्षत्रप के साम्राज्य में कच्छ, शवभ्र (साबरमती घाटी), मरू (मारवाड़ प्रदेश), सिन्धु (निचली सिन्धु घाटी का पश्चिमी भाग), सौवीर (निचली सिन्धु घाटी का पूर्वी भाग) तथा निषाद (पश्चिमी विन्धय तथा अरावली क्षेत्र) आदि प्रदेश भी सम्मिलित थे। अतएव, ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्व में स्थापित क्षहरात वंश के साम्राज्य के नासिक तथा पूना प्रदेशों को छोड़ लगभग सभी प्रदेशों पर रूद्रदामन ने पुनः अधिकार जमा लिया।

ऐसा माना जाता है कि रूद्रदामन प्रथम ने दक्षिणी पंजाब तथा उसके आसपास के क्षेत्रों पर अधिकार किए हुए यौधेय गणतन्त्र को ध्वस्त कर दिया। संभवतः उसने यौधयों का यह मानमर्दन अपने कुषाण अधिपति की ओर से किया हो, परन्तु कुषाण दस्तावेजों में ऐसे किसी संदर्भ के आभाव में कि रूद्रदामन कुषाणों के आधीनस्थ था, हमें यह मानने पर बाध्य होना पड़ता है कि इस समय वह व्यावहारिक रुप से एक स्वतंत्र शासक के रुप में शासन कर रहा था। साथ ही, रूद्रदामन के लेखों में उसके द्वारा महाक्षत्रप की उपाधि धारण करना भी इसी ओर इंगित करता है। फिर भी उसके दावे को हम वर्तमान में प्रमाणित नहीं कर सकते।

रूद्रदामन केवल एक महान विजेता तथा प्रशासक ही नहीं था अपितु वह पारम्परिक एवं प्राचीन संस्कृत का भी पोषक था। वह स्वयं

व्याकरण, राजनीति, संगीत एवं तर्क में तो निपुण था ही, साथ ही साथ अनेक संस्कृत गद्य तथा पद्यों की रचना करने के कारण भी वह प्रसिद्ध था। कारदमक शासकों के अंतर्गत उज्जैयनी भारत में शिक्षा का एक प्रमुख केंद्र बन गया। जूनागढ़ शिलालेख के अनुसार रूद्रदामन ने अनेक **स्वयंवरों** में भाग लिया तथा कई राजकुमारियों से विवाह किया। रूद्रदामन के समय कारदमक शासक द्वारा विभिन्न राज्यों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करना, इस ओर इंगित करता है कि शनः शनः सीथियन जाति का विलय भारतीय समाज में हो रहा था। साथ ही हमें कारदमक राजकुमारियों के दक्षिणपथ के सातवाहनों, आंध्रपथ के इक्ष्वाकुओं तथा वैशाली के लिच्छवी राजपरिवारों से विवाह के भी अनेक उदाहरण मिलते हैं जो कि ऊपर वर्णित तथ्य को ही प्रमाणित करते हैं।

3. रूद्रदामन के उत्तराधिकारी :- दामयसाद (कुछ लेखकों के अनुसार दामघसाद) अथवा दामजादश्री प्रथम, जो कि रूद्रदामन प्रथम का पुत्र था, ने भी अपने पिता के शासन काल में क्षत्रप के रुप में अपने सिक्के चलाए। इस से यह प्रमाणित होता है कि इन दोनों शासकों के समय तक 'संयुक्त प्रशासन' की वह प्रथा, जिसमें राजा महाक्षत्रप कहलाता था तथा जो अपने पुत्र अथवा भाई – जो कि उससे प्रतिष्ठा में निम्न होते थे तथा क्षत्रप कहलाते थे, के साथ संयुक्त रुप से शासन करता था, वह कारदमक वंश में प्रचलित होकर स्थायी हो चुकी थी। 150-51 ई. के कुछ समय पश्चात् दामयसाद पने पिता के उत्तराधिकारी के रूप में महाक्षत्रप बन शासन करने लगा।

दामयसाद अथवा दामयजाद के नाम का उल्लेख उसके भाई तथा उसके भतीजे के काल की आधिकारिक कारदमक वंशावली में नहीं मिलता। हालांकि यह बिलकुल अप्राकृतिक नहीं है कि एक वंश की मुख्य शाखा के शासक का उल्लेख उसी वंश के सहायक शाखा के शासकों के शिलालेखों में न मिले क्योंकि ऐसी सहायक वंशावलियों में पिता के पश्चात् साधारणतया उसके उत्तराधिकारी पुत्र का ही उल्लेख मिलता था, फिर भी रैप्सन ने इस आधार पर यह सुझाया है कि संभवतः दमयजाद की मत्यु के पश्चात् उसके भाई रूद्रसिंह तथा पुत्र जीवदामन में उत्तराधिकारी के लिये युद्ध हुआ।

क्षत्रप के रुप में जीवदामन के किसी भी सिक्के की हमें कोई जानकारी नहीं मिलती तथा इस आधार पर यह अनुमान लगाया गया है कि उसने अपने पिता के शासन काल में कोई भी प्रशासनिक उत्तरदायित्व नहीं निभाया। अपने पिता की मत्यु के पश्चात् जीवदामन महाक्षत्रप के पद पर आसीन हुआ परन्तु शीघ्र ही उसके चाचा रूद्रसिंह प्रथम ने उसे सत्तच्युत कर दिया। महाक्षत्रप के रुप में जीवदामन ने लगभग शक सम्वत् 100 (अर्थात 178-79 ई.) में सिक्के जारी किये। जीवदामन तथा रूद्रसिंह के शासन काल से ही कारदमक वंश के सिक्कों के पष्ठ भाग पर ब्राह्मी लिपि का प्रयोग आरम्भ हो गया। विशेषकर चांदी के सिक्कों पर तिथि का वर्णन ब्राह्मी अंकों में हुआ है।

रूद्रसिंह ने क्षत्रप के रुप में अपने सिक्के शक सम्वत् 102 (180-81 ई.) में जारी किये तथा गुण्ड अभिलेख के अनुसार अगले वर्ष के आरम्भ तक उसने अपने भतीजे जीवदामन के आधीन क्षत्रप के रुप में कार्य किया। शक वर्ष 103 (ई. 181-82) के उत्तरार्ध में रूद्रसिंह प्रथम ने जीवदामन को हरा कर महाक्षत्रप की उपाधि धारण की तथा इस क्षमता में शक वर्ष 103-110 (181-89 ई.) तथा शक वर्ष 113-118 (191-97 ई.) में सिक्के जारी किये। यह बड़ा आश्चार्यजनक है कि इस बीच के काल अर्थात शक वर्ष 110-112 (188-91) तक रूद्रसिंह प्रथम ने जो सिक्के जारी किये उन पर केवल क्षत्रप की उपाधि ही अंकित है।

इस आधार पर रैप्सन ने यह मत प्रस्तुत किया है कि कदाचित रूद्रसिंह प्रथम की शिक्ति का इस बीच के काल में अस्थाई रुप से ह्रास हो गया था तथा इस ह्रास का मुख्य कारण जीवदामन की शक्ति का पुनर्उत्थान था जिसके चलते जीवदामन ने 188-91 ई. के बीच पुनः महाक्षत्रप के रुप में शासन किया। परन्तु यद्यपि जीवदामन के कुछ बाद के वर्षों (शक वर्ष 119-20 अर्थात् 197-98 ई.) के सिक्के प्राप्त हुए हैं जिन पर की उसकी मुखाकृति प्रौढ़ता दर्शाती है तथापि 188-191 ई. के बीच उसके किसी सिक्के का हमें पता नहीं चलता। अतः भण्डारकर का यह कथन उचित लगता है कि विवादित काल (188-191 ई.) में रूद्रसिंह प्रथम की शक्ति के अस्थायी पतन का कारण जीवदामन न होकर ईश्वरदत्त का उदय था जिसके महाक्षत्रप की उपाधि दर्शाते उसके शासनकाल के प्रथम तथा द्वितीय वर्षों के सिक्के सौराष्ट्र से प्राप्त हुए हैं। हालांकि कुछ लेखकों ने ईश्वरदत्त को अमीर जाति से संबंद्ध बताया है परन्तु फिर उसके विषय में हमें कोई निश्चित जानकारी नहीं मिलती।

ऐसा माना जाता है कि दूसरी शताब्दी ई. अंत में सातवाहन शासक यज्ञश्री शातकर्णी ने कारदमक से उनके साम्राज्य के दक्षिणी प्रान्त छीन लिये। यह संभव है कि ईश्वरदत्त के रूद्रसिंह के विरूद्ध अनुमानित सफलता का कारण भी उसे इस सातवाहन शासक का सहयोग प्राप्त होना ही था। जो भी हो, ऐसा प्रतीत होता है कि जीवदामन तथा रूद्रसिंह के आपसी संघर्ष से उत्पन्न स्थिति का यज्ञश्री शातकर्णी तथा ईश्वरदत्त दोनों ही ने लाभ उठाया।

रूद्रसिहं प्रथम के काल के अभिलेख तथा सिक्के सौराष्ट्र, मालवा तथा राजस्थान से प्राप्त हुए हैं। गुण्ड अभिलेख (उत्तरी सौराष्ट्र) से हमें आमीर सेनापति बापक के पुत्र सेनापति रूद्रमूति के द्वारा कराये गए पवित्र कार्यों का वर्णन मिलता है।

रूद्रसिंह प्रथम के पश्चात् जीवदामन पुनः महाक्षत्रप बना तथा उसने 197-99 ई. तक शासन किया। उसके भाई सत्यदामन (दामजश्री

का एक अन्य पुत्र) ने क्षत्रप के रुप में कई सिक्के जारी किए परन्तु इन सिक्कों के जारी होने की तिथि निश्चित नहीं है तथा हम यह नहीं जानते कि सत्यदामन ने अपने चाचा महाक्षत्रप रूद्रसिंह प्रथम अन्तर्गत शासन किया अथवा अपने भाई जीवदामन के। हम तो केवल निश्चित तौर पर यही कह सकते हैं कि जीवदामन ने युवा अवस्था में राजगद्दी सम्भाली परन्तु कालान्तर में वह इसे हार गया और फिर पुनः वद्धावस्था में वह महाक्षत्रप बना।

कारदमक वंश का अगला शासक रूद्रसिहं–I का पुत्र रूद्रसेन (प्रथम) बना। रूद्रसेन ने क्षत्रप के रुप में वर्ष 121 (199-200 ई०) में अपने सिक्के जारी किए। परन्तु मुलवासर (द्वारका के निकट) अभिलेख, जिसकी तिथि शक वर्ष 122– वैशाख माह (200-201 ई.) मानी गई है, के अनुसार इस वर्ष के आरम्भ में रूद्रसेन प्रथम ने महाक्षत्रप की उपाधि धारण कर ली थी। महादेवी प्रभूदमा जिसका वर्णन महाक्षत्रप रूद्रसिंह प्रथम की पुत्री तथा महाक्षत्रप रूद्रसेन प्रथम की बहन के रुप में मिलता है से सम्बन्धित कुछ मिट्टी की मोहरें बसारह (प्राचीन वैशाली), जो कि बिहार के मुज्जफर पुर जिले में स्थित है, से पाई गई हैं। ऐसा लगता है कि इस राजकुमारी का विवाह किसी लिच्छवी सरदार से हुआ हो जो कि इस प्रदेश में गुप्त शासकों से उदय से पहले शक्तिशाली थे।

महाक्षत्रप के रुप में रूद्रसेन प्रथम ने गरह (सौराष्ट्र में जसदन के निकट) अभिलेख उत्कीर्ण करवाया जिसकी तिथि वर्ष 127 (205-206 ई.) मानी जाती है। उसके शासन काल का अन्त वर्ष 144 (222-223 ई.) में हो गया जब रूद्रसिंह प्रथम के एक अन्य पुत्र तथा उसके भाई सिंहदामन ने महाक्षत्रप की पदवी सम्भाली। इस काल के क्षत्रपों के सिक्के बहुत कम संख्या में प्राप्त हुए हैं। फिर भी यह पता चलता है कि वर्ष 144 (222-223 ई.) में रूद्रसेन प्रथम का पुत्र पथ्वीसेन अपने पिता अथवा चाचा संघदामन के आधीन क्षत्रप के रुप में कार्य करता था। महाक्षत्रप संघदामन का शासन काल मात्र दो वर्ष (शक 144-145) का था तथा उसके पश्चात् रूद्रसिंह प्रथम का तीसरा पुत्र महाक्षत्रप दामसेन शासक बना।

दामसेन के सिक्कों पर वर्ष 145 से 158 (223-237 ई.) तक की तिथियां मिली हैं, परन्तु ऐसा सम्भव लगता है कि उसका देहान्त वर्ष 160 (238-49 ई.) से बहुत पहले नहीं हुआ क्योंकि यही महाक्षत्रप यशोदमन के द्वारा जारी किए गए सबसे आरम्भिक सिक्कों की ज्ञात तिथि है। महाक्षत्रप दामसेन के शासन काल में उसके भतीजे दामजदश्री II द्वितीय (रूद्रसेन प्रथम का पुत्र) ने वर्ष 154 तथ 155 (232-234 ई.) में क्षत्रप के रुप में सिक्के जारी किये। दामजदश्री के बाद दामसेन के पुत्र वीरदामन (शक सम्वत 156-160 अथवा 234-239 ई.) ने क्षत्रप का पद संभाला। महाक्षत्रप दामसेन के शासनकाल के पश्चात् कारदमक शासकों द्वारा प्रचलित सीसे (पोटीन) के सिक्के, जो कि मुख्यतः मालवा तथा उसके आस–पास के क्षेत्रों में चलाए गए थे, बंद हो गए। पोटीन के सिक्के केवल महाक्षत्रपों द्वारा चलाए गए जो कि मालवा से शासन करते थे; जबकि क्षत्रप जो कि सौराष्ट्र–गुजरात से शासन चलाते थे, उन्होंने इन सिक्कों को जारी नहीं किया। यह सुझाया गया है कि इन सिक्कों का प्रचलन बंद हो जाना यह संकेत देता है कि या तो इस समय मालवा का कुछ भाग कारदमक महाक्षत्रपों के हाथ से छिन गया अथवा सीसे (पोटीन) के स्थान पर अब चांदी के सिक्कों का प्रचलन आरम्भ हो गया।

रैप्सन ने भी दूसरे मत को ही स्वीकार किया है। परन्तु यहां यह बात बड़ी महत्वपूर्ण है कि तीसरी शताब्दी ई. के लगभग शकों को केवल आंतरिक फूट एवं विद्रोहों का ही सामना नहीं करना पड़ा, बल्कि उन्हें उत्तर की ओर से मालवों तथा दक्षिण की ओर से आमीरों ने भी भयाक्रांत किया। नन्दसा (प्राचीन उदयपुर राज्य) अभिलेख, जिसकी तिथि 226 ई. बतायी जाती है के अनुसार इस समय मालवा सरदार के श्रेष्ठ उपलब्धियों के कारण मालवा राज्य में स्वतंत्रता, शांति तथा समद्धि की पुनर्स्थापना हुई। यह संभवत इस ओर इंगित करता है कि इस समय कारदमक साम्राज्य का उत्तरी भाग मालवों ने उनसे छीन लिया।

दक्षिण की ओर उत्तरी महाराष्ट्र तथा उससे लगते प्रदेशों में आमीरों ने एक शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना की तथा 248-49 ई. में अपना सम्वत् चलाया। इसके कुछ समय पश्चात् हमें एक शक महादण्डनायक श्रीधरवर्मन का उल्लेख मिलता है जो मूल रुप से पूर्वी मालवा में कारदमक शासकों का गवर्नर था तथा इस समय के आते–आते व्यवहारिक रुप से एक स्वतंत्र शासक के रुप में कार्य कर रहा था। श्रीधरवर्मन के शासन काल के 13वें वर्ष के साँची अभिलेख में वर्णित एक शक वर्ष पर विवाद है। कुछ लेखक इसे वर्ष 201 अर्थात् 279-80 ई. मानते हैं जबकि अन्य इसे वर्ष 241 अथवा 319-20 मानते हैं। श्रीधरवर्मन अपने लेखों में स्वयं को **धर्मविजयी** तथा भगवान महासेन का अनुयायी कहता है। तीसरी शताब्दी ई. के उत्तरार्ध में विदिशा तथा पदमावती के नाग शासक भी शक क्षत्रपों के प्रतिस्पर्धी बन उग्र पड़ौसी की भूमिका निभाने लगे थे।

सिक्कों के आधार पर यह माना गया है कि दामसेन, जिसने संभवतः क्षत्रप तथा महाक्षत्रप के रुप में शासन किया, के चार पुत्र थे। दामसेन के बड़े पुत्र क्षत्रप वीरदामन अल्पायु था तथा उसका निधन शक वर्ष 160 (238-39 ई.) में ही हो गया। उसके पश्चात् दामसेन का एक अन्य पुत्र यशोदामन क्षत्रप बना। इसी वर्ष यशोदामन महाक्षत्रप बन गया तथा उसने अपने भाई विजय सेन को अपना क्षत्रप बनाया। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यशोदामन ने केवल एक वर्ष (शक 160-61 = 238-39 ई.) तक ही महाक्षत्रप के

रुप में शासन किया क्योंकि महाक्षत्रप के रुप में विजयसेन के सिक्के शक वर्ष 161-72 अर्थात 239-251 ई. तक पाए गए हैं। विजयसेन के सिक्के गुजरात, राजस्थान तथा सौराष्ट्र से बहुत अधिक मात्रा में प्राप्त हुए हैं। विजयसेन का भाई तथा दामसेन का पुत्र दामजदश्री ततीय अगला महाक्षत्रप बना। यह निश्चित नहीं है कि दामजदश्री III ने क्षत्रप के रुप में भी शासन किया था अथवा नहीं। उसके सिक्के शक वर्ष 173 तथा 177 (251-56 ई.) के बीच प्राप्त हुए हैं। 240-275 ई. के बीच क्षत्रप के रुप में जारी किये गए शक शासकों के किसी सिक्के का उल्लेख नहीं मिलता, परन्तु यह कहना कठिन है कि क्षत्रप पद का अस्तित्व इस समय था अथवा नहीं।

दमजदश्री ततीय के पश्चात उसके भतीजे रूद्रसेन द्वितीय (वीरदामन का पुत्र) ने महाक्षत्रप की पदवी संभाली। महाक्षत्रप रूद्रसेन द्वितीय के सिक्के, जो बहुत अधिक मात्रा में प्राप्त हुए हैं, पर अंकित तिथियाँ वर्ष 177 तथा 198 अर्थात 255-277 ई. के बीच की है। परन्तु यह सम्भव है कि उसका शासन काल सिक्कों से प्राप्त प्रमाण से कुछ वर्ष पश्चात तक चलता रहा। ऐसा प्रतीत होता है कि रूद्रसेन द्वितीय ने आन्ध्रपथ के इक्ष्वाकुओं से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये तथा इक्ष्वाकु राजा वीरपुरूषदत्त से अपनी पुत्री रूद्रधारा–भट्टारिका का विवाह कर दिया। रूद्रसेन के पुत्र विश्वसिंह ने वर्ष 197-200 (275-79) में क्षत्रप के रुप में सिक्के जारी किये तथा बाद में महाक्षत्रप की उपाधि धारण की। क्षत्रप के रुप में वर्ष 200 (278-79 ई.) में विश्वसिंह का भाई भर्तदामन उसका उत्तराधिकारी बना। सिक्कों से प्राप्त भर्तदामन की आरम्भिक ज्ञात तिथि 282-83 ई. है। उसने महाक्षत्रप के रुप में कम से कम सन् 217 (295-96 ई.) तक शासन किया। भर्तदामन के पश्चात उसका पुत्र विश्वसेन उसका उत्तराधिकारी बना जिसके क्षत्रप उपाधि वाले सिक्के शक वर्ष 215 तथा 226 (293-305 ई.) के बीच मिले हैं। उसने महाक्षत्रप की पदवी धारण नहीं की तथा ऐसा प्रतीत होता है कि वर्ष 270 (348-49 ई.) के पश्चात् यह पद अस्तित्व में नहीं रहा। विश्वसेन अन्तिम क्षत्रप था जिसे निश्चित तौर पर चष्टन के वंश से सम्बंद्ध माना जाता है। ऐसा इसलिये कहा जाता है क्योंकि हमारे पर यह निश्चित सूचना है कि शक वर्ष 226 अर्थात 304-305 ई. में जीवदामन का पुत्र रूद्रसिंह द्वितीय क्षत्रप के पद पर आसीन था जिसने कोई राजसी उपाधि धारण नहीं की तथा जिसके पूर्वज शासकों के साथ सम्बन्ध के बारे में हमें जानकारी नहीं मिलती। जो भी हो उज्जैन से शासन करने वाला अंतिम शक क्षत्रप रूद्रसिंह ततीय था जिसे लगभग 388 ई. में गुप्त नरेश चन्द्रगुप्त द्वितीय ने मार कर गुजरात तथा सौराष्ट्र प्रदेशों को अपने साम्राज्य का हिस्सा बना लिया। इस प्रकार उज्जैन के शक शासकों ने लगभग 250 वर्षों तक शासन किया।

IV उत्तर पश्चिम के क्षत्रप शासक :-

वर्ष 78 के तक्षशिला ताम्रपत्रों से हमें यहां से शासन करने वाली शकों की एक ओर शाखा के दो शासकों– लियाक कुसुलक तथा उसके पुत्र पाटिक के बारे में जानकारी मिलती है जिन्होंने तक्षशिला के महाराय मोगा के आधीन क्षत्रप के रुप में शासन किया।

V मथुरा के क्षत्रप शासक :-

इस शाखा के शक शासकों सर्वप्रथम हगान तथा हगामश नामक क्षत्रपों का नाम आता है जिन्होंने कुछ समय के लिये मथुरा से संयुक्त रुप से शासन किया। उनका उत्तराधिकारी संभवतः रंजुबुल अथवा राजुवुल (राजुल) था जिसे मोरा (मथुरा के निकट स्थित) अभिलेख में महाक्षत्रप कहा गया है। उसके द्वारा स्ट्रेटो प्रथम तथा स्ट्रेटो द्वितीय के सिक्कों के अनुसरण के आधार पर ही यह माना जाता है कि राजुल ने पूर्वी पंजाब के यूनानी शासन का अंत किया। उसके पश्चात उसका क्षत्रप पुत्र सोडास महाक्षत्रप की उपाधि धारण कर शासक बना। मथुरा के सिंह स्तम्भ लेख के अनुसार वह तक्षशिला लेख में वर्णित तक्षशिला नरेश पडिक अथवा पाटिक का समकालीन था। अमोहिनी दान लेख में सोडास को महाक्षत्रप बताया गया है तथा यदि रैप्सन द्वारा खोजी गई इस लेख की तिथि (वर्ष 42) की विक्रमी सम्वत् का माना जाए जो निश्चित है कि इस शासक ने 17-16 ई. पू. में शासन किया। सोडास के वंशजों के संदर्भ में हमें अधिक जानकारी नहीं मिलती।

इस प्रकार मध्य एशिया की एक यायावर प्रजाति शक अथवा शी (यूनानी लेखकों के अनुसार शकाई) जिसका की जैक्सरटीज (सयर दरिया) के उत्तरी भूभाग पर अधिकार था तथा जिसका अवरोहण लगभग 164-160 ई. पू. में मध्य एशिया की ही एक अन्य खानाबदोश प्रताति यू–ची के कारण दक्षिण की ओर हुआ तथा जिसने कालान्तर में सीस्तान, आरकोशिया (कान्धार) तथा बलुचिस्तान के रास्ते भारत में प्रविष्टि पाकर दीर्घ काल तक भारत के उत्तरी तथा पश्चिमी भागों पर शासन किया, का अन्त हुआ।

अध्याय-7

कुषाण वंश तथा उनका प्रशासन

मध्य भारत :- रबताक अभिलेख से पता चलता है कि कनिष्क के राज्य के प्रथम वर्ष में उज्जैनी सम्मिलित था जहां उसका गवर्नर प्रशासन कर रहा था। इससे सिद्ध होता है कि उसने अपने प्रथम वर्ष में यह क्षेत्र पश्चिमी क्षत्रपों से जीता होगा क्योंकि विम कैडफिसस के राज्य में तो यह क्षेत्र था नहीं।

राज्य विस्तार :- उपरलिखित विजयों तथा अपने पिता के राज्य, जो इसने प्राप्त किया, से पता चलता है कि कनिष्क के राज्य में मध्य एशिया से लेकर मध्य भारत तक अफगानिस्तान, काश्मीर, पंजाव सिन्ध, गुजरात सौराष्ट्र, मथुरा, कन्नौज, कौशाम्बी पाटलीपुत्र श्री चम्पा, बंगाल, उड़ीसा इत्यादि क्षेत्र थे।

शासन प्रबन्ध :- कुछ अभिलेखों जैसे सारनाथ अभिलेख से ज्ञात होता है कि कनिष्क ने महाक्षत्रप खरपल्लान तथा क्षत्रप बनस्पर को नियुक्त किया हुआ था इसी प्रकार मथुरा में भी महाक्षत्रप में लल तथा लाइक नामक क्षत्रप नियुक्त थे। इससे पता चलता है कि उसने अपने प्रशासन में क्षत्रपीय प्रणाली चला रखी थी। कौशाम्बी क्षेत्र में धनदेव उसके आधीन राज्य कर रहा था। अयोध्या में भी मित्र राजाओं के बाद राज्य करने वाले सेन तथा वर्मन नाम वाले (प्रथम सदी) राजा कनिष्क तथा कुषाणों के आधीन थे। सुधाकर चट्टोपाध्याय के अनुसार यौधेयों के द्वितीय प्रथम शताब्दी के सिक्के प्राप्त होते हैं तथा उसके बाद तीसरी चौथी सदी के सिक्के प्राप्त होते हैं परन्तु इस काल में उनके सिक्के नहीं मिलते। शायद वे भी कुषाणों के आधीन आ चुके थे। स्वामी ओमानन्द के अनुसार यौधेय कुषाणों को हरा स्वतन्त्र हुए थे तथा उन्होने यौधेयगणस्य जय प्रकार के सिक्के चलाए जो उनकी कुषाणों पर विजय के उपलक्ष में चलाए गए।

रबताक (Ractak) अभिलेख से भी हमें पता चलता है कि कन्नौज, साकेत, उज्जैन, पाटलीपुत्र तथा श्री चम्पा क्षेत्र के राजाओं ने उसकी आधीनता स्वीकारी थी। इसका अर्थ यह हुआ कि इसके आधीन राज्य करने लगे थे।

कनिष्क तथा बौद्ध धर्म :-

सी. यू की (Si-yu-ki) के अनुसार कनिष्क शाक्यमुनी के धर्म को मानता था तथा उसने काश्मीर में बौद्ध संगीति का आयोजन किया था जिस की प्रधानता वसुमित्र ने की। इसमें 500 भिक्षुओं ने भाग लिया। इसके बाद कनिष्क बौद्ध धर्मानुयायी बन गया। तिब्बती बौद्ध भिक्षु भी काश्मीर में आयोजित संगीति का उल्लेख करता है जबकि मंगोलिया के बौद्ध साक्ष्य पंजाब के जालन्धर में इसका स्थान मानते हैं। सिंहली महाकाव्य चौथी संगीति का उलेख नहीं करते। परन्तु यह संगीति काश्मीर में हुई तथा वसुमित्र ने इसकी अध्यक्षता की। इसमें साकेत से अश्वघोष को आमन्त्रित किया गया था। इस संगीति ने बौद्ध ग्रन्थों के ऊपर टीकाए लिखी जो विभाषा कहलाती हैं। इसी संगीति में बौद्ध भिक्षुओं में मतभेद हो गए तथा बौद्ध धर्म दो सम्प्रदायों हीनयान तथा महायान में बंट गया। हीन पान में बुद्ध की मूर्ति पूजा नहीं थी तथा उनके अस्तित्व को केवल प्रतीकों द्वारा दर्शाया जाता था परन्तु अब महायान का उदय हुआ जिसमें बुद्ध की मूर्तियां बना पूजा की जाने लगी।

कनिष्क के बौद्ध होने का एक अन्य प्रमाण यह है कि उसने बुद्ध की प्रतिमा वाले सिक्कों का प्रचलन किया यद्यपि उसके सिक्कों पर अन्य धर्मों के देवी देवता भी थे परन्तु बौद्ध धर्म का वह मानने वाला था इस लिए बोडो (Boddo) या शाक्यमन बोडो (Sakyamana Boddo) लेख वाले सिक्के उसने चलाए जिस पर भगवान बुद्ध का खड़ा हुआ रुप दिखाया गया है। कनिष्क ने पेशावर में एक बड़ा स्तूप बनवाया जिसको कनिंघम तथा फाऊचर नामक विद्यवानों न शाहजीवी ढेरी के स्तूप से समीकृत किया है। अलबनी के कथन अनुसार कनिष्क ने काश्मीर में कनिष्कपुरा में स्तूप बनवाया। इससे उसके बौद्ध होने का पता चलता है।

अन्य उपलब्धियां :

शिक्षा साहित्य के क्षेत्र में :- कनिष्क एक महान विद्या प्रेमी था तथा उसके दरबार में बहुत से साहित्यकार थे जिनमें अश्वघोष प्रमुख था जिसे वह पाटलीपुत्र से लाया था उसने संस्कृत काव्य बुद्धचरित लिखा जिसके 17 सर्गों में बुद्ध का चरित्र तथा शिक्षाएं वर्णित हैं। एक अन्य काव्य भी उसने लिखा जो सौन्दरान्द था। सारिपुत्र प्रकरण अश्वघोष द्वारा लिखित नाटक है जिसके 9 अंक हैं। इसके अतिरिक्त नागार्जुन जो महायान धर्म का प्रबल प्रचारक था भी उसके राज्य का ही था। उसने अपने ग्रन्थ पज्ञापारमिता सूत्र में सापेक्ष्यवाद (Theory of Relativity) का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। इसने शुन्यवाद का भी प्रचार किया जो शंकराचार्य के मायावाद से प्रभावित बताया जाता है। इसके अतिरिक्त चौथी बौद्ध संगीति के अध्यक्षता करने वाला विद्यवान वसुमित्र भी था जिसने बौद्ध धर्म ग्रन्थों टीकाएं लिखी। इस युग के अन्य विद्यवानों पार्श्व तथा संघरक्षक थे। चरक संहिता को रचने वाले चरक उसका राज्यवैद्य

था। उसने आयुर्वेद के अमूल्य अनुष्धांन तथा फार्मूले अपने ग्रन्थ मे दिए। इस प्रकार उसके काल में शिक्षा साहित्य, दर्शनशास्त्र में बहुत उन्नति हुई।

महान निर्माता :- ऐसा प्रतीत होता है कि कनिष्क एक महान निर्माता था। उसने अपने राज्यकाल में बहुत से बौद्ध विहारों का निर्माण किया। छटी शताब्दी ईसा में आए चीनी यात्री सांगयुग के अनुसार उसने अपनी राजधानी पुष्पपुर (पेशावर) में 400 फीट ऊंचा 13 मन्जिलों वाला एक भवन तथा टावर बनवाया जिस पर एक छत्र भी था। इस चीनी यात्री के अनुसार इस काल में इसका टावर तीन बार आग से नष्ट हो गया था। जिसे राजाओं ने पुनः बनवा दिया। इसी के नजदीक एक बौद्ध विहार भी बनवाया गया जो 10 सदी तक बौद्ध शिक्षा का केन्द्र रहा। मगध के राजकुमार को इसी विहार में शिक्षा के लिए भेजा गया था। चीनी राजकुमारों, जो कि उसके दरबार में बन्धक थे, के लिए उसने बौद्ध स्तूपों एवं विहारों का निर्माण करवाया था। ह्यूनसांग तथा फाह्यान ने भी कनिष्क द्वारा बौद्ध विहारों के निर्माण का उल्लेख है। अलवरुनी ने कनिष्क चैत्य का संदर्भ दिया जो इसी राजा ने बनवाया था। कनिष्कपुर नामक एक नगर को, तथा तक्षशिला के सिरकय स्थान पर नगर उसी के बसाए थे।

गांधार तथा मथुरा कला :- कनिष्क के काल में गांधार कला, जो कि यवन शैनी से प्रभावित थी, का विशेष प्रसार हुआ इस कला की इस काल की बुद्ध, तथा बोधिसत्व मूर्तियां बहुत सुन्दर हैं। जो महापन बौद्ध सम्प्रदाय की हैं। गान्धार क्षेत्र में असंख्य बुद्ध की प्रतिमाएं स्लेटी पत्थर लारम, स्टुको तथा बाद में धातु की भी बनी। भारतीय तथा युनानी शैनी से बनी यह कला बुद्ध के जीवन जैसे जन्म सम्बोधि, धर्म चक्रप्रवर्तन, महापरिनिर्वाण इत्यादि से सम्बन्धित हैं। इन पर जो वस्त्र बनाए गए हैं वे विदेशी पारदर्शी हैं। गान्धार कलाकारों ने शारीरिक सौंदर्य तथा बौद्धिकता पर बहुत बल दिया। कुछ देवियों की मूर्तियों का निर्माण भी इस काल में हुआ जिनमें हारीति तथा रोमा (रोम की देवी) आदि प्रमुख हैं। बामयान के बौद्ध प्रतिमाएं भी इसी काल में बनाई गई।

मथुरा क्षेत्र में भी कला का एक प्रमुख केन्द्र इस काल में बन गया। यद्यपि मथुरा कला का प्रारम्भ गान्धार कला के प्रभाव से हुआ परन्तु इस कला का उदय सांची, भारहुत की स्वदेशी कला के सूत्र को लकर हुआ। फागेल महोदय भी इसी मत के हैं। वसुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार मथुरा में पहले से ही यक्षों नागों, तीथांकरों इत्यादि की मूर्तियां बन रही थी तथा इसी पष्ठ भूमि में यहां के शिल्पियों ने बौद्ध प्रतिमाएं भी बनाना प्रारम्भ कर दिया। मथुरा में मूर्तियां बालुए पत्थर की बनी हैं। गान्धार कला की तरह बुद्ध के मूछें नहीं दिखाई जाती तथा मूर्तियां प्रायः खड़ी दिखाई गई हैं। उनके शरीर के एक कन्धे पर कपड़ा तथा दूसरा नंगा है तथा सिर मुंडा हुआ है। बुद्ध के जन्म, महानिष्क्रमण, संबोधि, धर्मचक्र प्रवतन तथा महापरिनिर्वाण को यहां भी विषय बनाया गया है। इसके अतिरिक्त मथुरा में कामुक मखों वाले यक्ष यक्षिणीय भी दिखाई गई हैं। मथुरा के अतिरिक्त पंजाब का संघोल भी इसी कला का एक केन्द्र था जहां सैकड़ों की संख्या में यक्ष, यक्षिणयों शालभंजिकाओं की मूर्तियां बनी प्राप्त हुई हैं।

व्यापार तथा वाणिज्य में उन्नति :- कनिष्क के राज्य काल में इरान, मध्य एशिया, चीन, रोम इत्यादि से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो गए थे। भारत के वस्त्र आभूषण, मसाले, सौंदर्य प्रसाधन रोम में बहुत प्रसिद्ध थे या भारी कीमत पर अमीर लोग खरीदते थे। इस व्यापार में भारत का अधिक लाभ होता था। जिसकी भरपाई के लिए रोम से सोने की मुद्राएं आती थी जिन्हे ढाल कुषाणों ने अपनी मुद्राएं बनवाई। पेरीप्लस ने भी कहा है कि भारत से मोती, मलमल, हाथी दान्त, चन्दन तथा औषधियां रोम जाती थी। प्लिनी (Pliny) ने भी रोमन लोगों की यह कह कर आलोचना की कि वे विलास की चीजों खरीदने में भारत को बहुत मात्रा में स्वर्ण मुद्राएं दे रहे हैं। इसके अतिरिक्त इस काल में बहुत से व्यापारिक नगरों की स्थापना हुई जिन में बहुत समद्धि देखने को मिलती है। जितना नगरीकरण इस काल में हुआ हड़प्पा सभ्यता के बाद शायद ही कभी हुआ हो। कई विद्यवान तो इस काल को भारत का स्वर्ण युग भी मानते हैं।

कनिष्क के उत्तराधिकारी :- 23 वर्ष राज्य करने के पश्चात् कनिष्क की मत्यु 101 ई. में हो गई तथा उसका उत्तराधिकारी उसका बेटा वाशिष्क बना जो कनिष्क के राज्य काल में मालवा का शासक था। उसने केवल चार वर्ष ही राज्य किया। उसका एक लेख मथुरा से तथा दूसरा सांची (Sanchi) से प्राप्त हुआ है। मथुरा का लेख वर्ष 24 (102 ई.) तथा सांची का वर्ष 28 (106 ई.) राजतरंगिणी में जुष्क का उल्लेख है जिसने जुष्कपुरा नामक नगर बसाया। कुछ विद्यवान इसका समीकरण वासिष्क से करते हैं। परन्तु इस राजा की हमें कोई मुद्राएं नहीं मिलती। ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी मत्यु के पश्चात कुषाण साम्राज्य पर संकट के बादल छा गए। अभिलेखों से पता चलता है कि इस काल में सामाज्य का बंटवारा हो गया था। पश्चिमी भाग पर वाशिष्क का पुत्र कनिष्क द्वितीय वर्ष 41 (119 ई) में राज्य कर रहा था। तथा कनिष्क के पुत्र हुविष्क ने 106 से 138 तक राज्य किया। मार्शल के अनुसार हुविष्क ने वर्ष 40 से 60 के बीच केवल रजतिरज उपाधि धारण की तथा वाशिष्क की मत्यु के पश्चात, उसने कुछ वर्षों के लिए वाशिष्क के पुत्र कनिष्क द्वितीय के संरक्षक के रुप में राज्य किया। तथा उसकी मत्यु के पश्चात हुविष्क राजा बना। परन्तु इस मत को मानने में कठिनाई प्रतीत होती है।

हुविष्क

वर्ष 28 (106 ई.) में हुविष्क कुषाण राज्य के सिंहासन पर बैठा। इसके अनेक अभिलेख तथा बहुत बड़ी मात्रा में सोने तथा ताम्बे

के सिक्के प्राप्त होते हैं। गया अभिलेख से पता चलता है कि उसका राज्य बिहार तक विस्तत था। वर्दक बर्तन अभिलेख के अनुसार वर्ष 51 129 में उत्तरपश्चिम प्रदेश इसके राज्य में था न कि कनिष्क द्वितीय के। सिन्ध पर इसके अतिपत्य का कोई प्रमाण नहीं है संभवतः यह क्षेत्र रूद्रदामन प्रथम ने कुषाणों से छीन लिया हो।

मथुरा से प्राप्त जैन प्रतिमा पर लिखा लेख जो वर्ष 60 का है (138 ई) इसके काल का अन्तिम राजतत्रंगिनी के अनुसार काश्मीर में एक नगर हुष्कपुर बसाया जो आज बारामूला के दक्षिण पूर्व में उस्कुर नामक गांव है। यहां पर उसने बौद्ध विहार का भी निर्माण किया। 631 ई. में जब ह्यूनसांग भारत आया तो वह इसी विहार में कुछ दिन अतिथि के रुप में रहा। गया के एक बौद्ध विहार का पुर्नउत्थान भी हुविष्क के काल में किया गया। इसके अतिरिक्त उसके सिक्कों सिंहासन पर बैठे राजा का चित्रण वज्रासन पर बैठे प्रतीत होता है। मथुरा में भी उसने एक बौद्ध मठ का निर्माण करवाया जिसका पता वर्ष की मथुरा बौद्ध प्रतिमा अभिलेख से लगता है। तथा इसके अतिरिक्त वर्ष 47 के मथुरा बौद्ध स्तम्भ अभिलेख से भी यही विदित होता है जो मथुरा के समीप जमालपुर से प्राप्त हुआ था। मथुरा के विहार के बहुत से स्तम्भ थे जो भिक्षु जीवक तथा कुछ भिक्षु धर्मदेव ने स्थापित करवाए थे। इसके अतिरिक्त इसके काल के वर्ष 51 में भिक्षु बुद्धवर्मन ने भी शाक्यमुनि की एक प्रतिमा मथुरा में स्थापित करवाई थी। इन आधारों पर प्रतीत होता है कि वह एक बौद्ध था।

राज्य विस्तार :- हुविष्क के काल में मथुरा का क्षेत्र तो उसके अधिकार में था ही तथा उसकी चांदी की कुछ दुलर्भ मुद्राओं का निचले सिन्ध क्षेत्र में पाए जाने से वह क्षेत्र भी इसके अधिकार में होने के प्रमाण मिलते हैं। पश्चिमी भारत से लगे क्षेत्रों में उसका अधिकार का अन्दाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि चैष्टन के परिवार में उसके पोते रूद्रदामन प्रथम से पहले ये शक राजाओं ने केवल क्षत्रप उपाधि धारण की जबकि सर्वप्रथम रूद्रदामन महाक्षत्रप की। इससे प्रतीत होता है कि शायद ये लोग कुषाणों के आधीन थे तथा यह तिथि हुविष्क के राज्य काल में पड़ती है। उत्तरपश्चिम में हुविष्क का राज्य वर्दक या खवात (पूर्वी अफगानिस्तान) तक अवश्य था क्योंकि यहां से प्राप्त एक अभिलेख में इसके राज्यकाल का संदर्भ है तथा इस क्षेत्र में किए गए कुछ धार्मिक कार्यो का वर्णन है। यद्यपि वर्ष 31 के सुर्खकोताल अभिलेख में इसका नाम तो नहीं परन्तु कुषाण शासन का संदर्भ है यह भी इसी राज्य काल की हैं। चीनी साक्ष्यों से पता चलता है कि मध्य एशिया में 114-116 ई. में काशगार क्षेत्र पर कुषाणों (यू–ची) का काफी प्रभाव था। यह काल भी हुविष्क के काल में पड़ता है। इस तरह हम देखते हैं कि कनिष्क के साम्राज्य के अधिकतर भाग हुविष्क के काल में भी जैसे के तैसे रहे। केवल पूर्वी भारत में इसके अधिकार के प्रमाण नहीं मिलते।

व्यापार :- इस राजा के काल में बहुत से सोने के सिक्के चलाए गए जिनके पष्ठ भाग पर न केवल भारतीय बल्कि इरानी, युनानी, रोमन तथा मिश्री देवी देवताओं का चित्रण है। ये सभी कुजुल कैडफिसस तथा कनिष्क के सिक्कों के भार प्रणाली पर आधारित है। इसके चांदी के सिक्के शायद निचले सिन्ध के क्षेत्र में ही चलाने के लिए थे। मथुरा के एक अभिलेख से इस काल में चांदी के सिक्के पुराण या आहत मुद्राओं के एक दान कोष में देने के प्रमाण हैं जिससे पता चलता है कि इसके काल में चांदी की आहत मुद्राओं (Punch-Marked coins) का प्रचलन था जो व्यापारिक दष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण है। सोने के सिक्के तो अन्तराष्ट्रीय व्यापार के लिए थे। ताम्बे के सिक्के सथानीय व्यापार के लिए थे जिनका वजन इसके काल मे धीरे–2 कम किया जाने लगा था। परन्तु इस प्रकार के सिक्कों का व्यापार के लिए माना जाना इस काल में कुषाण मुद्रा प्रणाली के सशक्त हाने के प्रमाण हैं तथा पूर्वी भारत के खोए जाने पर भी इसकी आर्थिक स्थिति पर काई प्रभाव नहीं पड़ा। ऐसा माना जाता है कि इसके काल में रोमन राजा हड्रियन के तथा अन्टोनिनस के दरबार में दूत भेजे गए जो शायद रोम के दक्षिण तथा पश्चिमी भारत से सीधी व्यापार होने से रोमन–कुषाण व्यापार को हुए नुकसान को पूरा कर पुनः व्यापार बढ़ाने के लिए एक प्रयत्न था। परन्तु शायद इस का कोई अधिक असर नहीं पड़ा।

वसुदेव प्रथम

सुदेव प्रथम का राज्य काल संवत 64 से 98 तक था। हुविष्क की अन्तिम ज्ञात तिथि 60 या 138 ई. थी। मथुरा के अभिलेख से इसके मथुरा क्षेत्र में प्रभाव या राज्य का पता चलता है परन्तु मथुरा के पूर्व और दक्षिण में वसुदेव का राज्य होने के कोई प्रमाण नहीं मिलता। पश्चिमी भारत के क्षत्रपों ने दक्कन क्षेत्र के अनेक भागों पर अपना अधिकार कर लिया था। जुनागढ़ अभिलेख वर्ष 72 या 149-50 ई. से पता चलता है कि सिन्धु सौवीर क्षेत्र पर रूद्रदामन–I का अधिकार हो गया था इसके साथ–2 मध्य प्रदेश राजस्थान (जहां रूद्रदामन ने यौधेयों को हराया) भी कुषाणों के हाथ से निकल पश्चिमी क्षत्रपों के हाथ में चले गए। वसुदेव के काल में भी अफगानिस्तान के बेग्राम के द्वितीय नगर के ससानिद राजा शापूर द्वारा ध्वस्त करने के प्रमाण हैं। जिसे अधिकतर विद्ववान वसुदेव द्वितीय मानते हैं। यदि यह सत्य है तो मथुरा से लेकर पाकिस्तान के उत्तरपश्चिमी प्रान्त तक वसुदेव प्रथम का साम्राज्य अवश्य रहा।

कनिष्क ततीय

मथुरा से प्राप्त कनिष्क की एक अभिलेख वर्ष 94 का है जो कनिष्क ततीय ही था। इससे प्रतीत होता है कि वसुदेव जिसकी अन्तिम

ज्ञात तिथि 98 है ने कुछ वर्ष कनिष्क ततीय के साथ इक्ट्ठा राज्य किया। वसुदेव के बाद कनिष्क ततीय ने राज्य प्रारम्भ किया। इसका सम्बन्ध वसुदेव प्रथम से क्या था इसका पता हमें उसके सिक्कों से नहीं लगता जिसकी मुद्राएं बैक्ट्रिया, अफगानिस्तान, सीस्तान, गान्धार तथा पंजाब से प्राप्त होती हैं। इसकी मुद्राएं मथुरा के क्षेत्र में प्राप्त नहीं होती हैं। इसका अर्थ है कि मथुरा क्षेत्र पर अब इसका अधिकार नहीं रहा। शहर–ए–बहलोत (पेशावर) से एक अभिलेख कनिष्क का है जो कनिष्क ततीय ही था। इसके कुछ सिक्के रोमन राजा कारकल्ला (Carcalla) (211-217 ई) से मिलते जुलते हैं इस आधार पर हम इसका राज्य काल 211 ई. से बाद में ही रख सकते हैं। डा. बी एन मुखर्जी का विचार है कि कनिष्क ततीय हुविष्क का पुत्र था क्योंकि सोंख (Sonkh) से प्राप्त ताम्बे के सिक्कों पर हुविष्क के पुत्र घनिष्क का नाम है।

वसुदेव द्वितीय

कनिष्क ततीय के पश्चात हमें मुद्राशास्त्र के आधार पर वसुदेव द्वितीय के राजा होने के प्रमाण मिलते हैं जिसके सिक्कों पर पष्ठ भाग पर शिव तथा नन्दि है तथा अग्रभाग पर वसुदेव प्रथम की तरह वेदिका पर खड़ा राजा आहुति दे रहा है। परन्तु यह मुद्राएं वसुदेव प्रथम की तरह सुन्दर नहीं है तथा न ही इनमें सोने की मात्रा है जितनी वसुदेव प्रथम के थी। चिन्ह भी भिन्न प्राप्त हो रहे हैं। इसी के काल में माना जाता है कि बेग्राम का क्षेत्र शापूर ने ध्वस्त किया तथा जीता जिसका प्रमाण हमें नक्ष–ए रुस्तम अभिलेख से मिलता है।

वजेष्को या वाशिष्क

प्रो. गौब्ल (Gobl) तथा बी एन मुखर्जी का मत है कि वसुदेव जो के पश्चात वजेष्को या वाशिष्क राज बना जिसके सिक्के हमें प्राप्त होते हैं जिसने वसुदेव द्वितीय के बाद पंजाब क्षेत्र पर राज्य किया। इस राजा का कनिष्क ततीय या वसुदेव के सम्बन्धों के बारे में पता नहीं। बी एन मुखर्जी के अनुसार वह यू–ची या कुषाणों की किसी दूसरी शाखा से सम्बन्धित रहा होगा। वसुदेव द्वितीय कनिष्क के शाही परिवार का अन्तिम राजा प्रतीत होता है यद्यपि इसके बाद भी कुछ कुषाण राजाओं का राज्य किन्हीं क्षेत्रों पर रहा।

वासु

कुछ ताम्बे के सिक्कों पर अग्रभाग पर राजा सिंहासनारूढ़ दिखाया गया है तथा ब्राह्मी में वसु लिखा है। पष्ठ भाग पर सिंहासन पर बैठी देवी अरदौक्षों है। यह सिक्के कुषाण प्रतीत होते हैं परन्तु इन पर युनानी लिपि में लेख न होकर ब्राह्मी में है। यदि हम इस वसु को कनिष्क ततीय तथा वासुदेव द्वितीय के आधीन एक राजा के रुप में राज्य करने वाले से ही मिलाए तो लगता है कि बाद में इस ने पंजाब क्षेत्र में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया। इसके अतिरिक्त इस राजा के अन्य प्रकार के सिक्के भी प्राप्त होते हैं। डा. अल्तेकर इसे वसुदेव मानते हैं जो संभवतः कनिष्क ततीय का पुत्र तथा उसके आधीन सीस्तान का क्षत्रप था।

कुषाणों के पतन के कारण :-

कुषाणों के पतन के बहुत से कारण हैं इनमें प्रथम है कि कनिष्क के पश्चात् कुषाण वंश में कोई भी ऐसा राजा नहीं था जो एक बड़े साम्राज्य को बचा कर रख सके। हुविष्क के काल में साम्राज्य, कुछ एक क्षेत्रों के अलग होने से अतिरिक्त, ज्यों का त्यों रहा परन्तु वसुदेव प्रथम के काल में बहुत से क्षेत्र अलग हो स्वतन्त्र हो गए या अन्य राजवंशों ने हथया लिए। वसुदेव के काल तक मध्य भारत, पूर्वी भारत तथा पश्चिमी भारत से कुषाणों का राज्य समाप्त हो चुका था तथा उनका राज्य पंजाब, मथुरा तक ही सीमित रह गया था। मथुरा से आगे के क्षेत्र में बरेली इत्यादि क्षेत्रों में पांचाल राजाओं का उदय हो गया। इनमें अहिदत्रा से प्राप्त अच्यु नाम की मुद्राएं हैं जो प्रथम शताब्दी के अन्त तथा द्वितीय शताब्दी के प्रारम्भ की है। पंजाब, हरयाणा, उत्तरी राजस्थान इत्यादि क्षेत्रों में यौधयों ने कुषाणों को हरा अपना साम्राज्य फैला लिया। मथुरा में भी मारशिव नागों का अधिपत्य हो गया। हरयाणा के उत्तरी भागों, हिमाचल तथा उत्तरांचल में कुणिन्द स्वतन्त्र हो गए। राजस्थान में भी गणराज्यों ने स्वतन्त्रता घोषित कर कुषाण राज्य का अन्त कर दिया।

गुप्तों का उदय :- बिहार क्षेत्र में गुप्त राजाओं का उदय हो गया। राखलदास बैनर्जी का मत है कि गुप्तों के उदय के कारण कुषाणों का पतन हुआ। उनके विचार में चन्द्रकुप्त प्रथम ने विदेशियों के अधिपत्य के विरूद्ध राष्ट्रीय अभियान चलाया तथा मगध को स्वतन्त्र करा। परन्तु यह मत ठीक नहीं क्योंकि गुप्तों के उदय से पूर्व ही कुषाणों का राज्य मथुरा से आगे समाप्त हो चुका था।

ससानी साम्राज्य के आक्रमण :- ससानिद राजा शापुर प्रथम ने (241-72) में आक्रमण कर कुषाणों से अफगानिस्तान इत्यादि छीन लिया। घिर्समैन द्वारा करवाई बेग्राम की खुदाई से इस शहर को शापुर द्वारा ध्वस्त करने के प्रमाण मिले हैं। हर्जफिल्ड के अनुसार वहरान द्वितीय ने (276-93) कुषाणों शकस्थान, सिन्ध सौराष्ट्र मालवा छीन लिए।

पंजाब के नए विदेशी वंश :- पंजाब क्षेत्र में शक, शीलद गडहर इत्यादि जातियों का उदय हो गया क्योंकि इस क्षेत्र में इन के सिक्के प्राप्त होते हैं जो इनके स्वतन्त्र राज्य का प्रमाण है। इन कबालाई शक या कुषाणों ने पंजाब से कनिषक के वंशजों को भगा

दिया तथा समुद्र गुप्त के काल तक राज्य करते रहे जिसका प्रमाण एक गडहर सिक्के पर समुद्रगुप्त का लिखा नाम दर्शाता है। प्रयाग प्रशस्ति से ही इसी तरह के प्रमाण मिलते हैं।

आर्जुनायनों ने जयपूर आगरा क्षेत्र में अपने आप को कुषाणों से स्वतन्त्र करवा लिया। जबकि अजमेर, टोंक, मेवाड़ इत्यादि में मालव स्वतन्त्र हो गए। नान्दसा यूप अभिलेख से मालव श्री सोम के 225 ई में यज्ञ करवाने के प्रमाण हैं जो संभवतः उसने कुषाणों पर अपनी विजय के बाउ करवाया था। यौधेयों के सिक्कों पर भी यौधेय गणस्य जय के बाद द्वि तथा त्रि शब्द को विद्यवान यौधेयों की कुषाणों पर दूसरी तथा तीसरी विजय का द्योतक मानते हैं। प्रो. आल्तेकर का मत है कि कुषाणों के विरूद्ध भार शिव नागों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। वाराणसी मे अपनी विजय के उपलक्ष में उन्होंने दस अश्वमेघ यज्ञ किए। आज भी वहां दशाश्वमेघ घाट प्रसिद्ध है। बुन्देलखण्ड, इलाहबाद क्षेत्र में मघ वंश का उदय हो गया जिनका राजा रूद्र समुद्रगुप्त के समकालीन था। अयोध्या क्षेत्र पर मित्र अन्त नाम के राजाओं का क्षेत्र था। इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न क्षेत्रों में कुषाण राज्य को स्थानीय राजवंशों या गणराज्यों ने काफी नुकसान पहुँचाया तथा अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिए।

कुषाणों का प्रशासन

कुषाणों का साम्राज्य तत्कालीन अर्सासिद तथा ससानिद साम्राज्यों की तुलना मे काफी कम समय तक रहा परन्तु फिर भी इनका अपना महत्त्व भारत ही नहीं बल्कि एशिया के इतिहास में रहा।

दैविक उत्पत्ति का सिद्धान्त :- कुषाण राजाओं ने अपने आप को देवपुत्र की उपाधि से सजाया जिसका अर्थ भगवान का पुत्र होता है। सर्वप्रथम कुजुल कैडफिसस ने इस उपाधि का धारण किया। बाद में अन्य राजाओं ने भी अपने अभिलेखों में इस उपाधि का प्रयोग किया। जैसे कनिष्क की कोशम तथा माट से प्राप्त अभिलेख इत्यादि से पता चलता है। उन्होंने यह उपाधि शायद चीनी उपाधि 'स्वर्ग के पुत्र' के आधार पर ली। इसके अतिरिक्त वाशिष्क के एक लेख में देवपुत्र के अतिरिक्त देवमानुष (या देव पुरूष) भी लिखा मिलता है। इनका अर्थ है कि कुषाण अपने आप को भगवान का पुत्र तथा देवता जैसा ही मानते थे। उनके सिक्कों पर भी राजा को कभी बादलों पर तो कभी उनके कन्धों से लपटें निकलती दिखा उनके देवी उत्पत्ति के सिद्धान्त को आगे बढ़ाया गया है। इसके अतिरिक्त मथुरा में माट नामक स्थान पर कुषाणों के देव कुल में राजाओं की प्रतिमाएं स्थापित की गई थी जो पूजने के लिए ही रही थी। जो इनके काल तथा मत्यु के बाद भी पूजी जाती थी। रबताक अभिलेख से भी इसी प्रकार कनिष्क द्वारा अपनी तथा पूर्वजों की प्रतिमाएं स्थापित करने के प्रमाण हैं।

वंशानुगत राजतन्त्र :- कुषाणों का शासन राजतन्त्रात्मक प्रणाली पर आधारित था जो वंशानुगत था। पिता क पश्चात पुत्र राजा बनाता था। रबताक अभिलेख से कुजुल कैडफिसस (परदादा) के पुत्र सददक्षन (दादा) के पुत्र विमकैडफिसस (पिता) तथा स्वयं उसके पुत्र (स्वयं) कनिष्क तक वंशावलि दी गई है इसके पश्चात हमें अन्य साक्ष्यों से वाशिष्क, हुविष्क, वासुदेव इत्यादि का नाम मिलता है जो अपने पिता के पश्चात राजा बनते चले गए।

राजकुमार :- कभी–2 शाही प्रशासन में राजकुमार को भी संयुक्त रुप से प्रशासक बना लिया जाता था जैसा कि आरा अभिलेख से पता चलता है कि जिसमें कनिष्क अपने पुत्र वाशिष्क के साथ राज्य करता दिखाया गया है। इस तरह के उत्तराधिकारी को राजकीय उपाधि तो दी जाती थी परन्तु सिक्के चलाने का अधिकार नहीं था। इस तरह का संयुक्त प्रशासन भारत में अनभिज्ञ न था इससे पहले शकों के राजा ऐजिज प्रथम एजिलिसिस तथा एजिज द्वितीय के काम में हो चुका था।

राजा तथा उत्तराधिकारी का प्रशासन चलाने में अन्य अधिकारी भी थे। अभिलेखों से उनके मंत्रियों तथा मुख्यमंत्री का भी पता चलता है। इनमें सेनापति, महादण्डनायक, दण्डनायक, होरमुर्त इत्यादि थे। कभी–2 ये अधिकारी धार्मिक कार्यों की भी निगरानी करते जैसे हुविष्क के काल में महादण्डनायक को बकानपति (या मन्दिर की देखरेख करने वाला) का कार्य भी दिया गया था जो शायद शाही देव कुल की देखरेख करता था। मनिकयाल अभिलेख से कनिष्क के दण्डनायक वेशपाशि को होरमुर्त या चढ़ावे का स्वामी (donation-master) कहा गया है जो कि उनके विहार में नियुक्त था। हमें यह पता नहीं है कि राज्य के ये अधिकारी क्या नकद वेतन पाते थे या इन्हें किसी अन्य प्रकार से वेतन मिलता है। कभी–2 तो किन्ही अधिकारियों को नकद वेतन के बदले जमीन इत्यादि भी दे दी जाती थी।

सेना प्रबन्धन :- कुषाणों के साम्राज्य विस्तार में सेना का बहुत महत्त्व था सेना के बड़े–2 अधिकारी तो थे ही परन्तु कनिष्क प्रथम के स्वयं सेना का संचालन करने का पता है। कुषाण सेना में पैदल, अश्वारोही, तीरन्दाज, हाथी इत्यादि थे। उनके सैनिक शास्त्रों का पता हमें उनके सिक्कों से पता चलता है जिनमें तलवार, भाला तीर कमान, गदा, त्रिशूल, दरांती (Scythe) इत्यादि थे। महादण्डनायक (मुख्य सेनापति) दण्डनायक (सेनापति) के अतिरिक्त मथुरा अभिलेख से हमें एक अन्य सैनिक अधिकारी बलाधिक या बलाध्यक्ष का पता चलता है जो (Superior) सेना का अध्यक्ष रहा होगा। यह नहीं कहा जा सकता कि क्या कुषाणों के पास नौसेना थी या नहीं।

क्षत्रप प्रणाली :- कुषाणों ने क्षत्रप प्रणाली का प्रयोग अपने प्रशासन में किया था। उन्होंने अपने राज्य को बहुत से भागों (Strapies) में बांटा था जहां प्रशासन के लिए महाक्षत्रप नियुक्त किए थे जिनके प्रमाण हमें अभिलेखों से मिलते हैं। कभी–2 महाक्षत्रप के साथ क्षत्रप की नियुक्ति भी की जाती थी। महाक्षत्रप खरपल्लान तथा क्षत्रप वनस्पर बनारस क्षेत्र के प्रशासक थे क्षत्रप लिपक, क्षत्रप वेशपशि क्षत्रप अवखझद उत्तरपश्चिमी भारत क्षत्रप गणभरयक कपिशा का प्रशासन देखते थे इसके अतिरिक्त अन्य बहुत से उदाहरण इस काल के हमें प्राप्त होते हैं।

कुषाणों के साम्राज्य में विषय तथा मुक्ति शब्द भी साहित्य से मिलता है गुप्त अभिलेखों में मुक्ति प्रदेश तथा विषय जिले के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसके अतिरिक्त पश्चिमी भारतीय अभिलेखों में आहार नाम मिलता है जो कि कुछ गांवों के ऊपर की एक प्रशासनिक इकाई था। सांची के एक अभिलेख में उज्जैनी आहार का वर्णन है जो कुषाण साम्राज्य में था। सबसे निचली इकाई गांव थी। जिसका प्रशासेक ग्रामिक था। मथुरा अभिलेख में वासुदेव प्रथम के काल के एक ग्रामिक का संदर्भ है। एक अन्य मथुरा अभिलेख (वर्ष 40) में पिता तथा पुत्र दोनों को ग्रामिक उपाधि का वर्णन है। इसी तरह कनिष्क प्रथम की दूरा अभिलेख (वर्ष 16) में वंशानुगत ग्राम प्रमुख का वर्णन है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि ग्रामिक का पद वंशानुगत था जिनकी जुम्मेवारी कानून तथा व्यवस्था की थी।

कुषाण काल में हमें कनिष्क प्रथम के एक अभिलेख में वहारी (या वहारिक) का संदर्भ है जो कि संस्कृत का व्यवहारिक ही होगा। मौर्य काल में हमें व्यवहारिक तथा नगर व्यवहारिकों का पता चलता है जो कि मैजिस्ट्रैट थे। इस काल में भी इनका काम न्यायव्यवस्था सम्बन्धित रहा होगा।

कुषाण काल में हमें सीमान्त क्षेत्रों में किलाबन्द निगरानी चौकी (fortified watch stations) का संदर्भ मिलता है जिनके अधिकारी की उपाधि करल्रान्गो (lord of marches)। ये सैन्य कार्यों के अतिरिक्त शायद कस्टम चौकी (custom houses) का भी कार्य करती होगीं।

वित्तीय प्रबन्धन :- कुषाण काल में आर्थिक समद्धि काफी अधिक थी तथा लोग काफी अच्छी तरह से रह रहे थे। कुछ संदर्भ हमें इस काल में सामन्तों तथा बड़े–2 लोगों के उन द्वारा उत्कीर्ण अभिलेखों से मिलते हैं गहपतियों इत्यादि धार्मिक कार्यों के लिए दान देने के उपलक्ष में बनाई गई थी।

राज्य की आय में युद्ध से प्राप्त लूटपाट तथा हर्जाने इत्यादि का भी योगदान था। चीनी साक्ष्यों से हमें पता चलता है कि कनिष्क के पाटलीपुत्र अभियान से उसे अश्वघोष नामक विद्यवान के अतिरिक्त अपार धन मिला। अपने आधीन राजाओं तथा राज्यों से भी सालान कर प्राप्त किया जाता था। चीनी साक्ष्य हाऊ हान शू से पता चलता है कि कुषाणों के निचली सिंक क्षेत्र की विजय से वे बहुत अमीर तथा शक्तिशाली बन गए थे। इसी साक्ष्य से हमें भारतीय रोमन व्यापार का भी पता चलता था जो भारत के पक्ष में था रोमन लेखकों ने भी बड़े दुःख होकर लिखा है कि वहां के अमीर लोगों की फजूलखर्ची के कारण बहुत सा धन भारत चला जाता है। कुषाणों के सीमान्ता क्षेत्रों मे निगरानी चौकियां (custom posts) का वर्णन है जहां शुल्क (Toll tax, duties) इक्ट्ठा किया जाता था।

कुषाणों द्वारा बड़ी मात्रा में सोने तथा ताम्बे सिक्कों के प्रचलन से पता चलता है कि टैक्स इत्यादि सिक्कों में भी लिए जाते थे परन्तु इसके अतिरिक्त अन्य साधनों द्वारा भी कर वसुला जाता था। बेग्राम की खुदाई से कुषाण काल का एक बड़ा शाही गोदाम मिला है जिसे मार्टिमर व्हीलर उस समय का कस्टम डिपो मानते हैं। जहां बाहरी व्यापार से शुक्ल वस्तुओं इत्यादि (kind) में इकत्र किया जाता था। कुछ अभिलेखों से पता चलता है कि उनका खजाना बहुत से कीमती पत्थरों तथा धातुओं से भरा था। यह भी इन कीमती पत्थरों तथा धातुओं के रुप में कर वसूलने की बात सिद्ध करता है।

खदानों से राज्य की आय का वर्णन हमें चीनी साक्ष्य से लगता है। मा त्वान लिन (Ma Tuan Lin) ने लिखा है कि यू–ची क्षेत्र (कुषाणों) में पहाड़ों से बहुत से कीमती पत्थर तथा धातुएं निकाली जाती थी। अर्थशास्त्र में खनन कार्य पर राज्य का नियंत्रण था शायद इस काल में भी ऐसा ही होगा। तारानाथ नाम तिब्बतीय विद्यवान ने कनिष्क प्रथम के काल में सांची क्षेत्र में उसी समय हुई रत्नों (diamonds) की खदानों से बहुत समद्धि होने की बात लिखी है। इसी तरह अक्कार (मध्य प्रदेश का मालवा क्षेत्र) में भी रत्नों की खानों का टालमी (Ptolmy) ने वर्णन किया है। इस क्षेत्र में कुषाणों का अधिपत्य कनिष्क के समय से रहा है।

क्या इस काल में आम लोगों पर भाग भोग या कर जैसे कर लगाए जाते थे जिसका प्रमाण कुषाण से पहले मिलता है? यह कह पाना कठिन है क्योंकि हमें इसके सीधे प्रमाण नहीं मिलते। परन्तु समकालीन सातवाहन तथा क्षत्रप साक्ष्यों से इस तरह के कर होने की बात है। कुषाण काल में भी इस तरह के कर रहे होगें। क्योंकि करों से प्राप्त आय से ही तो कुषाण राजा इतने अधिक सोने के सिक्के चला सके। कुषाण काल में चांदी की आहत मुद्राओं को चलते रहने के प्रमाण अभिलेखों में मिलते हैं, जैसे मथुरा से प्राप्त वर्ष 28 के अभिलेख से, इसके अतिरिक्त सिन्ध में कुषाणों ने चांदी के सिक्के भी चलाए ताकि उस क्षेत्र में चल रहे चांदी के सिक्कों की तरह उनका भी व्यापार में प्रचलन हो सके।

कुषाणों के सोने के सिक्कों कें मध्य एशिय, रोमन क्षेत्र तक पाए जाने से कुषाणों के अन्तराष्ट्रीय व्यापार का सीधा–सीधा प्रमाण मिलता है। कुषाणों ने अपने सिक्के रोमन भार प्रणाली पर चला व्यापार में काफी आसानी ला दी थी।

कुषाणों अभिलेखों से हमें वणिक, सार्थवाह (दूसरी जगह जाकर व्यापार करने वाला) व्यवहारिक (व्यापारी या मैजिस्ट्रेट?) श्रेष्ठिन (श्रेणियों का अध्यक्ष) तथा श्रेणियों (व्यापारियों का संघ) इत्यादि का पता चलता है। व्यवहारी परिवार का मथुरा के अभिलेख से। सेरठी का कारला अभिलेख से, कुछ सिक्कों गन्धिकों (Perfume dealer) की श्रेणी का पता चलता है जो सिक्कों भी चलाती थी। इसके अतिरिक्त लोहवणिज, बदिक इत्यादि द्वारा दान देने के भी प्रमाण हैं। कनिष्क संवत 28 की एक अभिलेख से एक श्रेणी का वर्णन है जिसने अक्षनीवी (Perpetual Endowment) पुराण नाम सिक्कों में दिया तथा कुछ भलाई के कामों के लिए दो श्रेणियों को नियुक्त किया। इस तरह हम इस काल में इन श्रेणियों को एक बैंक के रुप में भी देख सकते हैं जिनके पास जमा पैसे के ब्याज की आय से धार्मिक कार्य करने के प्रमाण हमारे पास हैं। रूद्रदामन जो पहले कुषाणों के आधीन था के एक अभिलेख से पता चलता है कि उसने नगरों, निगमों (market road or emporium) तथा गैर नगरीय क्षेत्रों को भी चोर डकैतों जंगली जानवरों इत्यादि से सुरक्षित कर दिया। इसका मतलब है कि नगर तथा ग्रामीण क्षेत्रों दोनों की सुरक्षा राज्य का काम था जो लोगों से कर वसुलने के ऐवज में राज्य का काम था।

कुषाण काल में मौर्य काल की तरह व्यापार पर राज्य का नियंत्रण नहीं था। खनन पर तो राज्य का ऐकाधिकार था न ही उन्होंने समान भार प्रणाली (Common weight system) को लागू किया अलग–2 स्थानों पर अलग–2 भाग प्रणाली थी। तक्षशिला में यह 52.2 ग्रेन थी जो चांदी के सिक्के कार्षापणों पर आधारित थी। मथुरा से आधक का वर्णन है तथा साथ ही प्रस्थ (1/4 of आधक) घटक (द्रोण) तथा मल्लक का वर्णन है। जो उस समय के सतेर (स्टेटर) द्रम (ड्रैकम) इत्यादि पर आधारित थी। कुषाणों की राज्य की कोई कारखाने या इण्डस्ट्री नहीं थी उनका व्यापार से शुल्क इक्ट्ठा कर के ही प्रमाण हैं। बड़े टैक्स को सिक्कों में दिया जाता था। कभी–2 व्यापारियों को भी शुल्क इत्यादि इक्ट्ठा करने लगा दिया जाता था जिसका प्रमाण चीनी साक्ष्य यु यांग त्स शु (yu-yang-tsa tsu) से मिलता है जहां कनिष्क को एक व्यापारी से किसी घटना का स्पष्टीकरण मांगते दिखाया गया है। क्योंकि राज्य के वित्तीय संसाधनों को दुरूस्त रखने में वे राज्य का साथ देते थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कुषाण काल में राज्य में बहुत समद्धि थी जो कि उनके क्षेत्र, विशेष कर निचले सिन्ध क्षेत्र, की कृषि उपज, अन्तराष्ट्रीय व्यापार, खनन, अधीनस्थ राज्यों से करों इत्यादि से प्राप्त आय से थी। प्राप्त साक्ष्यों कें अनुसार उनका खजाना रत्न, मणियों कीमती पत्थरों धातुओं से भरा पड़ा था। आम लोगों की समद्धि का पता हमें उस काल के व्यापारियों, श्रेणियों द्वारा किए धार्मिक कार्य, विहार निर्माण, मुर्तियां लगवाने तथा अन्य कार्यों से लगता है। उत्खनन से इस काल के नगरों की समद्धि का पता चलता है। जितना नगरीकरण इस काल में हुआ उतना कभी नहीं हुआ। बड़ी मात्रा में सिक्कों का प्रचलन था जो सोने तथा ताम्बे इत्यादि के थे। इससे उस काल के समद्ध व्यापार का पता चलता है। यदि चीनी तथा बौद्ध साक्ष्यों को माना जाए तो लोगों की आर्थिक स्थिति इस काल में बहुत अच्छी थी कम से कम नगरों के बारे में तो हम यह कह ही सकते हैं। जहां पक्की इंटों के घर बनवाए जाते थे तथा बड़ी–2 इमारतों, मन्दिरों, बौद्ध विहारों, चैत्यो इत्यादि का निर्माण करवाया गया। इसी कारण बहुत से विद्यवान कुषाण काल को भारत का स्वर्णिम युग कहते हैं।

गणराज्य (The Republics)

गणराज्य (The Republics)

उत्तरपश्चिमी भारत में सिकन्दर के आक्रमण के समय बहुत से गणराज्य या गणतन्त्रात्मक शासन वाले कबीलों का बोलबाला था। इनमें से अधिकतर ने सिकन्दर का डट कर मुकाबला किया। इन्ही कबीलों में से एक से लड़ाई के दौरान सिकन्दर घायल हो गया था तथा उसकी बैबीलोन में मत्यु हो गई थी। इन्ही में से कुछ तो रातन्त्रात्मक कबीले या राज्य भी थे। इनका आपस में भी झगड़ा यदा कदा होता रहता था तथा इनके इसी संघर्ष में कुछ गणतन्त्रात्मक कबीलों ने तो अपना अस्तित्व भी खो दिया था। इन गणतन्त्रात्मक राज्यों में झेलम और चनाब के मध्य राज्य वाले काठ या कठाई। इन्ही के समीप के क्षेत्र के शिबी या सिबोई, झेलम तथा चनाब के संगम पर राज्य कर रहे क्षुद्रक, रावी के नीचे वाले भाग में मालव या मल्लोई इत्यादि प्रमुख थे। परन्तु मौर्य साम्राज्य के फैलाव में इन सबको अपना अस्तिव खोना पड़ा। कुछ कबीलों या गण राज्यों को तो अपना क्षेत्र छोड़ दूसरे स्थानों पर जाना पड़ा जैसे मालव अपने प्रारम्भिक क्षेत्र से पंजाब के पूर्वी भाग रोपड़, पटियाला, लुधियाना, संगरुर, भटिंडा, फिरोजपुर इत्यादि में बसे तथा उन्हीं के कारण सतलुज तथा घग्गर का क्षेत्र मालवा कहलाया। इसके बाल पुनः इन्हें यहां से मध्य प्रदेश के आज के मालवा क्षेत्र में जाना पड़ा जो नाम भी इसी कबीले के नाम पर है। यहीं से इनकी मुद्राएं प्राप्त होती हैं। परन्तु मौर्य काल के अन्त के काल में तथा शुंगों के काल में जब सीमान्त प्रदेश पर केन्द्रिय शासन ढीला पड़ गया तो इन गणराण्यिक कबीलों ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर अपने सिक्के चलाने शुरू कर दिए। द्वितीय शताब्दी के आसपास जिन गणराज्यों का स्वतन्त्र स्वरुप हमें मिलता है उन में यौधेय, औयुम्बर, कुणिन्द, राजन्य इत्यादि प्रमुख हैं अपनी इस विजय के उपलक्ष में इन्होने अपने सिक्कों पर आर्जुनायानाम् जय, यौधेयगणस्य जय, मालवगणस्य जय इत्यादि अंकित भी किया। इस काल में इन गणराज्यों में गैर–राजतन्त्रात्मक शासन था क्योंकि इनकी सत्ता राजा के हाथ में न हो कर गण के सदस्यों के हाथ में थी। परन्तु कुछ कबीलों का शासन राजतन्त्रात्मक रुप से भी चलता था जैसे औयुम्बरों के सिक्कों पर राजाओं के नाम हैं जिन में शिवदास, रुद्रदास घरघोष महादेव इत्यादि है। इन गणराज्यों का वर्णन पाणिनी ने अपनी अष्टाध्यायी में किया है।

(a) यौधेय

उत्तरपश्चिमी भारत के गणराज्यों में सबसे प्रमुख स्थान यौधेयों का है। इनके बारे में सबसे पुराना संदर्भ पाणिनी की अष्टाध्यायी में मिलता है जो कि ई. पूर्व पांचवी सदी की है। यहां पर इन्हे आयुध जीवी संघ कहा गया है यानि की आयुध (शस्त्रों) से आजीविका कमाने वाले। पतजलि ने भी अपने महाभाष्य में इनका वर्णन किया है। महाभारत में इन्हें शिबी, त्रिगर्त के साथ ही बताया गया है। द्वितीय शताब्दी (150 A.D.) की रुद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख भी इनका वर्णन है। रुद्रदामन ने इन्हें हराने में गर्व महसूस किया (सर्व क्षत्राविष्कृत वीर शब्दजातोत्सेका विधेयानाम याधेयानाम)। इस से हमें उस काल में याधेयो को शक्ति तथा महत्त्व का पता चलता है। तीसरी सदी की विजयगढ़ अभिलेख से हमें याद्येयों के महाराज, महासेनपति का वर्णन मिलता है जो इनका नेता था। समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में भी जिन गणराज्यों को समुद्रगुप्त ने हराये था उनमें याधेयों का नाम भी है। महाम्यूरी में यौधेयों के दक्ष को भारज के उत्तरी क्षेत्र में राज्य करने वाले बताया है। कई पुराणों में भी यौधेयों का वर्णन है जहां इन्हें मध्यदेश में रहने वाले बताया गया है। चन्द्रगोमिन की चन्द्रव्याकरण तथा काशिका में भी याधेयों के बारे में संदर्भ है : दसवीं सदी की लिखी सोमदेवसूरी के यशस्तिलक में याद्येय क्षेत्र पटियाला जिले की तहसील राजपुरा होगा। ग्यारहवीं सदी के एक व्याकरण ग्रन्थ सरस्वतीकण्ठकभरण तथा बारहवी सदी के वैजयन्ति में भी क्रमशः यौधेयों तथा उनके क्षेत्र के संदर्भ हैं।

उत्पत्ति (origin) :- महाभारत में याधेय गण के अतिरिक्त देवकी से उत्पन्न युधिष्ठिर के पुत्र यौधेय का संदर्भ है। इसी प्रकार का वर्णन मत्स्य पुराण में भी है। इसी कारण कई विद्यवान यौधेयों को युधिष्ठिर की सन्तान मानते है। हरिवंश के अनुसार याधेय उशीनर के वंशज है। वायु, ब्रह्माण्ड, ब्रह्मा तथा कई अन्य पुराण भी इन्हे उशीनर से उत्पन्न मानते हैं। पारजीटर नामक विद्यवान के अनुसार उशीनर ने याधेयों, अम्बश्ठों, नवराष्ट्रों को कृमिल नगर में स्थापित किया जो पंजाब के पूर्वी सीमा का शहर था। महाभारत में नकुल की पश्चिमी विजय के वर्णन में बहुधायक क्षेत्र का वर्णन है। इसी प्रकार महाम्पुरी में भी इसी नाम के संदर्भ हैं। रोहतक के खोखरा कोट से सर्व प्रथम यौधेयों के सिक्के तथा ठप्पे प्राप्त हुए जिन पर यौधेयानाम बहुधायके लिखा है। इससे पता चलता है कि यह

शहर इनका एक महत्त्वपूर्ण नगर, टकसाल तथा संभवतः राज्धानी भी था। महाभारत में भी इस क्षेत्र तथा इसके आसपास के क्षेत्र का यौधेय क्षेत्र में वर्णन है महाम्यूरी में भी रोहितक से सम्बन्ध पता चलता है।

राज्यकाल तथा क्षेत्र :- साहित्यिक साक्ष्यें से यद्यपि हमें याधेयों के ई. पूर्व पांचवी सदी से लेकर बाहरवीं सदी तक प्रमाण मिलते हैं । परन्तु इतने दीर्घकाल में इनका स्वतन्त्र शासन कदापि नहीं रहा। पाणिनी ने इनका वर्णन किया है परन्तु जब सिकन्दर का आक्रमण हुआ उस समय के छोटे–2 राज्यों तथा गणराज्यों में यौधेयों का वर्णन नहीं है। कनिंघम के अनुसार अबस्तनई (Abastanai) जिन्हे पेरदिक्को (Perdikkas) ने हराया था उन्हें जोहिया राजपूतों से सम्बधित माना जा सकता है। से जोहिया यौधेयों के वंशज थे। जयस्वाल नामक विद्यवान के अनुसार युनानी लेखेकों ने जिस बिना नाम वाले गणराज्य का वर्णन ब्यास नदी के इस पार किया है वह यौधेय ही है। क्योंकि इस क्षेत्र को बहुत उपजाऊ तथा यहां के निवासियों को अच्छे कृषक तथा युद्ध में वीर कहा है। यह वर्णन यौधयों पर ठीक बैठता है।

परन्तु इाके स्वतन्त्र रुप से राज्य करने के तथा सिक्कों के ढालने के प्रमाण हमें द्वितीय सदी ई. पूर्व से लेकर चतुर्थ सदी तक मिलते है। समुद्रगुप्त के अभिलेख में यौधेयों को हराने का वर्णन है तथा इसके बाद इन्होंने कभी भी स्वतन्त्र रुप से राज्य नहीं किया यद्यपि इनके संदर्भ किसी न किसी रुप में 12वीं शताब्दी तक प्राप्त होते हैं।

राज्यविस्तार :- यौधयों के राज्य के विस्तार के बारे में विद्यवानों में काफी भ्रान्तियां रही हैं। वे इन्हे पाकिस्तान के भावलपुर क्षेत्र से पश्चिमी उत्तरप्रदेश तक के पंजाब हरयाणा, दिल्ली, उत्तरी राजस्थान (भरतपुर क्षेत्र) में राज्य करते बताते हैं। परन्तु इनके अलग–2 समय के राज्य का पता हमें इनके सिक्कों की प्राप्ति से भली भांति लग जाता है प्रथम चरण में यौधेयों ने द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व में अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर सिक्के चलाए जिन पर इनके प्रारम्भिक क्षेत्र बहुधायक (रोहतक क्षेत्र) का नाम मिलता है। (यौधेयानाम बहुधायके) ये सिक्के रोहतक (खोखर कोट), नौरंगाबाद, बामला क्षेत्र, पूर्व में हस्तिनापूर के आसपास के क्षेत्र, पश्चिम में कुरूक्षेत्र से आगे घग्गर नदी तक प्राप्त होते हैं। हिसार अग्रोहा क्षेत्र में इस समय अग्र या आगाच जनपद का क्षेत्र था। यहां ये सिक्के प्राप्त नहीं होते। प्रथम शताब्दी के आसपास उत्तरी भारत में शको का अधिपत्य हो गया तथा उन्होने अपनी राजधानी मथुरा बनाई।

द्वितीय चरण में यौधेयों को अपना क्षेत्र छोड़ कर उत्तरांचल के पहाड़ी क्षेत्रों में जाकर शरण लेनी पड़ी। वहां पर इन्होने जो सिक्के ढाले उन पर इनके कुल देव कार्त्तिकेय का चित्रण है। इस समय ये लोग अपने ईष्ट देव के नाम पर राज्य कर रहे थे।

तीसरे चरण में द्वितीय शताब्दी में ये लोग राजस्थान के क्षेत्र में रह रहे थे क्योंकि रुद्रदामन का इनको हराना इस गण के राजस्थान में रहने के द्योतक हैं। अपनी इस हार के कारण तथा क्षत्रयों के प्रभाव के कारण इस काल के मुद्रांको (Seals) पर हमें इनके महाक्षत्रय, महासेनापति उपाधियें का वर्णन मिलता है। शायद शक क्षत्रयों का सामना करने के लिए इन्होंने राजन्त्रात्मक प्रणाली अपना ली होगी।

अपने राज्य के अन्तिम चरण में इनका क्षेत्र काफी व्यापक हो गया था। कुषाणों को हरा इन्होने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर यौधेयगणस्य जय लेख वाले सिक्के चलाए तथा चतुर्थ सदी में समुद्रगुप्त के काल तक ये राज्य करते रहे। इस समय में इनका राज्य विस्तार पाकिस्तान में भावलपूर से लेकर पंजाब (भारत) के अधिकतर प्रदेश हरियाणा, दिल्ली, पश्चिमी उत्तरप्रदेश, उत्तरांचल का कुछ भाग तथा राजस्थान के उत्तरी क्षेत्र तक था।

सिक्के :- यौधेयों ने ताम्बे तथा चान्दी दोनों धातुओं मे सिक्के चलाए। चान्दी के तो एक ही प्रकार (छः सिर वाले कार्त्तिकेय प्रकार) के सिक्के मिलते हैं जबकि अधिकतर सिक्के ताम्बे के हैं। एलन नामक विद्यवान ने इनके सिक्कों को छः प्रकारों में बांटा है जिस वर्गीकरण को अधिकतर विद्यवान आंख मूंद कर मानते रहे। परन्तु इन में दो प्रकार के सिक्कों को हम इन से नहीं जोड़ सकते। इन में एलन का प्रथम प्रकार जिन पर केवल चिन्ह है तथा महाराज लिखा है। एक अन्य प्रकार, जिस पर मानुव या रावणस्य लिखा है, यह भी यौधेयों की प्रकार नहीं बल्कि पश्चिम उत्तर प्रदेश के किसी राजवंश के सिक्के रहे होंगे।

यौधेयों के प्राचीनत्तम सिक्के के गोलाकार, सिक्कों के एक तरफ बैल तथा ब्राह्मी लेख यौधेयानाम बहुधायक है तथा दूसरी तरफ हाथी है। इसी काल के एक अन्य प्रकार जो कि आयताकार है पर बैल तथा यौधेयानाम लिखा है तथा पष्ठ भाग खाली है।

प्रथम सदी के आसपास यौधेयों ने जो सिक्के चलाए वे चान्दी तथा ताम्बे के हैं इनके अग्रभाग पर छः सिर वाला कार्त्तिकेय खड़ा है तथा ब्राह्मी लेख भागवत स्वामिनों ब्रह्यण्य देवस्य कुमारस्य या भागवत स्वामिनों ब्राह्मण्य यौधेय है। ततीय, चतुर्थ सदी के यौधेय सिक्के ताम्बे के हैं जिनके अग्रभाग पर एक सिर वाले कार्त्तिकेय का भाला लिए हुए चित्रण के साथ यौधेयगणस्य जय लेख है जबकि पष्ठ भाग पर दाईं तरफ चलती देवी बनी है। कई बार अग्रभाग पर 'द्वि' या 'त्रि' शब्द लिखे मिलते हैं जिन्हे विद्यवान द्वितीय तथा ततीय का छोटा रुप मानते हैं। इसका अर्थ क्या है इस बारे में विद्यवानों के मत भिन्न हैं। कुछ इन्हे यौधेयों की द्वितीय गणसदस्य तथा त्रितीय सदस्य का द्योतक मानते है कुछ इसे दूसरी तथा तीसरी टकसाल का सूचक मानते हैं। स्वामी ओमानन्द तो इन्हे यौधेयों की कुषाणों पर दूसरी तथा तीसरी विजय सूचक मानते हैं।

यौधेयगण की शासन प्रणाली :-

पाणिनी ने यौधेयों को एक गण (republic) कहा है तथा आयुध जीवी संघ की संज्ञा दी है। जिसका अथ है कि ये लोग अपनी शस्त्रों से ही या सैनिक कार्यों से ही अर्जित करते थे। इस प्रकार इनका समीकरण हम युनानी नगर राज्य सपार्टा से कर सकते हैं। अपने इस शस्त्र बल के आधार पर ही ये द्वितीय शताब्दी ई. पूर्व में मौय या संभवतः शुंग शासन के अन्तिम चरणों में स्वतन्त्र हो गए। शकों, कुषाणों के काल में इन्हे अपने क्षेत्र को छोड़ कर पहाड़ी क्षेत्र में जाना पड़ा परन्तु कुषाणों के बाद इन्होने पुनः मैदानी क्षेत्रों को विजय कर अपना स्वतन्त्र राज्य बनाया। अपने गण को इस समय उन्होने अपने ईष्ट देवता को अर्पित कर संकट की घड़ी में उसी के नाम से शासन करने लगे। प्रथम सदी के इनके सिक्कों के लेख से हमें इसका पता चलता है। प्रो. अनन्त सदाशिव अलतेकर का विचार है कि यौधेयों ने कुणिन्दों तथा आर्जुनायनों के साथ मिल कर एक संघ का निर्माण किया हुआ था तथा इस संयुक्त संघ की सेना तथा विदेश नीति का संचालन एक कांऊसिल करती थी जिसमें तीनों गण अपने सदस्य चुनते थे परन्तु यह केवल एक अवधारणा ही प्रतीत होती है, क्योंकि इस तरह के प्रमाण हमें प्राप्त नहीं होते हैं। विजयगढ़, अग्रोहा तथा खोखर कोट (रोहतक) से हमें कुछ ऐसे मुद्रांक तो प्राप्त हुए हैं जिन में यौधेय संघ के प्रमुख महाराज महासेनापति या महाश्रत्रय इत्यादि लिखे मिलते तो है परन्तु इस बात का प्रमाण नहीं है कि क्या वह पूरे संघ का नेता भी था। जहां तक महाराज शब्द का प्रयोग का प्रश्न है वह इस कारण हो सकता है कि कुछ समय के लिए यौधेयों ने शकों के विरुद्ध (रुद्रदामन) प्रभावी ढ़ंग से लड़ने के लिए अपने सभी अधिकार एकल शासक को दे दिए थे जो उनका महासेनापति था। परन्तु इस तरह के कामचलाऊ प्रावधान से गण संविधान पूरी तरह समाप्त नहीं हुआ था। इसके बाद पुनः उन्होने अपने सिक्के गण के नाम से चलाए। त्रितीय तथा चतुर्थ सदी के इन सिक्कों पर किसी महाराज–महासेनपपति या महाक्षत्रय का नाम नहीं है केवल यौधेय गणस्य जय अंकित है।

(b) कुणिन्द

उत्तरपश्चिमी भारत का एक अन्य गणराज्य कुणिन्दों का था जिन्हे साहित्य में कुलिन्द, कौणिन्द, कौलिन्द इत्यादि नामों से भी जाना जाता है। महाभारत में इस गण या कबीले (tribe) के बारे में यदा कदा संदर्भ आते हैं। यहां इन्हे पैशाच, अम्बष्ठ, बर्बर इत्यादि लोगों के साथ रखा है जो पहाड़ी क्षेत्र में रहते थे। रामायण में भी कुणिन्दों के बारे में संदर्भ है। महाम्यूरी में कुलिन्द एक स्थान का नाम दिया गया है जिसका यक्ष उष्ट्रपाद था। शायद यह नाम इस कबीले के करण पड़ा हो। वराहमिहिर की वहत्संहिता में इन्हे उत्तरपूर्व के काश्मीरियों, कुलूतों तथा सीरिन्धरों के साथ रखा है। वायु, ब्रह्माण्ड भागवल तथा मार्कण्डेय इत्यादि पुराणों में भी इनका वर्णन है। टॉलमी (Ptolemy) की पुस्तक ज्याग्रफी में ब्यास, सतलुज, यमुना तथा गंगा के निकलने के पहाड़ी स्थान का नाम कुलिन्द्रेन (Kulindrene) दिया है जिसे हमें कुलिन्द या कुणिन्दों से सम्बन्धित मान सकते हैं। महाभारत में भी इन्हें पर्वतवासी माना है। इसी तरह वाग्भट्ट के ग्रन्थ काव्यानुशासन में भी कुलिन्द नामक पर्वत का संदर्भ है जिसे कुणिन्दों के क्षेत्र में होन के कारण नाम दिया गया हो। कुणिन्दों के पर्वतीय क्षेत्र के होने का प्रमाण इनके सिक्कों की प्राप्ति के स्थानों से भी मिलता है। कनिंघन के अनुसार कुणिन्द सतलुजके पहाड़ी क्षेत्र में रहते थे परन्तु एलन महोदय का कहना है कि कुणिन्द शिवालिक पवर्तों में यमुना तथा सतलुज के बीच ब्यास एवं सतलुज के उपरी भाग में रहते थे। इनके सिक्के गणवाल, हिमाचल में ज्वालामुखी, स्तपामेवा क्षेत्र, पंजाब में रोपड़, सुनेत संघोल, हरियाणा में करनाल, सुघ (यमुना नगर) इत्यादि क्षेत्र में मिलते हैं। रोपड़ के उत्खनन में इनके सिक्के उन स्तहों से प्राप्त हुए हैं जिनकी तिथि 100 ई. पूर्व से 100 ई. के मध्य है। सिक्कों पर मिले लेखों से भी हमें इसी प्रकार के प्रमाण मिलते हैं।

सिक्के :- प्राचीन गणराज्यों में कुणिन्द गणराज्य ही अकेला ऐसा राज्य है जिन्होंने काफी मात्रा में चान्दी के सिक्के चलाए। यह उनकी समद्ध आर्थिक स्थिति का द्योतक है। इनका क्षेत्र पहाड़ी तथा मैदानी क्षेत्रों के बीच का था जिससे इन्हे व्यापार में काफी लाभ रहता होगा। मैदानों के अनाज को वे पहाड़ी क्षेत्रों में भेजते थे तथा पहाड़ों की वस्तु मैदानों में विनिमय करते थे। इसी कारण उन्हे तान्बे के सिक्कों (जो स्थानीय व्यापार के लिए प्रयुक्त होते थे) के अतिरिक्त दूरदराज के क्षेत्रों में व्यापार के लिए चान्दी के सिक्कों की जरुरत पड़ी ये सिक्के अर्द्ध डैकम (Drachm) भार के थे तथा रेशम व्यापार प्रमुख केन्ह तक्षशिला (Taxila) से भी प्राप्त हुए हैं। इनके सिक्के दो भागों में बांटे गए हैं प्रथम चान्दी तथा ताम्बे के हैं जिन पर अग्रभाग पर लक्ष्मी, हिरण तथा अन्य चिन्हों के साथ ब्राह्मी लेख रा कुणिन्दस अमोघभूतिस महाराज लिखा है जबकि पष्ठ भाग पर चिन्ह तथा खोष्ठी (Khrosthi) लेख जो कि अग्र भाग के लेख के समान है। खोष्ठी का प्रयोग इस बात का द्योतक है कि उत्तरपश्चिमी भारत में, जहां इसका प्रयोग होता था, कुणिन्दों के सिक्के व्यापार में चलते थे। दूसरे प्रकार के सिक्के ताम्बे के हैं जिन पर अग्रभाग पर इनके ईष्ट देव शिव (क्षेत्रश्वर) को दिखाया गया है तथा लेख ब्राह्मी में है जो भागवत् क्षेत्रश्वर महात्मनः है। पष्ठ भाग पर केवल कुछ चिन्ह है। यं सिक्के उन्होने उस समय चलाए

जब वे अपना राज्य उपने देव को समर्पित कर शासन कर रहे थे। इसी तरह के प्रमाण अन्य गणराज्यों में भी इस काल में मिलते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि एक प्रकार में तो कुणिन्द नाम मिलता है तथा दूसरे में नहीं।

शासन प्रणाली :- प्राचीन काल के गणराज्यों के समान कुणिन्दों का शासन भी गणतन्त्रात्मक ही था। जिसमें सैकड़ों ही कुल थे। महाभारत में कुणिन्दों को कुणिन्दशत सन्कुलम कहा गया है। इस से इस बात का अन्दाजा लगाया जा सकता है कि इन सैकड़ों कुल मिल कर एक संघ बनाया था। इस प्रकार के संविधान में इन कुलों के प्रतिनिधियों की एक सभा होती थी जो अपना एक मुखिया चुनती थी। जिसे राजा कहा जाता था कुणिन्दों के एक ऐसे राजा अमोघभूति के सिक्के हमें प्राप्त होते हैं जिन पर राजनः कुणिन्दस अमोघभुतिस महाराज लिखा है जिसका अर्थ है कि यह सिक्का महाराज अमोघभूति का है जो कुणिन्दों का राजा है। परन्तु परमेश्वरी लाल गुप्त राजा तथा महाराजा इक्ट्ठे लिखने को गलत मानते हैं उनके अनुसार राजानः शायद राजन्य गण का द्योतक है जिनके साथ इनका संघ बना हुआ था परन्तु इसके कोई प्रमाण हमें नहीं मिलते। दूसरे राजन तथा महाराजन शायद यवनों के प्रभाव के कारण हो सकता है जिनमें सिक्कों पर बैसीलियस बैसीलियोन या महरजस रजतिरजस इक्ट्ठा लिखा मिलता है। तो इस तरह हम देखते हैं कि प्रथम शताब्दी ई. पूर्व में जब इनका स्वतन्त्र शासन हुआ उस समय इन्होंने इस तरह के चुने हुए राजतन्त्र प्रणाली को अपनाया। दूसरी ओर बहुत से विद्यवान अमोघभूति को एक विरुद्ध (title) मानते हैं तथा उनका कहना है कि ये किसी अमोघभूति नामक राजा ने नहीं चलाए बल्कि एक लम्बे समय तक केवल विरुद्ध के नाम से ही चलाए गए। दूसरे प्रकार के सिक्के (छत्रेश्वर प्रकार) कुणिन्दों ने प्रथम शताब्दी में चलाए उस समय भारत पर शकों तथा कुषाणों का शासन था तथा बहुत से गणराज्य इनका मुकाबला न कर सके या तो इन्होने इन विदेशी ताकतों की आधीनता स्वीकार कर ली या अपना क्षेत्र छोड़ पहाड़ों में सुरक्षित स्थानों पर चले गए जैसे यौधेय अपना क्षेत्र छोड़ कुणिन्दों के समीपवर्ती क्षेत्र में जा बसे। इस काल के गणराज्यों की विशेष बात यह है कि इस काल में इन्होंने अपने राज्य अपने ईष्अ देवता को अर्पित कर दिए थे तथा उन्ही के नाम पर शासन कर रहे थे। यौधेय, कुणिन्द, औयुम्बर इत्यादि राज्यों के सिक्कों पर लेख इसी तरह की किसी व्यवस्था का द्योतक है।

प्रो. अलतेकर का विचार है कि कुषाणों के विरुद्ध यौधेयों, कुणिन्दों, आर्जुनायनों इत्यादि ने एक संघ बना रखा था परन्तु इस के प्रमाण हमें प्राप्त नहीं होते केवल यौधेय सिक्कों पर द्वि तथा त्रि से दूसरे तथा तीसरे संघ सदस्य कुणिन्द या आर्जुनायनों को हम नहीं मान सकते क्योंकि कोई भी राज्य संघ में अपना अस्तित्व नहीं खोना चाहता। यदि ऐसा होता तो इनका भी नाम होता केवल द्वि या त्रि नहीं। परन्तु समुद्रगुप्त के इलाहाबाद अभिलेख में जिन गणराज्य का वर्णन है उनमें कुणिन्दों का नाम नहीं है। इससे पता चलता है कि प्रथम शताब्दी तथा चतुर्थ शताब्दी के बीच कुणिन्दों ने अपना राजनैतिक अस्तित्व खो दिया। शायद यौधेयों ने इन्हे जीत अपने क्षेत्र में मिला लिया।

(b) कुणिन्द

उत्तरपश्चिमी भारत का एक अन्य गणराज्य कुणिन्दों का था जिन्हे साहित्य में कुलिन्द, कौणिन्द, कौलिन्द इत्यादि नामों से भी जाना जाता है। महाभारत में इस गण या कबीले (tribe) के बारे में यदा कदा संदर्भ आते हैं। यहां इन्हे पैशाच, अम्बष्ठ, बर्बर इत्यादि लोगों के साथ रखा है जो पहाड़ी क्षेत्र में रहते थे। रामायण में भी कुणिन्दों के बारे में संदर्भ है। महाम्यूरी में कुलिन्द एक स्थान का नाम दिया गया है जिसका यक्ष उष्ट्रपाद था। शायद यह नाम इस कबीले के करण पड़ा हो। वराहमिहिर की वहत्संहिता में इन्हे उत्तरपूर्व के काश्मीरियों, कुलूतों तथा सीरिन्धरों के साथ रखा है। वायु, ब्रह्माण्ड भागवल तथा मार्कण्डेय इत्यादि पुराणों में भी इनका वर्णन है। टॉलमी (Ptolemy) की पुस्तक ज्याग्रफी में ब्यास, सतलुज, यमुना तथा गंगा के निकलने के पहाड़ी स्थान का नाम कुलिन्द्रेन (Kulindrene) दिया है जिसे हमें कुलिन्द या कुणिन्दों से सम्बन्धित मान सकते हैं। महाभारत में भी इन्हें पर्वतवासी माना है। इसी तरह वाग्भट्ट के ग्रन्थ काव्यानुशासन में भी कुलिन्द नामक पर्वत का संदर्भ है जिसे कुणिन्दों के क्षेत्र में होन के कारण नाम दिया गया हो। कुणिन्दों के पर्वतीय क्षेत्र के होने का प्रमाण इनके सिक्कों की प्राप्ति के स्थानों से भी मिलता है। कनिंघन के अनुसार कुणिन्द सतलुजके पहाड़ी क्षेत्र में रहते थे परन्तु एलन महोदय का कहना है कि कुणिन्द शिवालिक पवर्तों में यमुना तथा सतलुज के बीच ब्यास एवं सतलुज के उपरी भाग में रहते थे। इनके सिक्के गणवाल, हिमाचल में ज्वालामुखी, स्तपामेवा क्षेत्र, पंजाब में रोपड़, सुनेत संघोल, हरियाणा में करनाल, सुघ (यमुना नगर) इत्यादि क्षेत्र में मिलते हैं। रोपड़ के उत्खनन में इनके सिक्के उन स्तहों से प्राप्त हुए हैं जिनकी तिथि 100 ई. पूर्व से 100 ई. के मध्य है। सिक्कों पर मिले लेखों से भी हमें इसी प्रकार के प्रमाण मिलते हैं।

सिक्के :- प्राचीन गणराज्यों में कुणिन्द गणराज्य ही अकेला ऐसा राज्य है जिन्होंने काफी मात्रा में चान्दी के सिक्के चलाए। यह उनकी समद्ध आर्थिक स्थिति का द्योतक है। इनका क्षेत्र पहाड़ी तथा मैदानी क्षेत्रों के बीच का था जिससे इन्हे व्यापार में काफी लाभ

रहता होगा। मैदानों के अनाज को वे पहाड़ी क्षेत्रों में भेजते थे तथा पहाड़ों की वस्तु मैदानों में विनिमय करते थे। इसी कारण उन्हे ताम्बे के सिक्कों (जो स्थानीय व्यापार के लिए प्रयुक्त होते थे) के अतिरिक्त दूरदराज के क्षेत्रों में व्यापार के लिए चान्दी के सिक्कों की जरुरत पड़ी ये सिक्के अर्द्ध डैकम (Drachm) भार के थे तथा रेशम व्यापार प्रमुख केन्ह तक्षशिला (Taxila) से भी प्राप्त हुए हैं।

इनके सिक्के दो भागों में बांटे गए हैं प्रथम चान्दी तथा ताम्बे के हैं जिन पर अग्रभाग पर लक्ष्मी, हिरण तथा अन्य चिन्हों के साथ ब्राह्मी लेख रा कुणिन्दस अमोघभूतिस महाराज लिखा है जबकि पष्ठ भाग पर चिन्ह तथा खोष्ठी (Khrosthi) लेख जो कि अग्र भाग के लेख के समान है। खोष्ठी का प्रयोग इस बात का द्योतक है कि उत्तरपश्चिमी भारत में, जहां इसका प्रयोग होता था, कुणिन्दों के सिक्के व्यापार में चलते थे। दूसरे प्रकार के सिक्के ताम्बे के हैं जिन पर अग्रभाग पर इनके ईष्ट देव शिव (क्षेत्रश्वर) को दिखाया गया है तथा लेख ब्राह्मी में है जो भागवत् क्षेत्रश्वर महात्मनः है। पष्ठ भाग पर केवल कुछ चिन्ह है। यं सिक्के उन्होने उस समय चलाए जब वे अपना राज्य उपने देव को समर्पित कर शासन कर रहे थे। इसी तरह के प्रमाण अन्य गणराज्यों में भी इस काल में मिलते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि एक प्रकार में तो कुणिन्द नाम मिलता है तथा दूसरे में नहीं।

शासन प्रणाली :- प्राचीन काल के गणराज्यों के समान कुणिन्दों का शासन भी गणतन्त्रात्मक ही था। जिसमें सैकड़ों ही कुल थे। महाभारत में कुणिन्दों को कुणिन्दशत सन्कुलम कहा गया है। इस से इस बात का अन्दाजा लगाया जा सकता है कि इन सैकड़ों कुल मिल कर एक संघ बनाया था। इस प्रकार के संविधान में इन कुलों के प्रतिनिधियों की एक सभा होती थी जो अपना एक मुखिया चुनती थी। जिसे राजा कहा जाता था कुणिन्दों के एक ऐसे राजा अमोघभूति के सिक्के हमें प्राप्त होते हैं जिन पर राजनः कुणिन्दस अमोघभुतिस महाराज लिखा है जिसका अर्थ है कि यह सिक्का महाराज अमोघभूति का है जो कुणिन्दों का राजा है। परन्तु परमेश्वरी लाल गुप्त राजा तथा महाराजा इक्ट्ठे लिखने को गलत मानते हैं उनके अनुसार राजानः शायद राजन्य गण का द्योतक है जिनके साथ इनका संघ बना हुआ था परन्तु इसके कोई प्रमाण हमें नहीं मिलते। दूसरे राजन तथा महाराजन शायद यवनों के प्रभाव के कारण हो सकता है जिनमें सिक्कों पर बैसीलियस बैसीलियोन या महरजस रजतिरजस इक्ट्ठा लिखा मिलता है। तो इस तरह हम देखते हैं कि प्रथम शताब्दी ई. पूर्व में जब इनका स्वतन्त्र शासन हुआ उस समय इन्होंने इस तरह के चुने हुए राजतन्त्र प्रणाली को अपनाया। दूसरी ओर बहुत से विद्यवान अमोघभूति को एक विरुद्ध (title) मानते हैं तथा उनका कहना है कि ये किसी अमोघभूति नामक राजा ने नहीं चलाए बल्कि एक लम्बे समय तक केवल विरुद्ध के नाम से ही चलाए गए। दूसरे प्रकार के सिक्के (छत्रेश्वर प्रकार) कुणिन्दों ने प्रथम शताब्दी में चलाए उस समय भारत पर शकों तथा कुषाणों का शासन था तथा बहुत से गणराज्य इनका मुकाबला न कर सके या तो इन्होने इन विदेशी ताकतों की आधीनता स्वीकार कर ली या अपना क्षेत्र छोड़ पहाड़ों में सुरक्षित स्थानों पर चले गए जैसे यौधेय अपना क्षेत्र छोड़ कुणिन्दों के समीपवर्ती क्षेत्र में जा बसे। इस काल के गणराज्यों की विशेष बात यह है कि इस काल में इन्होंने अपने राज्य अपने ईष्अ देवता को अर्पित कर दिए थे तथा उन्ही के नाम पर शासन कर रहे थे। यौधेय, कुणिन्द, औयुम्बर इत्यादि राज्यों के सिक्कों पर लेख इसी तरह की किसी व्यवस्था का द्योतक है।

प्रो. अलतेकर का विचार है कि कुषाणों के विरुद्ध यौधेयों, कुणिन्दों, आर्जुनायनों इत्यादि ने एक संघ बना रखा था परन्तु इस के प्रमाण हमें प्राप्त नहीं होते केवल यौधेय सिक्कों पर द्वि तथा त्रि से दूसरे तथा तीसरे संघ सदस्य कुणिन्द या आर्जुनायनों को हम नहीं मान सकते क्योंकि कोई भी राज्य संघ में अपना अस्तित्व नहीं खोना चाहता। यदि ऐसा होता तो इनका भी नाम होता केवल द्वि या त्रि नहीं। परन्तु समुद्रगुप्त के इलाहाबाद अभिलेख में जिन गणराज्य का वर्णन है उनमें कुणिन्दों का नाम नहीं है। इससे पता चलता है कि प्रथम शताब्दी तथा चतुर्थ शताब्दी के बीच कुणिन्दों ने अपना राजनैतिक अस्तित्व खो दिया। शायद यौधेयों ने इन्हे जीत अपने क्षेत्र में मिला लिया।

(c) औदुम्बर

औदुम्बर भी उत्तरपश्चिम भारत का एक महत्त्वपूर्ण गणराज्य था जिन्हे औदुम्बर या उदुम्बर भी कहा जाता है। इनके सिक्के अधिकतर पठानकोठ कांगडा इत्यादि क्षेत्रों में प्राप्त हुए हैं जिनके आधार पर एलन ने इनका क्षेत्र ब्यास नदी की घाटी तथा शायद सतलुज तथा रावी इत्यादि के बीच माना है।

प्राचीनता :- औदुम्बरों के सर्वप्रथम संदर्भ हमें पाणिनी के गणपाठ में पांचवी सदी ई. पूर्व के हैं जहां इन्हे राजय के समुह में रखा गया है। इसके अतिरिक्त पतंजलि के महाभाष्य, महाभारत, हरीवंश, वायु पुराण, ब्रह्माण्ड पुराण, यार्कंडेय पुराण, वराहमिहिर की वहत्संहिता इत्यादि में भी इनका वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त चन्द्रगोघिंन की चन्द्रव्याकरण, काशिका, सरस्वती कंठभरण वैजयनती तथा गुणरत्नमहोदोधि इत्यादि में भी इनके वर्णन मिलते हैं। प्लिनी ने इनका नाम ओदोम्ब्यिोरिस (व्कवउइमवतमे) लिखा

है। जबकि विनय पिटक तथा महाम्यूरी में औदुम्बर गण या लोगों का तो संदर्भ नहीं अपितु एक स्थान उदुम्बर का वर्णन है। शायद यह नाम इस कबीले के कारण ही पड़ा हो। उपरलिखित साक्ष्यों से हमें इस गणराज्य के होने के प्रमाण 5वीं सदी ई. पूर्व से तो अश्वय मिलने शुरू होते हैं तथा 5वीं सदी के ग्रन्थ चन्द्रव्याकरण में मिलते हैं। इस प्रकार इनका एक हजार वर्ष का इतिहास हमें ज्ञात है। डा. कल्याण कुमार दास गुप्ता तो इन्हे आठवीं सदी ई. पूर्व के शतपथ ब्राह्मण में वर्णित शाल्वों की एक शाखा मानते हैं।

नाम :- औदुम्बर या उदुम्बर नाम प्राकृत में इनके सिक्कों पर आदुबरिस मिलता है। औयुम्बर का अर्थ है अंजीर (fig)। इसका अर्थ हुआ या तो इनका अंजीर के पेड़ से किसी प्रकार का सम्बन्ध है या ये उस क्षेत्र के रहने वाले हैं जहां अंजीर का पेड़ होता है। इनका यह सम्बन्ध मुद्राशास्त्र के साक्ष्यों से भी प्रमाणित होता है क्योंकि इनके सिक्कों पर पेड़ (Tree-in-railing) का चित्रण है जिसे कुछ विद्यवान अंजीर का ही पेड़ मानते हैं। दूसरे इनके सिक्के कांगड़ा में नूरपुर के आसपास प्राप्त हुए हैं जहां अंजीर के पेड़ पाए जाते हैं। इसी प्रकार औदुम्बरों का ईष्ट देवता विश्वामित्र था जिनका चित्रण इनके सिक्कों पर मिलता है। विश्वामित्र का भी अंजीर के पेड़ से सम्बन्ध था क्योंकि कालिका पुराण तथा महाभारत के अनुसार विश्वसमित्र की माता ने सन्तान प्राप्ति के लिए औयुम्बर वक्ष का आलिंगन किया था तब जाकर विश्वामित्र का जन्म हुआ। हरिवंश में औदुम्बरों को विश्वामित्र के परिवार से सम्बन्धित बताया है। पुराणों के अनुसार औदुम्बरों का गोत्र कुशिक या कौशिक है। ऋग्वेद में भी विश्वामित्र को कुशिक का पुत्र बताया गया है। यद्यपि औदुम्बरों के संदर्भ हमें पांचवी सदी ईसा पूर्व से तो अवश्य मिलने शुरू हो जाते हैं परन्तु इनके स्वतन्त्र राज्य का पता हमें इन द्वारा चलाए गए सिक्कों से चलता है। इनके प्राचीनत्तम सिक्के हिन्द युनानी शासको विशेषकर अपोलोडोरस से मिलते जुलते हैं। प्रकार तथा इन पर लेख के अक्षरों की बनावट के आधार पर हम इन्हे द्वितीय सदी ई. पूर्व रखते हैं। ये सिक्के जो कि लम्बे के चकोर हैं। इन पर अग्रीभाग पर पेड़, हाथी का अगला भाग मिलता है तथा खरोष्ठी में लेख के आधार पर ये शिवदास, रूद्रदास, धरघोष तथा महादेव नामक राजाओं के है। इनके पष्ठ भाग पर दो मंजिला डोम (dome) वाला मन्दिर, जिसके सामने त्रिशुल गड़ा है, मिलता है तथा ब्राह्मी के लेख में राजा का नाम मिलता है जैसे शिवदास रूद्रदास धरघोष तथा महादेव इत्यादि। इनके दूसरे प्रकार के सिक्के प्रथम शताब्दी ई. पूर्व से प्रथम शताब्दी के आसपास के हैं जिनके अग्रभाग पर विश्वामित्र खड़ा दिखाया गया है खोष्ठी लेख के साथ विश्यामित्र लिखा है। इन सिक्कों पर दो राजाओं का नाम है धरघोष तथा महादेव। पष्ठ भाग पर त्रिशुल वाला परशु, वक्ष तथा ब्राह्मी में लेख है। इसके अतिरिक्त कुछ विद्यवानों ने कनिन्धम के विवरण के आधार पर ताम्बे के गोल सिक्कों, जिन पर मित्र अन्त वाले राजाओं के नाम है, को भी औदुम्बर सिक्के मान लिया था। परन्तु इन सिक्कों पर तो न तो औदुम्बर नाम है तथा न ही औदुम्बर सिक्कों वाले चिन्ह हैं। इसके अतिरिक्त ये अलग क्षेत्र में मिलते हैं। इस कारण विद्यवान इन्हे औदुम्बरों से नहीं बल्कि पंजाब के मित्र वंश से सम्बन्धित मानते हैं। **राजनैतिक इतिहास :-** औदुम्बरों के राजनैतिक इतिहास के बहुत कम विवरण मिलते हैं। प्रजिलुस्की (Prazyluski) के अनुसार औदुम्बरों को आर्य आक्रमण का समना करना पड़ा तथा इस कारण इनके कई भाग हो गए। इसका प्रमाण हमें महाभारत (जहां इन्हे पंजाव का एक कबीला बताया गया है) महाम्यूरी, मार्कंडेय पुराण तथा बहत्संहिता (जहां इनकी दक्षिण औदुम्बर शाखा का वर्णन है,) इत्यादि से मिलता है परन्तु पांचवी शताब्दी ईसा पूर्व में पाणिनी के प्रमाणों से हमें इनका वास्तविक इतिहास पता चलता है। लेकिन राजनैतिक रुप से इनकी स्वतन्त्रता द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व से मानी जा सकती है जब इन्होने स्वतन्त्रता घोषित कर अपने सिक्के चलाए। प्रथम सदी ई. पूर्व में भी इनकी स्वतन्त्रता का पता चलता है परन्तु तारन (Tarn) महोदय का विचार है कि ये हिन्द युनानियों के आधीन भी रहे। परन्तु हमें इस बात के कोई प्रमाण नहीं मिलते।

शासन पद्दति :- इनकी शासन पद्दति के बारे में भी ठीक ठीक कुछ नहीं कहा जा सकता। जयसवाल का विचार है कि इस राज्य का संविधान गणतन्त्रात्मक था तथा उनका चुना हुआ राजा हुआ करता था। इनके सिक्कों पर कई राजाओं के नाम है। महादेवस रा शिवदासस औदुम्बरिस का अर्थ कुछ विद्यवान राजा शिवदास, जो कि औदुम्बर था तथा शिव का भक्त था मानते हैं। परमेश्वरी लाल गुप्त के अनुसार ये सिक्के महादेव शिव, उनके राजा शिवदास (या कोई अन्य) तथा औदुम्बर कबीले के हैं। उनके अनुसार औदुम्बरों ने भी इस काल में अपने पड़ोसियों की तरह ही धर्म पर आधारित (Theocratic) शासन प्रणाली अपनाई हुई थी। इसी तरह इनके दूसरी प्रकार के सिक्कों पर इनके ईष्ट देवता विश्वामित्र का चित्रण है। जो यह दर्शाता है कि ये अपने ईष्ट देवता के नाम पर राज्य का संचालन कर रहे थे।